प्रथमावृत्ति : श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारोठ (राजस्थान)
१००० प्रतियाँ, वि० सं० २००६

द्वितीयावृत्ति : श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (गुजरात)
२२०० प्रतियाँ, वि० सं० २०२१

तृतीयावृत्ति : श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर
२१०० प्रतियाँ, महावीर जयन्ती, वि० सं० २०३२

मूल्य १२ रु० : [लागत का ७५%]

इस ग्रन्थ का मूल्य कम करने हेतु प्राप्त हुई आर्थिक सहायता :-

२५०१) श्री मित्रसेनजी, दिल्ली
१२५) श्रीमती धापुबाई जैन, इन्दौर
१०१) श्री कहान मित्र मण्डल, भावनगर
१००) श्री मिश्रीलालजी पाटनी, इन्दौर

प्राप्ति-स्थान : (१) श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ ३६४२५० (सौराष्ट्र-गुजरात)

(२) पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

मुद्रक : जयपुर प्रिण्टर्स
मिर्जा इस्माइल रोड
जयपुर (राजस्थान)



पू० श्री कानजी स्वामी 'प्रवचनसार' का स्वाध्याय करते हुए :
पास में श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक आदि शास्त्र रखे हैं।

प्रकाशकीय

[तृतीयावृत्ति]

यह प्रसन्नताका प्रसंग है कि भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य विरचित प्रवचनसार शास्त्रका यह तृतीय संस्करण प्रकाशित हो रहा है।

इसकी प्रथमावृत्ति श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारोठ द्वारा वि० सं० २००६ में तथा द्वितीयावृत्ति वि० सं० २०२१ में श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा प्रकाशित हुई है। पू० गुरुदेव श्री कानजी स्वामीने इस शास्त्र पर कई बार प्रवचन किए और शास्त्रके गहन विषयको जनसुलभ किया। पू० स्वामीजीके प्रभावना उदयसे इस शास्त्रकी मांग बढ़ती रही—फलस्वरूप यह तृतीय संस्करण आपके सम्मुख प्रस्तुत है।

पू० स्वामीजीकी प्रेरणा से विद्वान पं० हिंमतलाल जेठालाल शाहने इस शास्त्रकी श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवकृत 'तत्त्वप्रदीपिका' टीकाका गुजराती अनुवाद किया था। उसीका यह हिन्दी अनुवाद पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थने किया है। अतः समग्र जैन समाज पर उक्त विद्वानोंका अतीव उपकार है। ट्रस्टकी ओरसे हम उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ने इस शास्त्रको छपानेकी अनुमति दी तथा लागत मूल्यसे कममें वेचनेका व और कई प्रकारका सहयोग दिया, इसके लिए हम ट्रस्टके अत्यन्त आभारी हैं।

मुमुक्षुगण इस ग्रन्थका अधिक लाभ ले सकें, इस हेतु लागत मूल्य में २५% कमी की गई है। दाताओं की ओरसे जो रकमें मूल्य कम करने के लिए आई हैं, उनकी नामावली मुखपृष्ठके पीछे दी गई है। हम उन सबके अत्यन्त आभारी हैं।

श्री खीमचन्द जेठालाल शेठने अपने शास्त्र-प्रकाशनके अनुभवसे सुझाव दिये हैं। डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्लसे ग्रन्थ-प्रकाशनमें समय-समय पर मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है। श्री जतीशजी भाई व श्री मगनलालजीने प्रेस मैटर तैयार करनेमें खास श्रम उठाया है। पं० भंवरलालजी पोल्याका, जयपुरने प्रूफ-संशोधनका गुरुतर दायित्व लगनसे वहन किया है। जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुरके श्री सोहनलालजी जैनने इस ग्रंथका सुन्दर ढंगसे मुद्रण कार्य सम्पन्न किया है। उपरोक्त सभी महानुभावों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करना हम हमारा पुनीत कर्त्तव्य मानते हैं।

विनीत

भावनगर,
महावीर जयन्ती, वि० सं० २०३२

ट्रस्टीगण,
श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट



।। श्री वीतरागायनमः ।।

उपोद्घात

[गुजराती प्रथम संस्करण का हिन्दी अनुवाद]

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत यह प्रवचनसार नामक शास्त्र 'द्वितीय श्रुतस्कंध' के सर्वोत्कृष्ट आगमोंमें से एक है।

द्वितीय श्रुतस्कंधकी उत्पत्ति कैसे हुई यह पट्टावलियोंके आधारसे संक्षेपमें हम सब विचार करें :-

आजसे २४७४ वर्ष पूर्व इस भरतक्षेत्रकी पुण्य भूमिमें जगत्पूज्य परम भट्टारक भगवान महावीरस्वामी मोक्षमार्गका प्रकाश करनेके लिये समस्त पदार्थोंका स्वरूप अपनी सातिशय दिव्यध्वनि के द्वारा प्रगट करते थे। उनके निर्वाणके बाद पांच श्रुतकेवली हुये, जिनमेंसे अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु थे। वहां तक तो द्वादशांग शास्त्रकी प्ररूपणासे निश्चय-व्यवहारात्मक मोक्षमार्ग यथार्थरूपमें प्रवर्तित रहा। तत्पश्चात् काल दोषसे क्रमशः अंगोंके ज्ञानकी व्युच्छित्ति होती गई और इस प्रकार अपार ज्ञानसिंधुका बहुभाग विच्छिन्न होनेके बाद दूसरे भद्रबाहुस्वामी-आचार्यकी परिपाटी (परम्परा) में दो समर्थ मुनि हुये। उनमेंसे एकका नाम श्रीधरसेनाचार्य और दूसरेका श्री गुणधराचार्य था। उनसे प्राप्त ज्ञानके द्वारा उनकी परम्परामें होनेवाले आचार्योंने शास्त्रोंकी रचना की और वीर भगवानके उपदेश का प्रवाह चालू रखा।

श्रीधरसेनाचार्यको अग्रायणीपूर्वके पंचम वस्तुअधिकारके महाकर्म प्रकृति नामक चौथे प्राभृतका ज्ञान था। उस ज्ञानामृतमेंसे क्रमशः उनके बादके आचार्यो द्वारा षट्खण्डागम, धवल, महाधवल, जयधवल, गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार आदि शास्त्रोंकी रचना हुई। इसप्रकार प्रथम श्रुतस्कंध की उत्पत्ति हुई। उसमें जीव और कर्मके संयोगसे होनेवाली आत्माकी संसार पर्यायका, — गुणस्थान, मार्गणा आदिका — वर्णन है, पर्यायार्थिक नयको प्रधान करके कथन है। इस नयको अशुद्ध द्रव्यार्थिक भी कहते हैं, और अध्यात्म भाषामें अशुद्ध निश्चयनय अथवा व्यवहार कहते हैं।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित अनेक शास्त्र हैं, जिनमें से थोड़े से वर्तमानमें विद्यमान हैं। त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेवके मुखसे प्रवाहित श्रुतामृतकी सरितामेंसे भर लिये गये अमृतभाजन वर्तमान में भी अनेक आत्मार्थियोंको आत्मजीवन प्रदान करते हैं। उनके समयसार, पंचास्तिकाय और प्रवचनसार नामक तीन उत्तमोत्तम शास्त्र 'नाटक त्रय' अथवा 'प्राभृत त्रय' कहलाते हैं। इन तीन परमागमोंमें हजारों शास्त्रोंका सार आजाता है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यके वाद लिखे गये अनेक ग्रंथों के वीज इन तीन परमागमोंमें विद्यमान हैं, – ऐसा सूक्ष्म दृष्टिसे अभ्यास करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है। श्री समयसार इस भरतक्षेत्रका सर्वोत्कृष्ट परमागम है। उसमें नवतत्वोंका शुद्धनयकी दृष्टि से निरूपण करके जीवका शुद्ध स्वरूप सर्व प्रकार से – आगम, युक्ति, अनुभव और परम्परासे – अति विस्तारपूर्वक समझाया है। पंचास्तिकायमें छह द्रव्यों और नव तत्वोंका स्वरूप संक्षेपमें कहा गया है। प्रवचनसारमें उसके नामानुसार जिन प्रवचनका सार संगृहीत किया गया है। जैसे समयसारमें मुख्यतया दर्शनप्रधान निरूपण है उसीप्रकार प्रवचनसारमें मुख्यतया ज्ञानप्रधान कथन है।

श्री प्रवचनसारके प्रारम्भमें ही शास्त्रकर्ताने वीतरागचारित्रके लिए अपनी तीव्र आकांक्षा व्यक्त की है। वारम्वार भीतर ही भीतर (अंतरमें) डुवकी लगाते हुए आचार्यदेव निरन्तर भीतर ही समाये रहना चाहते हैं। किन्तु जव तक उस दशाको नहीं पहुँचा जाता तव तक अंतर अनुभवसे छूटकर वारम्वार वाहर भी आना हो जाता है। इस दशामें जिन अमूल्य वचन मौक्तिकोंकी माला गुँथ गई वह यह प्रवचनसार परमागम है। सम्पूर्ण परमागममें वीतराग चारित्रकी तीव्राकांक्षाकी मुख्यध्वनि गूंज रही है।

ऐसे इस परम पवित्र शास्त्रके मध्य तीन श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्धका नाम ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन है। अनादिकालसे परोन्मुख जीवोंको कभी ऐसी श्रद्धा नहीं हुई कि 'मैं ज्ञानस्वभाव हूँ और मेरा सुख मुझमें ही है'। इसीलिए उसकी परमुखापेक्षी-परोन्मुखवृत्ति कभी नहीं टलती। ऐसे दीन दुखी जीवों पर आचार्यदेवने करुणा करके इस अधिकारमें जीवका ज्ञानानन्दस्वभाव विस्तारपूर्वक समझाया है; उसीप्रकार केवलीके ज्ञान और सुख प्राप्त करनेकी प्रचुर उत्कृष्ट भावना वहाई है। "क्षायिक ज्ञान ही उपादेय है, क्षायोपशमिकज्ञानवाले तो कर्मभारको ही भोगते हैं; प्रत्यक्षज्ञान ही ऐकान्तिक सुख है, परोक्षज्ञान तो अत्यन्त आकुल है; केवलीका अतींद्रिय सुख ही सुख है, इंद्रियजनित सुख तो दुःख ही है; सिद्ध भगवान स्वयमेव ज्ञान, सुख और देव हैं, घातिकर्म रहित भगवानका सुख सुनकर भी जिन्हें उनके प्रति श्रद्धा नहीं होती वे अभव्य (दूरभव्य) हैं" यों अनेकानेक प्रकारसे आचार्यदेवने केवलज्ञान और अतींद्रिय, परिपूर्ण सुखके लिये पुकार की है। केवलीके ज्ञान और आनन्दके लिए आचार्यदेवने ऐसी भाव भरी धुन मचाई है कि जिसे सुनकर – पढ़कर सहज ही ऐसा लगने लगता है कि विदेहवासी सीमंधर भगवानके निकटसे, केवली भगवन्तोंके झुण्डमेंसे भरतक्षेत्रमें आकर तत्काल ही कदाचित् आचार्यदेवने यह अधिकार रचकर अपनी हृदयोर्मियाँ व्यक्त की हों इस प्रकार ज्ञान और सुखका अनुपम निरूपण करके इस अधिकारमें आचार्यदेवने मुमुक्षुओंको अतींद्रिय ज्ञान और सुखकी रुचि तथा श्रद्धा कराई है, और अन्तिम गाथाओंमें मोह-राग-द्वेपको निर्मूल करनेका जिनोक्त यथार्थ उपाय संक्षेपमें वताया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्धका नाम ज्ञेयतत्व-प्रज्ञापन है। अनादिकालसे परिभ्रमण करता हुआ जीव सब कुछ कर चुका है, किन्तु उसने स्व-परका भेद विज्ञान कभी नहीं किया। उसे कभी ऐसी सानुभव श्रद्धा

शास्त्रमें नहीं है। हृदयमें भरे हुए अनुभवामृतमें ओतप्रोत होकर निकलती हुई दोनों आचार्यों देवोंकी वाणीमें कोई ऐसा चमत्कार है कि वह जिस जिस विषयको स्पर्श करती है उस उस विषय को परम रसमय, शीतल-शीतल और सुधास्यंदी वना देती है।

इसप्रकार तीन श्रुतस्कन्धोंमें विभाजित यह परम पवित्र परमागम मुमुक्षुओंको यथार्थ वस्तु-स्वरूपके समझनेमें महानिमित्तभूत है। इस शास्त्रमें जिनशासनके अनेक मुख्य मुख्य सिद्धान्तों के बीज विद्यमान हैं। इस शास्त्रमें प्रत्येक पदार्थकी स्वतन्त्रताकी घोषणा की गई है तथा दिव्यध्वनिके द्वारा विनिर्गत अनेक प्रयोजनभूत सिद्धान्तोंका दोहन है।

परमपूज्य कानजी स्वामी अनेकवार कहते हैं कि – "श्री समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि शास्त्रोंकी गाथा-गाथामें दिव्यध्वनिका संदेश है। इन गाथाओंमें इतनी अपार गहराई है कि उसका माप करनेमें अपनी ही शक्तिका माप होजाता है। यह सागर गम्भीर शास्त्रोंके रचयिता परमकृपालु आचार्यदेवका कोई परम अलौकिक सामर्थ्य है। परम अद्भुत सातिशय अन्तर्वाह्य योगोंके विना इन शास्त्रोंका रचा जाना शक्य नहीं है। इन शास्त्रोंकी वाणी तैरते हुए पुरुषकी वाणी है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। इसकी प्रत्येक गाथा छट्ठे-सातवें गुणस्थानमें झूलते हुए महामुनिके आत्मानुभव से निकली हुई है। इन शास्त्रोंके कर्ता भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव महाविदेह क्षेत्र में सर्वज्ञ वीतराग श्री सीमंधर भगवानके समवसरणमें गये थे, और वहां वे आठ दिन रहे थे, यह वात यथातथ्य है, अक्षरश: सत्य है, प्रमाणसिद्ध है। उन परमोपकारी आचार्यदेवके द्वारा रचित समयसार, प्रवचनसार आदि शास्त्रों में तीर्थंकर देवकी ॐकारध्वनिमेंसे ही निकला हुआ उपदेश है।"

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यकृत इस शास्त्रकी प्राकृत गाथाओंकी 'तत्त्वदीपिका' नामक संस्कृत टीका श्री अमृतचन्द्राचार्य (जो कि लगभग विक्रम संवत् की १०वीं शताव्दीमें होगये हैं) ने रची है। जैसे इस शास्त्रके मूलकर्ता अलौकिक पुरुष हैं, वैसे ही इसके टीकाकार भी महा समर्थ आचार्य हैं। उन्होंने समयसार तथा पंचास्तिकायकी टीका भी लिखी है और तत्त्वार्थसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि स्वतन्त्र ग्रन्थोंकी भी रचना की है। उन जैसी टीकायें अभी तक किसी अन्य जैनशास्त्रकी नहीं हुई है। उनकी टीकाओंके पाठकोंको उनकी अध्यात्मरसिकता, आत्मानुभव, प्रखर विद्वत्ता, वस्तुस्वरूपको न्यायपूर्वक सिद्ध करनेकी असाधारण शक्ति, जिनशासनका अत्यन्त गम्भीर ज्ञान, निश्चय व्यवहारका संधिवद्ध निरूपण करनेकी विरलशक्ति और उत्तम काव्य शक्तिका पूरा पता लग जाता है। गम्भीर रहस्योंको अत्यन्त संक्षेपमें भर देने की उनकी शक्ति विद्वानोंको आश्चर्यचकित कर देती है। उनकी दैवी टीकायें श्रुतकेवलीके वचनों जैसी हैं। जैसे मूल शास्त्रकारके शास्त्र अनुभवयुक्ति आदि समस्त समृद्धियोंसे समृद्ध हैं वैसे ही टीकाकारकी टीकायें भी उन उन सर्व समृद्धियोंसे विभूषित हैं। शासन मान्य भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेवने इस कलिकालमें जगद्गुरु तीर्थंकरदेव जैसा कार्य किया है और श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने मानो कि वे कुन्दकुन्दभगवान्के हृदयमें बैठ गये हों इसप्रकारसे उनके गंभीर आशयोंको यथार्थतया व्यक्त करके उनके गणधर जैसा कार्य किया है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य द्वारा रचित काव्य भी अध्यात्मरस और आत्मानुभवकी मस्तीसे भरपूर है। श्री समयसारकी टीकामें आनेवाले काव्यों (कलशों) ने श्री पद्मप्रभदेव जैसे समर्थ मुनिवरों पर गहरी छाप जमाई है, और आज भी तत्वज्ञान तथा अध्यात्मरससे भरे हुए वे मधुर कलश



ભગવાન શ્રી કુંદકુંદાચાર્યદેવ વનમાં તાડપત્ર ઉપર શાસ્ત્ર લખે છે.



भगवान श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवके

सम्बन्धमें उल्लेख

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः
कुन्द-प्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः ।
यश्चारु-चारण-कराम्बुजचञ्चरीक -
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥

[चन्द्रगिरि पर्वत – शिलालेख]

अर्थ :– कुन्दपुष्पकी प्रभाको धारण करने वाली जिनकी कीर्तिके द्वारा दिशायें विभूषित हुई हैं, जो चारणोंके-चारणऋद्धिधारी महामुनियोंके सुन्दर हस्त-कमलों के भ्रमर थे और जिन पवित्रात्माने भरतक्षेत्रमें श्रुतकी प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किससे वंद्य नहीं हैं ?

......................कौण्डकुन्दो यतीन्द्रः ॥
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्त –
र्बाह्येऽपि संव्यञ्जयितुं यतीशः ।
रजःपदं भूमितलं विहाय
चचार मन्ये चतुरंगुलं सः ॥

[विन्ध्यगिरि – शिलालेख]

अर्थ :– यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्दस्वामी) रजःस्थानको-भूमितलको-छोड़कर चार अंगुल ऊपर आकाशमें गमन करते थे, उसके द्वारा मैं ऐसा समझता हूँ कि वे अन्तरमें तथा बाह्यमें रजसे (अपनी) अत्यन्त अस्पृष्टता व्यक्त करते थे (अंतरमें वे रागादिक मलसे अस्पृष्ट थे और बाह्यमें धूलसे अस्पृष्ट थे।)

अर्थ :- (महाविदेह क्षेत्रके वर्तमान तीर्थंकरदेव) श्री सीमंधर स्वामीसे प्राप्त हुए दिव्यज्ञानके द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथने (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने) बोध न दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्गको कैसे जानते ?

हे कुन्दकुन्दादि आचार्यो ! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधानमें इस पामरको परम उपकारभूत हुये हैं । उसके लिये मैं आपको अत्यंत भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ ।

[श्रीमद् राजचंद्र]

जासके मुखारविंदतें प्रकाश भास वृन्द ।
स्यादवाद जैन वैन इन्दु कुन्दकुन्द से ।।
तासके अभ्यासतें विकास भेदज्ञान होत ।
मूढ सो लखै नहीं कुबुद्धि कुन्दकुन्दसे ।।
देत हैं अशीस शीस नाय इन्द्र चन्द्र जाहि ।
मोह-मार-खंड मारतंड कुन्दकुन्दसे ।।
शुद्धबुद्धिवृद्धिदा प्रसिद्धरिद्धिसिद्धिदा ।
हुए, न हैं, न होंहिगे, मुनिंद कुन्दकुन्दसे ।।

[कविवर वृन्दावनदास]



नमः श्री सिद्धेभ्यः ।

नमोऽनेकान्ताय ।

श्रीमद्‌भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीतः

श्री

प्रवचनसारः



— १ —

ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन

श्रीमदमृतचन्द्रसूरिकृततत्त्वप्रदीपिकावृत्तिः

(मङ्गलाचरणम्)

सर्वव्याप्येकचिद्रूपस्वरूपाय परात्मने ।
स्वोपलब्धिप्रसिद्धाय ज्ञानानन्दात्मने नमः ।। १ ।।

श्रीजयसेनाचार्यकृततात्पर्यवृत्तिः ।

नमः परमचैतन्यस्वात्मोत्थसुखसम्पदे ।
परमागमसाराय सिद्धाय परमेष्ठिने ।।

श्रीमद्‌भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत मूल गाथाओं और श्रीमद्
अमृतचन्द्रसूरिकृत तत्त्वप्रदीपिका नामक टीकाका

हिन्दी भाषानुवाद

[सर्व प्रथम, ग्रंथके प्रारंभमें श्रीमद्‌भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचित प्राकृत गाथाबद्ध श्री प्रवचनसार नामक शास्त्रकी 'तत्त्वप्रदीपिका' नामक संस्कृत टीकाके रचयिता श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव उपरोक्त श्लोकोंके द्वारा मङ्गलाचरण करते हुए ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्माको नमस्कार करते हैं :—]

हेलोल्लुप्तमहामोहतमस्तोमं जयत्यदः ।
प्रकाशयज्जगत्तत्त्वमनेकान्तमयं महः ।। २ ।।
परमानन्दसुधारसपिपासितानां हिताय भव्यानाम् ।
क्रियते प्रकटिततत्त्वा प्रवचनसारस्य वृत्तिरियम् ।। ३ ।।

अथ खलु कश्चिदासन्नसंसारपारावारपारः समुन्मीलितसातिशयविवेकज्योति-

---

अथ प्रवचनसारव्याख्यायां मध्यमरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थायां मुख्यगौणरूपेणान्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वप्ररूपणसमर्थायां च प्रथमत एकोत्तरशतगाथाभिर्ज्ञानाधिकारः, तदनन्तरं त्रयोदशाधिकशतगाथाभिर्दर्शनाधिकारः, ततश्च सप्तनवतिगाथाभिश्चारित्राधिकारश्चेति समुदायेनैकादशाधिकत्रिशतप्रमितसूत्रैः सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररूपेण महाधिकारत्रयं भवति । अथवा टीकाभिप्रायेण तु सम्यग्ज्ञानज्ञेयचारित्राधिकारचूलिकारूपेणाधिकारत्रयम् । तत्राधिकारत्रये प्रथमतस्तावज्ज्ञानाभिधानमहाधिकारमध्ये द्वासप्ततिगाथापर्यन्तं शुद्धोपयोगाधिकारः कथ्यते । तासु द्वासप्ततिगाथासु मध्ये 'एस सुरासुर –' इमां गाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण चतुर्दशगाथापर्यन्तं पीठिका, तदनन्तरं सप्तगाथापर्यन्तं सामान्येन सर्वज्ञसिद्धिः, तदनन्तरं त्रयस्त्रिंशद्गाथापर्यन्तं ज्ञानप्रपञ्चः, ततश्चाष्टादशगाथापर्यन्तं सुखप्रपञ्चश्चेत्यन्तराधिकारचतुष्टयेन शुद्धोपयोगाधिकारो भवति । अथ पञ्चविंशतिगाथापर्यन्तं ज्ञानकण्डिकाचतुष्टयप्रतिपादकनामा द्वितीयोऽधिकारश्चेत्यधिकारद्वयेन, तदनन्तरं स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन चैकोत्तरशतगाथाभिः प्रथममहाधिकारे समुदायपातनिका ज्ञातव्या ।

अर्थ :– सर्वव्यापी (सबका ज्ञाता-दृष्टा) एक चैतन्यरूप (मात्र चैतन्य ही) जिसका स्वरूप है और जो स्वानुभव प्रसिद्ध है (अर्थात् शुद्ध आत्मानुभवसे प्रकृष्टतया सिद्ध है) उस ज्ञानानन्दात्मक (ज्ञान और आनन्दस्वरूप) उत्कृष्ट आत्माको नमस्कार हो ।

[अब अनेकान्तमय ज्ञानकी मंगलके लिये श्लोक द्वारा स्तुति करते हैं :–]

अर्थ :– जो महामोहरूपी अंधकारसमूहको लीलामात्रमें नष्ट करता है और जगतके स्वरूपको प्रकाशित करता है ऐसा अनेकांतमय तेज सदा जयवंत है ।

[अब श्री अमृतचंद्राचार्यदेव श्लोक द्वारा अनेकांतमय जिनप्रवचनके सारभूत इस 'प्रवचनसार' शास्त्रकी टीका करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं –]

अर्थः – परमानन्दरूपी सुधारसके पिपासु भव्य जीवोंके हितार्थ, तत्त्वको (वस्तुस्वरूपको) प्रगट करनेवाली प्रवचनसारकी यह टीका रची जा रही है ।

[इसप्रकार मंगलाचरण और टीका रचनेकी प्रतिज्ञा करके, भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचित प्रवचनसारकी पहली पाँच गाथाओंके प्रारम्भमें श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव इन गाथाओंकी उत्थानिका करते हैं ।]

रस्तमितसमस्तैकान्तवादाविद्याभिनिवेशः पारमेश्वरीमनेकान्तवादविद्यामुपगम्य मुक्तसमस्तपक्षपरिग्रहतयात्यन्तमध्यस्थो भूत्वा सकलपुरुषार्थसारतया नितान्तमात्मनो हिततमां भगवत्पंचपरमेष्ठिप्रसादोपजन्यां परमार्थसत्यां मोक्षलक्ष्मीमक्षयामुपादेयत्वेन निश्चिन्वन् प्रवर्तमानतीर्थनायकपुरःसरान् भगवतः पंचपरमेष्ठिनः प्रणमनवन्दनोपजनितनमस्करणेन संभाव्य सर्वारम्भेण मोक्षमार्गं संप्रतिपद्यमानः प्रतिजानीते –

इदानीं प्रथमपातनिकाभिप्रायेण प्रथमतः पीठिकाव्याख्यानं क्रियते, तत्र पञ्चस्थलानि भवन्ति; तेष्वादौ नमस्कारमुख्यत्वेन गाथापञ्चकं, तदनन्तरं चारित्रसूचनमुख्यत्वेन 'संपज्जइ णिव्वाणं' इति प्रभृति गाथात्रयमथ शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयसूचनमुख्यत्वेन 'जीवो परिणमदि' इत्यादिगाथासूत्रद्वयमथ तत्फलकथनमुख्यतया 'धम्मेण परिणदप्पा' इति प्रभृति सूत्रद्वयम् । अथ शुद्धोपयोगध्यातुः पुरुषस्य प्रोत्साहनार्थं शुद्धोपयोगफलदर्शनार्थं च प्रथमगाथा, शुद्धोपयोगिपुरुषलक्षणकथनेन द्वितीया चेति 'अइसयमादसमुत्थं' इत्यादि गाथाद्वयम् । एवं पीठिकाभिधानप्रथमान्तराधिकारे स्थलपञ्चकेन चतुर्दशगाथाभिस्समुदायपातनिका । तद्यथा –

अथ कश्चिदासन्नभव्यः शिवकुमारनामा स्वसंवित्तिसमुत्पन्नपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतविपरीतचतुर्गतिसंसारदुःखभयभीतः, समुत्पन्नपरमभेदविज्ञानप्रकाशातिशयः, समस्तदुर्नयैकान्तनिराकृतदुराग्रहः, परित्यक्तसमस्तशत्रुमित्रादिपक्षपातेनात्यन्तमध्यस्थो भूत्वा धर्मार्थकामेभ्यः सारभूतामत्यन्तात्महितामविनश्वरां पंचपरमेष्ठिप्रसादोत्पन्नां मुक्तिश्रियमुपादेयत्वेन स्वीकुर्वाणः, श्रीवर्धमानस्वामितीर्थकरपरमदेवप्रमुखान् भगवतः पंचपरमेष्ठिनो द्रव्यभावनमस्काराभ्यां प्रणम्य परमचारित्रमाश्रयामीति प्रतिज्ञां करोति –

अब, जिनके संसार समुद्रका किनारा निकट है, सातिशय (उत्तम) विवेकज्योति प्रगट होगई है (अर्थात् परम भेदविज्ञानका प्रकाश उत्पन्न होगया है) तथा समस्त एकांतवादरूप अविद्याका अभिनिवेश* अस्त होगया है ऐसे कोई (आसन्नभव्य महात्मा-श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य), पारमेश्वरी (परमेश्वर जिनेन्द्रदेवकी) अनेकान्तवादविद्याको प्राप्त करके, समस्त पक्षका परिग्रह (शत्रुमित्रादिका समस्त पक्षपात) त्याग देनेसे अत्यन्त मध्यस्थ होकर, [1]सर्व पुरुषार्थमें सारभूत होनेसे आत्माके लिये अत्यन्त [2]हिततम भगवन्त पंचपरमेष्ठीके [3]प्रसादसे उत्पन्न होने योग्य, परमार्थसत्य (पारमार्थिक रीतिसे सत्य), अक्षय (अविनाशी) मोक्षलक्ष्मीको [4]उपादेयरूपसे निश्चित करते हुए प्रवर्तमान

---

* अभिनिवेश=अभिप्राय; निश्चय; आग्रह । [1] पुरुषार्थ=धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुष-अर्थों में (पुरुष-प्रयोजनों में) मोक्ष ही सारभूत श्रेष्ठ तात्त्विक पुरुष-अर्थ है । [2] हिततम=उत्कृष्ट हितस्वरूप ।
[3] प्रसाद=प्रसन्नता, कृपा । [4] उपादेय=ग्रहण करने योग्य, (मोक्षलक्ष्मी हिततम, सत्यार्थ और अविनाशी होनेसे उपादेय है ।)

अथ सूत्रावतारः –

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं ।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥ १ ॥
सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे ।
समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे ॥ २ ॥

पणमामीत्यादिपदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते–पणमामि प्रणमामि । स कः । कर्ता **एस** एषोऽहं ग्रन्थकरणोद्यतमनाः स्वसंवेदनप्रत्यक्षः । कं । **वड्ढमाणं** अवसमन्ताद्दृद्धं वृद्धं मानं प्रमाणं ज्ञानं यस्य स भवति वर्धमानः, 'अवाप्योरलोपः' इति लक्षणेन भवत्यकारलोपोऽवशब्दस्यात्र, तं रत्नत्रयात्मकप्रवर्तमानधर्मतीर्थोपदेशकं श्रीवर्धमानतीर्थकरपरमदेवम् । क्व प्रणमामि । प्रथमत एव । किंविशिष्टं । **सुरासुरमणुसिंदवंदिदं** त्रिभुवनाराध्यानन्तज्ञानादिगुणाधारपदाधिष्ठितत्वात्तत्पदाभिलाषिभिस्त्रिभुवनाधीशैः सम्यगाराध्यपादारविन्दत्वाच्च सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दितम् । पुनरपि किंविशिष्टं । **धोदघाइकम्ममलं** परमसमाधिसमुत्पन्नरागादिमलरहितपारमार्थिकसुखामृतरूपनिर्मलनीरप्रक्षालितघातिकर्ममलत्वादन्येषां पापमलप्रक्षालनहेतुत्वाच्च धौतघातिकर्ममलम् । पुनश्च किंलक्षणम् । **तित्थं** दृष्टश्रुतानुभूतविषयसुखाभिलाषरूपनीरप्रवेशरहितेन परमसमाधिपोतेनोत्तीर्णसंसारसमुद्रत्वात् अन्येषां तरणोपायभूतत्वाच्च तीर्थम् । पुनश्च किंरूपम् । **धम्मस्स कत्तारं** निरुपरागात्मतत्त्वपरिणतिरूपनिश्चयधर्मस्योपादानकारणत्वात् अन्येषामुत्तमक्षमादिबहुविधधर्मोपदेश-

---

तीर्थके नायक (श्री महावीरस्वामी) पूर्वक भगवंत पंचपरमेष्ठीको [1]प्रणमन और वन्दनसे होनेवाले नमस्कारके द्वारा सन्मान करके सर्वारम्भसे (उद्यमसे) मोक्षमार्गका आश्रय करते हुए प्रतिज्ञा करते हैं ।

अब, यहाँ (भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित) गाथासूत्रोंका अवतरण किया जाता है ।

गाथा १–५

अन्वयार्थ :– [**एषः**] यह मैं [**सुरासुरमनुष्येन्द्रवंदितं**] जो [2]सुरेन्द्रों, [3]असुरेन्द्रों और [4]नरेन्द्रोंसे वन्दित हैं तथा जिन्होंने [**धौतघातिकर्ममलं**] घाति कर्ममलको धो डाला है ऐसे [**तीर्थं**] तीर्थरूप और [**धर्मस्य कर्तारं**] धर्मके कर्ता [**वर्धमानं**] श्री वर्द्धमानस्वामीको [**प्रणमामि**] नमस्कार करता हूँ ।

---

[1] प्रणमन=देहसे नमस्कार करना । वन्दन=वचनसे स्तुति करना । नमस्कारमें प्रणमन और वन्दन दोनोंका समावेश होता है । [2] सुरेन्द्र=ऊर्ध्वलोकवासी देवोंके इन्द्र । [3] अधोसुरेन्द्र=अलोकवासी देवोंके इन्द्र ।
[4] नरेन्द्र=(मध्यलोकवासी) मनुष्योंके अधिपति, राजा ।

सुर – असुर – नरपतिवंद्यने, प्रविनष्ट घातीकर्मने ।
प्रणमन करूं हूँ धर्मकर्त्ता तीर्थ श्रीमहावीरने ॥ १ ॥

ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं ।
वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ।। ३ ।।

एष सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दितं धौतघातिकर्ममलम् ।
प्रणमामि वर्धमानं तीर्थं धर्मस्य कर्तारम् ।। १ ।।
शेषान् पुनस्तीर्थकरान् ससर्वसिद्धान् विशुद्धसद्भावान् ।
श्रमणांश्च ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारान् ।। २ ।।
तांस्तान् सर्वान् समकं समकं प्रत्येकमेव प्रत्येकम् ।
वन्दे च वर्तमानानर्हतो मानुषे क्षेत्रे ।। ३ ।।

कत्वाच्च धर्मस्य कर्तारम् । इति क्रियाकारकसम्बन्धः । एवमन्तिमतीर्थकरनमस्कारमुख्यत्वेन गाथा गता ।।१।। तदनन्तरं प्रणमामि । कान् । सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे शेषतीर्थकरान्, पुनः ससर्वसिद्धान् वृषभादिपार्श्वपर्यन्तान् शुद्धात्मोपलब्धिलक्षणसर्वसिद्धसहितानेतान् सर्वानपि। कथंभूतान् । विसुद्धसब्भावे निर्मलात्मोपलब्धिबलेन विश्लेपिताखिलावरणत्वात्केवलज्ञानदर्शनस्वभावत्वाच्च विशुद्धसद्भावान् । समणे य श्रमणशब्दवाच्यानाचार्योपाध्यायसाधूंश्च । किंलक्षणान् । णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे सर्वविशुद्धद्रव्यगुणपर्यायात्मके चिद्वस्तुनि यासौ रागादिविकल्परहितनिश्चलचित्तवृत्तिस्तदन्तर्भूतेन व्यवहारपञ्चाचारसहकारिकारणोत्पन्नेन निश्चयपञ्चाचारेण परिणतत्वात् सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारोपेतानिति । एवं शेषत्रयोविंशतितीर्थकरनमस्कारमुख्यत्वेन गाथा

[पुनः] और [विशुद्धसद्भावान्] विशुद्ध [1]सत्तावाले [शेषान् तीर्थकरान्] शेष तीर्थकरोंको [ससर्वसिद्धान्] सर्व सिद्धभगवन्तोंके साथ ही, [च] और [ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारान्] ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार युक्त [श्रमणान्] [2]श्रमणोंको नमस्कार करता हूँ ।

[तान् तान् सर्वान्] उन उन सबको [च] तथा [मानुषे क्षेत्रे वर्तमानान्] मनुष्य क्षेत्रमें विद्यमान [अर्हतः] अरहन्तोंको [समकं समकं] साथ ही साथ – समुदायरूपसे और [प्रत्येकं एव प्रत्येकं] प्रत्येक प्रत्येकको – व्यक्तिगत [वंदे] वन्दना करता हूँ ।

---

[1] सत्ता=अस्तित्व । [2] श्रमण=आचार्य उपाध्याय और साधु ।

वळी शेष तीर्थंकर अने सौ सिद्ध शुद्धास्तित्वने ।
मुनि ज्ञान दृग – चारित्र – तप – वीर्याचरण संयुक्तने ।। २ ।।
ते सर्वने साथे तथा प्रत्येकने प्रत्येकने ।
वंदुं वळी हुं मनुष्य क्षेत्रे वर्तता अर्हंतने ।। ३ ।।

तदनु विशुद्धसद्भावत्वादुपात्तपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयशुद्धदर्शनज्ञानस्वभावान् शेषानतीततीर्थनायकान्, सर्वान् सिद्धांश्च, ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारयुक्तत्वात्संभावितपरमशुद्धोपयोगभूमिकानाचार्योपाध्यायसाधुत्वविशिष्टान् श्रमणांश्च प्रणमामि ॥ २ ॥ तदन्वेतानेव पंचपरमेष्ठिनस्तत्तद्व्यक्तिव्यापिनः सर्वानेव सांप्रतमेतत्क्षेत्रसंभवतीर्थकरासंभवान्महाविदेहभूमिसंभवत्वे सति मनुष्यक्षेत्रप्रवर्तिभिस्तीर्थनायकैः सह वर्तमानकालं गोचरीकृत्य युगपद्युगपत्प्रत्येकं प्रत्येकं च मोक्षलक्ष्मीस्वयंवरायमाणपरमनैर्ग्रन्थ्यदीक्षाक्षणोचितमंगलाचारभूतकृतिकर्मशास्त्रोपदिष्टवंदनाभिधानेन सम्भावयामि ॥३॥ अथैवमर्हत्सिद्धाचार्योपा-

---

गता ॥२॥ अथ ते ते सव्वे तांस्तान्पूर्वोक्तानेव पञ्चपरमेष्ठिनः सर्वान् वंदामि य वन्दे, अहं कर्ता । कथं । समगं समगं समुदायवन्दनापेक्षया युगपद्युगपत् । पुनरपि कथं । पत्तेगमेव पत्तेगं प्रत्येकवन्दनापेक्षया प्रत्येकं प्रत्येकम् । न केवलमेतान् वन्दे । अरहंते अर्हतः । किंविशिष्टान् । वट्टंते माणुसे खेत्ते वर्तमानान् । क्व । मानुषे क्षेत्रे । तथा हि—साम्प्रतमत्र भरतक्षेत्रे तीर्थंकराभावात् पञ्चमहाविदेहस्थितश्रीसीमन्धरस्वामितीर्थंकरपरमदेवप्रभृतितीर्थंकरैः सह तानेव पञ्चपरमेष्ठिनो नमस्करोमि । कया । करणभूतया मोक्षलक्ष्मीस्वयंवरमण्डपभूतजिनदीक्षाक्षणे मङ्गलाचारभूतया अनन्तज्ञानादिसिद्धगुणभावनारूपया सिद्धभक्त्या, तथैव निर्मलसमाधिपरिणतपरमयोगिगुणभावनालक्षणया योगभक्त्या चेति । एवं पूर्वविदेहतीर्थंकरनमस्कारमुख्यत्वेन गाथा गतेत्यभिप्रायः ॥ ३ ॥ अथ किच्चा

है, जो तीर्थताके कारण योगियोंको तारनेमें समर्थ हैं, धर्मके कर्ता होनेसे जो शुद्ध स्वरूपपरिणतिके कर्ता हैं, उन परम भट्टारक, महादेवाधिदेव, परमेश्वर, परमपूज्य, जिनका नामग्रहण भी अच्छा है ऐसे श्री वर्द्धमानदेवको प्रवर्तमान तीर्थकी नायकताके कारण प्रथम ही, प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

तत्पश्चात् जो विशुद्ध सत्तावान् होनेसे तापसे उत्तीर्ण हुए (अन्तिम ताव दिये हुए अग्निमेंसे बाहर निकले हुए) उत्तम सुवर्णके समान शुद्धदर्शनज्ञानस्वभावको प्राप्त हुए हैं, ऐसे शेष [1]अतीत तीर्थंकरोंको और सर्वसिद्धोंको तथा ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचारयुक्त होनेसे जिन्होंने परम शुद्ध उपयोगभूमिकाको प्राप्त किया है, ऐसे श्रमणोंको—जो कि आचार्यत्व, उपाध्यायत्व और साधुत्वरूप विशेषोंसे विशिष्ट (भेदयुक्त) हैं उन्हें—नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

तत्पश्चात् इन्हीं पंचपरमेष्ठियोंको, उस-उस व्यक्तिमें (पर्यायमें) व्याप्त होनेवाले सभीको, वर्तमानमें इस क्षेत्रमें उत्पन्न तीर्थंकरोंका अभाव होनेसे और महाविदेहक्षेत्रमें उनका सद्भाव होनेसे मनुष्यक्षेत्रमें प्रवर्तमान तीर्थनायकयुक्त वर्तमानकालगोचर करके, (महाविदेहक्षेत्रमें वर्तमान श्री सीमंधरादि तीर्थंकरोंकी भाँति मानों सभी पंच

---

[1] अतीत = गत, होगये, भूतकालीन ।

ध्यायसर्वसाधूनां प्रणतिवन्दनाभिधानप्रवृत्तद्वैतद्वारेण भाव्यभावकभावविजृम्भितातिनिर्भरेतरेतरसंवलनबलविलीननिखिलस्वपरविभागतया प्रवृत्ताद्वैतं नमस्कारं कृत्वा ॥४॥ तेषामेवार्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधूनां विशुद्धज्ञानदर्शनप्रधानत्वेन सहजशुद्धदर्शनज्ञानस्वभावात्मतत्त्वश्रद्धानावबोधलक्षणसम्यग्दर्शनज्ञानसंपादकमाश्रमं समासाद्य सम्यग्दर्शनज्ञानसंपन्नो भूत्वा, जीवत्कषायकणतया पुण्यबन्धसंप्राप्तिहेतुभूतं सरागचारित्रं क्रमापतितमपि

कृत्वा । कम् । णमो नमस्कारम् । केभ्यः । अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव अर्हत्सिद्धगणधरोपाध्यायसाधुभ्यश्चैव । कतिसंख्योपेतेभ्यः । सव्वेसिं सर्वेभ्यः । इति पूर्वगाथात्रयेण कृतपञ्चपरमेष्ठिनमस्कारोपसंहारोऽयम् ॥ ४ ॥ एवं पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारं कृत्वा किं करोमि । उवसंपयामि उपसंपद्ये समाश्रयामि । किम् । सम्मं साम्यं चारित्रम् । कस्मात् किं भवति । जत्तो णिव्वाणसंपत्ती यस्मान्निर्वाणसंप्राप्तिः । किं कृत्वा पूर्वं । समासिज्ज समासाद्य प्राप्य । कम् । विसुद्धणाणदंसणपहाणासमं विशुद्धज्ञानदर्शनलक्षणप्रधानाश्रमम् । केषां सम्बन्धित्वेन । तेसिं तेषां पूर्वोक्तपञ्चपरमेष्ठिनामिति । तथाहि—अहमाराधकः, एते चार्हदादय आराध्या, इत्याराध्याराधकविकल्परूपो

परमेष्ठी भगवान वर्तमानकालमें ही विद्यमान हों, इसप्रकार अत्यन्त भक्तिके कारण भावना भाकर – चिंतवन करके उन्हें) युगपद् युगपद् अर्थात् समुदायरूपसे और प्रत्येक प्रत्येकको अर्थात् व्यक्तिगतरूपसे [1]संभावना करता हूँ। किस प्रकारसे संभावना करता हूँ? मोक्षलक्ष्मीके स्वयंवर समान जो परम निर्ग्रन्थताकी दीक्षाका उत्सव (आनन्दमय प्रसंग) है उसके उचित मंगलाचरणभूत जो [2]कृतिकर्मशास्त्रोपदिष्ट वन्दनोच्चार (कृतिकर्मशास्त्रमें उपदेशे हुए स्तुतिवचन) के द्वारा सम्भावना करता हूँ ॥ ३ ॥

अब इस प्रकार अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा सर्व साधुओंको प्रणाम और वन्दनोच्चारसे प्रवर्तमान द्वैतके द्वारा, [3]भाव्यभावक भावसे उत्पन्न अत्यन्त गाढ़ [4]इतरेतर मिलनके कारण समस्त स्वपरका विभाग विलीन होजानेसे जिसमें [5]अद्वैत प्रवर्तमान है ऐसा नमस्कार करके, उन्हीं अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्व-

---

१ संभावना=संभावना करना, सन्मान करना, आराधन करना।

२ कृतिकर्म=अंगबाह्य १४ प्रकीर्णकोंमें छट्ठा प्रकीर्णक कृतिकर्म है जिसमें नित्यनैमित्तिक क्रियाका वर्णन है।

३ भाव्य=भाने योग्य; चिंतवन करने योग्य; ध्यान करने योग्य अर्थात् ध्येय। भावक=भावना करनेवाला, चिंतवन करनेवाला, ध्यान करनेवाला अर्थात् ध्याता।

४ इतरेतरमिलन=एक दूसरेका परस्पर मिल जाना अर्थात् मिश्रित हो जाना।

५ अद्वैत=पंच परमेष्ठीके प्रति अत्यंत आराध्य भावके कारण आराध्यरूप पंच परमेष्ठी भगवान् और आराधकरूप अपने भेदका विलय होजाता है। इस प्रकार नमस्कारमें अद्वैत पाया जाता है। यद्यपि नमस्कारमें प्रणाम और वंदनोच्चार दोनोंका समावेश होता है इसलिये उसमें द्वैत कहा है, तथापि तीव्र भक्तिभावसे स्वपरका भेदविलीन हो जानेकी अपेक्षासे उसमें अद्वैत पाया जाता है।

दूरमुत्क्रम्य सकलकषायकलिकलङ्कविविक्ततया निर्वाणसंप्राप्तिहेतुभूतं वीतरागचारित्राख्यं साम्यमुपसंपद्ये। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैक्यात्मकैकाग्र्यं गतोऽस्मीति प्रतिज्ञार्थः। एवं तावदयं साक्षान्मोक्षमार्गं संप्रतिपन्नः ॥५॥

अथायमेव वीतरागसरागचारित्रयोरिष्टानिष्टफलत्वेनोपादेयहेयत्वं विवेचयति —

संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो ॥ ६ ॥

द्वैतनमस्कारो भण्यते। रागाद्युपाधिविकल्परहितपरमसमाधिबलेनात्मन्येवाराध्याराधकभावः पुनरद्वैतनमस्कारो भण्यते। इत्येवंलक्षणं पूर्वोक्तगाथात्रयकथितप्रकारेण पञ्चपरमेष्ठिसम्बंधिनं द्वैताद्वैतनमस्कारं कृत्वा। ततः किं करोमि। रागादिभ्यो भिन्नोऽयं स्वात्मोत्थसुखस्वभावः परमात्मेति भेदज्ञानं, तथा स एव सर्वप्रकारोपादेय इति रुचिरूपं सम्यक्त्वमित्युक्तलक्षणज्ञानदर्शनस्वभावं, मठचैत्यालयादिलक्षणव्यवहाराश्रमाद्विलक्षणं, भावाश्रमरूपं प्रधानाश्रमं प्राप्य, तत्पूर्वकं क्रमायातमपि सरागचारित्रं पुण्यबन्धकारणमिति ज्ञात्वा परिहृत्य निश्चलशुद्धात्मानुभूतिस्वरूपं वीतरागचारित्रमहमाश्रयामीति भावार्थः। एवं प्रथमस्थले नमस्कारमुख्यत्वेन गाथापञ्चकं गतम् ॥ ५ ॥ अथोपादेयभूतस्यातींद्रियसुखस्य कारणत्वाद्वीतरागचारित्रमुपादेयम्। अतींद्रियसुखापेक्षया हेयस्येन्द्रियसुखस्य कारणत्वात्सरागचारित्रं हेयमित्युपदिशति — संपज्जदि संपद्यते। किम्। णिव्वाणं निर्वाणम्। कथम्। सह। कैः। देवासुरमणुयरायविहवेहिं देवासुरमनुष्यराजविभवैः। कस्य। जीवस्स जीवस्य। कस्मात्। चरित्तादो चारित्रात्। कथंभूतात्। दंसणणाणप्पहाणादो सम्यग्दर्शनज्ञानप्रधानादिति। तद्यथा — आत्माधीनज्ञानसुखस्वभावे शुद्धात्मद्रव्ये यन्निश्चलनिर्विकारानुभूतिरूपमवस्थानं तल्लक्षणनिश्चयचारित्राज्जीवस्य समुत्पद्यते। किम्। पराधीनेन्द्रियजनितज्ञानसुखविलक्षणं, स्वाधीनातीन्द्रियरूपपरमज्ञानसुखलक्षणं निर्वाणम्। सरागचारित्रात्पुनर्देवासुरमनुष्यराजविभूतिजनको मुख्यवृत्त्या

साधुओंके आश्रमको, — जो कि (आश्रम) विशुद्धज्ञानदर्शनप्रधान होनेसे [1]सहजशुद्धदर्शनज्ञानस्वभाववाले आत्मतत्त्वका श्रद्धान और ज्ञान जिसका लक्षण है ऐसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका [2]सम्पादक है उसे — प्राप्त करके, सम्यग्दर्शनज्ञानसम्पन्न होकर, जिसमें [3]कषायकण विद्यमान होनेसे जीवको जो पुण्यबन्धकी प्राप्तिका कारण है ऐसे सराग चारित्रको — वह (सराग चारित्र) क्रमसे आ पड़ने पर भी (गुणस्थान-आरोहणके क्रममें बलात् अर्थात् चारित्रमोहके मन्द उदयसे आ पड़ने पर भी) — दूर उल्लंघन

[1] सहजशुद्धदर्शनज्ञानस्वभाववाले = सहज शुद्ध दर्शन और ज्ञान जिनका स्वभाव है वे।

[2] संपादक = प्राप्त करानेवाला, उत्पन्न करनेवाला।

[3] कषायकण = कषायका सूक्ष्मांश।

सुर असुर — मनुजेन्द्रो तणा विभवो सहित निर्वाणनी।
प्राप्ति करे चारित्रथी जीव ज्ञानदर्शन मुख्य थी ॥ ६ ॥

स्वरूपे चरणं चारित्रं, स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः। शुद्ध-चैतन्यप्रकाशनमित्यर्थः। तदेव च यथावस्थितात्मगुणत्वात्साम्यम्। साम्यं तु दर्शनचारित्र-मोहनीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः ॥ ७ ॥

अथात्मनश्चारित्रत्वं निश्चिनोति –

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयं ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥ ८ ॥

अथाभेदनयेन धर्मपरिणत आत्मैव धर्मो भवतीत्यावेदयति – **परिणमदि जेण दव्वं तक्काले तम्मय त्ति पण्णत्तं** परिणमति येन पर्यायेण द्रव्यं कर्तृ तत्काले तन्मयं भवतीति प्रज्ञप्तम् यतः कारणात्, **तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो** ततः कारणात् धर्मेण परिणत आत्मैव धर्मो मन्तव्य इति। तद्यथा – निजशुद्धात्मपरिणतिरूपो निश्चयधर्मो भवति। पञ्चपरमेष्ठयादिभक्तिपरिणामरूपो व्यवहार-धर्मस्तावदुच्यते। यतस्तेन तेन विवक्षिताविवक्षितपर्यायेण परिणतं द्रव्यं तन्मयं भवति, ततः पूर्वोक्त-धर्मद्वयेन परिणतस्तप्तायःपिण्डवदभेदनयेनात्मैव धर्मो भवतीति ज्ञातव्यम्। तदपि कस्मात्, उपादान-कारणसदृशं हि कार्यमिति वचनात्। तच्च पुनरुपादानकारणं शुद्धाशुद्धभेदेन द्विधा। रागादिविकल्प-रहितस्वसंवेदनज्ञानमागमभाषया शुक्लध्यानं वा केवलज्ञानोत्पत्तौ शुद्धोपादानकारणं भवति। अशुद्धात्मा तु रागादीनामशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानकारणं भवतीति सूत्रार्थः। एवं चारित्रस्य संक्षेप-सूचनरूपेण द्वितीयस्थले गाथात्रयं गतम् ॥ ८ ॥ अथ शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयेण परिणतो जीवः शुभा-

---

वह क्षोभ है। मोह और क्षोभ रहित परिणाम, साम्य, धर्म और चारित्र यह सब पर्यायवाची हैं ॥ ७ ॥

अब आत्माकी चारित्रता (अर्थात् आत्मा ही चारित्र है ऐसा) निश्चय करते हैं :–

गाथा ८

अन्वयार्थ :– [**द्रव्यं**] द्रव्य जिस समय [**येन**] जिस भावरूपसे [**परिणमति**] परिणमन करता है [**तत्कालं**] उस समय [**तन्मयं**] उस मय है [**इति**] ऐसा [**प्रज्ञप्तं**] (जिनेन्द्र देवने) कहा है; [**तस्मात्**] इसलिये [**धर्मपरिणतः आत्मा**] धर्मपरिणत आत्माको [**धर्मः मन्तव्यः**] धर्म समझना चाहिये।

टीका :– वास्तवमें जो द्रव्य जिस समय जिस भावरूपसे परिणमन करता है, वह द्रव्य उस समय उष्णतारूपसे परिणमित लोहेके गोलेकी भाँति उस मय है, इसलिये यह आत्मा धर्मरूप परिणमित होनेसे धर्म ही है। इसप्रकार आत्माकी चारित्रता सिद्ध हुई।

जे भावमां प्रणमे दरव, ते काल तन्मय ते कह्युं।
जीवद्रव्य तेथी धर्ममां प्रणमेल धर्म ज जाणवुं ॥ ८ ॥

परिणमति येन द्रव्यं तत्कालं तन्मयमिति प्रज्ञप्तम् ।
तस्माद्धर्मपरिणत आत्मा धर्मो मन्तव्यः ॥ ८ ॥

यत्खलु द्रव्यं यस्मिन्काले येन भावेन परिणमति तत् तस्मिन् काले किलौष्ण्यपरिणतायःपिण्डवत्तन्मयं भवति। ततोऽयमात्मा धर्मेण परिणतो धर्म एव भवतीति सिद्धमात्मनश्चारित्रत्वम् ॥ ८ ॥

अथ जीवस्य शुभाशुभशुद्धत्वं निश्चिनोति –

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥ ९ ॥

जीवः परिणमति यदा शुभेनाशुभेन वा शुभोऽशुभः ।
शुद्धेन तदा शुद्धो भवति हि परिणामस्वभावः ॥ ९ ॥

शुभशुद्धोपयोगस्वरूपो भवतीत्युपदिशति – **जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा** जीवः कर्ता यदा परिणमति शुभेनाशुभेन वा परिणामेन **सुहो असुहो हवदि** तदा शुभेन शुभो भवति, अशुभेन चाऽशुभो भवति । **सुद्धेण तदा सुद्धो हि** शुद्धेन यदा परिणमति तदा शुद्धो भवति, हि स्फुटम् । कथंभूतः सन् । **परिणामसब्भावो** परिणामसद्भावः सन्निति । तद्यथा-यथा स्फटिकमणिविशेषो निर्मलोऽपि जपापुष्पादिरक्तकृष्णश्वेतोपाधिवशेन रक्तकृष्णश्वेतवर्णो भवति, तथाऽयं जीवः स्वभावेन शुद्धबुद्धैकस्वरूपोऽपि व्यवहारेण गृहस्थापेक्षया यथासंभवं सरागसम्यक्त्वपूर्वकदानपूजादिशुभानुष्ठानेन, तपोधनापेक्षया तु मूलोत्तरगुणादिशुभानुष्ठानेन परिणतः शुभो ज्ञातव्य इति । मिथ्यात्वाविरति-

---

भावार्थ :– सातवीं गाथामें कहा गया है कि चारित्र आत्माका ही भाव है । और इस गाथामें अभेदनयसे यह कहा है कि जैसे उष्णतारूप परिणमित लोहेका गोला स्वयं ही उष्णता है – लोहेका गोला और उष्णता पृथक् नहीं है, इसी प्रकार चारित्रभावसे परिणमित आत्मा स्वयं ही चारित्र है ॥ ८ ॥

अब यहाँ जीवका शुभ, अशुभ और शुद्धत्व (अर्थात् यह जीव ही शुभ, अशुभ और शुद्ध है ऐसा) निश्चित करते हैं ।

गाथा ९

अन्वयार्थ :– [जीवः] जीव [परिणामस्वभावः] परिणामस्वभावी होनेसे [यदा] जब [शुभेन वा अशुभेन] शुभ या अशुभ भावरूप [परिणमति] परिणमन

शुभ के अशुभमां प्रणमतां शुभ के अशुभ आत्मा बने ।
शुद्धे प्रणमतां शुद्ध परिणाम स्वभावी होईने ॥ ९ ॥

अथ परिणामं वस्तुस्वभावत्वेन निश्चिनोति –

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो ।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो ॥ १० ॥

नास्ति विना परिणाममर्थोऽर्थं विनेह परिणामः ।
द्रव्यगुणपर्ययस्थोऽर्थोऽस्तित्वनिर्वृत्तः ॥ १० ॥

न खलु परिणाममन्तरेण वस्तु सत्तामालम्बते । वस्तुनो द्रव्यादिभिः परिणामात् पृथगुपलम्भाभावान्निःपरिणामस्य खरशृङ्गकल्पत्वाद् दृश्यमानगोरसादिपरिणामविरोधाच्च ।

परिणामिनोः परस्परं कथंचिदभेदं दर्शयति – णत्थि विणा परिणामं अत्थो मुक्तजीवे तावत्कथ्यते, सिद्धपर्यायरूपशुद्धपरिणामं विना शुद्धजीवपदार्थो नास्ति । कस्मात् । संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि प्रदेशभेदाभावात् । अत्थं विणेह परिणामो मुक्तात्मपदार्थं विना इह जगति शुद्धात्मोपलम्भलक्षणः

रंगमें परिणमित होता है तब स्वयं ही शुद्ध होता है, उसीप्रकार आत्मा भी जब निश्चय रत्नत्रयात्मक शुद्धोपयोगमें परिणमित होता है तब स्वयं ही शुद्ध होता है ।

सिद्धान्त ग्रन्थोंमें जीवके असंख्य परिणामोंको मध्यम वर्णनसे चौदह गुणस्थान-रूप कहा गया है । उन गुणस्थानोंको संक्षेपसे 'उपयोग' रूप वर्णन करते हुए, प्रथम तीन गुणस्थानोंमें तारतम्य पूर्वक (घटता हुआ) अशुभोपयोग, चौथेसे छट्ठे गुणस्थान तक तारतम्य पूर्वक (बढ़ता हुआ) शुभोपयोग, सातवेंसे बारहवें गुणस्थान तक तारतम्य पूर्वक शुद्धोपयोग और अन्तिम दो गुणस्थानोंमें शुद्धोपयोगका फल कहा गया है, – ऐसा वर्णन कथंचित् हो सकता है ॥ ९ ॥

अब परिणाम वस्तुका स्वभाव है यह निश्चय करते हैं :–

गाथा १०

अन्वयार्थ :– [इह] इस लोकमें [परिणामं विना] परिणामके विना [अर्थः नास्ति] पदार्थ नहीं है, [अर्थं विना] पदार्थके विना [परिणामः] परिणाम नहीं है; [अर्थः] पदार्थ [द्रव्यगुणपर्ययस्थः] द्रव्य-गुण-पर्यायमें रहनेवाला और [अस्तित्वनिर्वृत्तः] (उत्पादव्ययध्रौव्यमय) अस्तित्वसे बना हुआ है ।

टीका :– परिणामके विना वस्तु अस्तित्व धारण नहीं करती, क्योंकि वस्तु द्रव्यादिके द्वारा (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे) परिणामसे भिन्न अनुभवमें (देखनेमें) नहीं आती, क्योंकि (१) परिणाम रहित वस्तु गधेके सींगके समान है, (२) तथा उसका,

---

परिणाम विण न पदार्थ, ने न पदार्थ विण परिणाम छे ;
गुण-द्रव्य-पर्यय स्थित ने अस्तित्व सिद्ध पदार्थ छे ॥ १० ॥

अन्तरेण वस्तु परिणामोऽपि न सत्तामालम्बते । स्वाश्रयभूतस्य वस्तुनोऽभावे निराश्रयस्य परिणामस्य शून्यत्वप्रसंगात् । वस्तु पुनरूर्ध्वतासामान्यलक्षणे द्रव्ये सहभाविविशेषलक्षणेषु गुणेषु क्रमभाविविशेषलक्षणेषु पर्यायेषु व्यवस्थितमुत्पादव्ययध्रौव्यमयास्तित्वेन निर्वर्तित-निर्वृत्तिमच्च । अतः परिणामस्वभावमेव ।। १० ।।

सिद्धपर्यायरूपः शुद्धपरिणामो नास्ति । कस्मात् । संज्ञादिभेदेऽपि प्रदेशभेदाभावात् दव्वगुणपज्जयत्थो आत्मस्वरूपं द्रव्यं तत्रैव केवलज्ञानादयो गुणाः सिद्धरूपः पर्यायश्च, इत्युक्तलक्षणेषु द्रव्यगुणपर्यायेषु तिष्ठतीति द्रव्यगुणपर्यायस्थो भवति । स कः कर्ता । अत्थो परमात्मपदार्थः, सुवर्णद्रव्यपीतत्वादि-गुणकुण्डलादिपर्यायस्थसुवर्णपदार्थवत् । पुनश्च किंरूपः । अत्थित्तणिव्वत्तो शुद्धद्रव्यगुणपर्यायाधारभूतं यच्छुद्धास्तित्वं तेन निर्वृत्तोऽस्तित्वनिर्वृत्तः, सुवर्णद्रव्यगुणपर्यायास्तित्वनिर्वृत्तसुवर्णपदार्थवदिति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । यथा – मुक्तजीवे द्रव्यगुणपर्यायत्रयं परस्पराविनाभूतं दर्शितं तथा संसारिजीवेऽपि मतिज्ञानादिविभावगुणेषु नरनारकादिविभावपर्यायेषु नयविभागेन यथासंभवं विज्ञेयम्, तथैव पुद्गलादिष्वपि । एवं शुभाशुभशुद्धपरिणामव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले गाथाद्वयं गतम् ।। १० ।।

दिखाई देनेवाले गोरस इत्यादि (दूध, दही वगैरह) के परिणामोंके साथ [1]विरोध आता है । (जैसे – परिणामके बिना वस्तु अस्तित्व धारण नहीं करती उसीप्रकार) वस्तुके विना परिणाम भी अस्तित्वको धारण नहीं करता, क्योंकि स्वाश्रयभूत वस्तुके अभावमें (अपने आश्रयरूप जो वस्तु है वह न हो तो) निराश्रय परिणामको शून्यताका प्रसंग आता है ।

और वस्तु तो [2]ऊर्ध्वतासामान्यस्वरूप द्रव्यमें, सहभावी विशेषस्वरूप (साथ ही साथ रहनेवाले विशेष-भेद जिनका स्वरूप है ऐसे) गुणोंमें तथा क्रमभावी विशेषस्वरूप पर्यायोंमें रही हुई और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय अस्तित्वसे बनी हुई है; इसलिये वस्तु परिणाम-स्वभाववाली ही है ।

भावार्थ :– जहाँ जहाँ वस्तु दिखाई देती है वहाँ वहाँ परिणाम दिखाई देता है । जैसे – गोरस अपने दूध, दही, घी, छाछ इत्यादि परिणामोंसे युक्त ही दिखाई देता है । जहाँ परिणाम नहीं होता वहाँ वस्तु भी नहीं होती । जैसे कालापन, स्निग्धता इत्यादि परिणाम नहीं हैं तो गधेके सींगरूप वस्तु भी नहीं है । इससे सिद्ध हुआ कि वस्तु परिणाम रहित कदापि नहीं होती । जैसे वस्तु परिणामके बिना नहीं होती उसीप्रकार परिणाम भी वस्तुके बिना नहीं होते, क्योंकि वस्तुरूप आश्रयके बिना परिणाम

---

[1] यदि वस्तुको परिणाम रहित माना जावे तो गोरस इत्यादि वस्तुओंके दूध, दही आदि जो परिणाम प्रत्यक्ष दिखाई देते है उनके साथ विरोध आयेगा ।

[2] कालकी अपेक्षासे स्थिर होनेको अर्थात् कालापेक्षित प्रवाहको ऊर्ध्वता अथवा ऊँचाई कहा जाता है । ऊर्ध्वता-सामान्य अर्थात् अनादि-अनन्त उच्च (कालापेक्षित) प्रवाहसामान्य द्रव्य है ।

अथ चारित्रपरिणामसंपर्कसम्भववतोः शुद्धशुभपरिणामयोरुपादानहानाय फलमालोचयति—

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो ।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो य सग्गसुहं ॥ ११ ॥

अथ वीतरागसरागचारित्रसंज्ञयोः शुद्धशुभोपयोगपरिणामयोः संक्षेपेण फलं दर्शयति—धम्मेण परिणदप्पा अप्पा धर्मेण परिणतात्मा परिणतस्वरूपः सन्नयमात्मा जदि सुद्धसंपयोगजुदो यदि चेच्छुद्धोपयोगाभिधानशुद्धसंप्रयोगपरिणामयुतः परिणतो भवति पावदि णिव्वाणसुहं तदा निर्वाणसुखं प्राप्नोति। सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं शुभोपयोगयुतः परिणतः सन् स्वर्गसुखं प्राप्नोति। इतो विस्तरम्—इह धर्मशब्देनाहिंसालक्षणः सागारानगाररूपस्तथोत्तमक्षमादिलक्षणो रत्नत्रयात्मको वा, तथा मोहक्षोभरहित आत्मपरिणामः शुद्धवस्तुस्वभावश्चेति गृह्यते। स एव धर्मः पर्यायान्तरेण चारित्रं भण्यते।

किसके आश्रयसे रहेंगे ? गोरसरूप आश्रयके विना दूध, दही इत्यादि परिणाम किसके आधारसे होंगे ?

और फिर वस्तु तो द्रव्य-गुण-पर्यायमय है। उसमें त्रैकालिक ऊर्ध्व प्रवाहसामान्य द्रव्य है, और साथ ही साथ रहनेवाले भेद वे गुण हैं, तथा क्रमशः होनेवाले भेद वे पर्यायें हैं। ऐसे द्रव्य, गुण और पर्यायकी एकतासे रहित कोई वस्तु नहीं होती। दूसरी रीतिसे कहा जाय तो, वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय है अर्थात् वह उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और स्थिर रहती है। इसप्रकार वह द्रव्य-गुण-पर्यायमय और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय होनेसे उसमें क्रिया (परिणमन) होती ही रहती है। इसलिये परिणाम वस्तुका स्वभाव ही है ॥ १० ॥

अब जिनका चारित्र परिणामके साथ सम्पर्क (सम्बन्ध) है ऐसे जो शुद्ध और शुभ (दो प्रकारके) परिणाम हैं उनके ग्रहण तथा त्यागके लिये (शुद्ध परिणामके ग्रहण और शुभ परिणामके त्यागके लिये) उनका फल विचारते हैं :—

गाथा ११

अन्वयार्थ :— [धर्मेण परिणतात्मा] धर्मसे परिणमित स्वरूपवाला [आत्मा] आत्मा [यदि] यदि [शुद्धसंप्रयोगयुतः] शुद्ध उपयोग में युक्त हो तो [निर्वाणसुखं] मोक्ष सुखको [प्राप्नोति] प्राप्त करता है [शुभोपयुक्तः च] और यदि शुभोपयोगवाला हो तो (स्वर्गसुखं) स्वर्गके सुखको (बन्धको) प्राप्त करता है।

भावार्थ :— जैसे घी स्वभावतः शीतलता उत्पन्न करनेवाला है तथापि गर्म घी से [illegible] जल जाते हैं, इसीप्रकार चारित्र स्वभावसे मोक्ष दाता है, तथापि सराग चारित्र [illegible]

[1] दान, पूजा, पंच-महाव्रत, देवगुरुधर्म प्रति राग इत्यादिरूप जो शुभोपयोग है [illegible] सराग (शुभोपयोगवाला) चारित्र विरोधी शक्ति सहित है और वीतराग चारित्र [illegible] है।

जो धर्म परिणत स्वरूप जिव शुद्धोपयोगी होय तो।
ते पामतो निर्वाण सुख, ने स्वर्ग सुख शुभ युक्त जो ॥११॥

अथ चारित्रपरिणामसंपर्कासंभवादत्यन्तहेयस्याशुभपरिणामस्य फलमालोचयति –

असुहोदएण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो ।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिद्दुदो भमदि अच्चंतं ॥ १२ ॥

अशुभोदयेनात्मा कुनरस्तिर्यग्भूत्वा नैरयिकः ।
दुःखसहस्रैः सदा अभिद्रुतो भ्रमत्यत्यन्तम् ॥ १२ ॥

यदायमात्मा मनागपि धर्मपरिणतिमनासादयन्नशुभोपयोगपरिणतिमालम्बते तदा

चारित्रपरिणामाभावादत्यन्तहेयस्याशुभोपयोगस्य फलं दर्शयति – असुहोदयेण अशुभोदयेन आदा आत्मा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो कुनरस्तिर्यङ्नारको भूत्वा । किं करोति । दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिधुदो भमदि अच्चंतं दुःखसहस्रैः सदा सर्वकालमभिद्रुतः कदर्थितः पीडितः सन् संसारे अत्यन्तं भ्रमतीति । तथाहि – निर्विकारशुद्धात्मतत्त्वरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वस्य तत्रैव शुद्धात्मन्यविक्षिप्तचित्तवृत्तिरूपनिश्चयचारित्रस्य च विलक्षणेन विपरीताभिनिवेशजनकेन दृष्टश्रुतानुभूतपञ्चेन्द्रिय-

---

बन्ध होता है। जैसे ठंडा घी शीतलता उत्पन्न करता है इसीप्रकार वीतराग चारित्र साक्षात् मोक्षका कारण है ॥ ११ ॥

अब चारित्र परिणामके साथ सम्पर्क रहित होनेसे जो अत्यन्त हेय है ऐसे अशुभ परिणामका फल विचारते हैं :–

गाथा १२

अन्वयार्थ :– [अशुभोदयेन] अशुभ उदयसे [आत्मा] आत्मा [कुनरः] कुमनुष्य [तिर्यग्] तिर्यंच [नैरयिकः] और नारकी [भूत्वा] होकर [दुःखसहस्रैः] हजारों दुःखोंसे [सदा अभिद्रुतः] सदा पीड़ित होता हुआ [अत्यंतं भ्रमति] (संसारमें) अत्यन्त भ्रमण करता है।

टीका :– जब यह आत्मा किंचित् मात्र भी धर्मपरिणतिको प्राप्त न करता हुआ अशुभोपयोग परिणतिका अवलम्बन करता है, तब वह कुमनुष्य, तिर्यंच और नारकीके रूपमें परिभ्रमण करता हुआ (तद्रूप) हजारों दुःखोंके बन्धनका अनुभव करता है; इसलिये चारित्रके लेशमात्रका भी अभाव होनेसे यह अशुभोपयोग अत्यन्त हेय ही है ॥ १२ ॥

अशुभोदये आत्मा कुनर तिर्यंच ने नारकपणे ।
नित्ये सहस्र दुःखे पीड़ित संसारमां अति अति भमे ॥१२॥

कुमनुष्यतिर्यङ्नारकभ्रमणरूपं दुःखसहस्रबन्धमनुभवति । ततश्चारित्रलवस्याप्यभावादत्यन्तहेय एवायमशुभोपयोग इति ॥ १२ ॥

एवमयमपास्तसमस्तशुभाशुभोपयोगवृत्तिः शुद्धोपयोगवृत्तिमात्मसात्कुर्वाणः शुद्धोपयोगाधिकारमारभते । तत्र शुद्धोपयोगफलमात्मनः प्रोत्साहनार्थमभिष्टौति –

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं ।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धवओगप्पसिद्धाणं ॥ १३ ॥

अतिशयमात्मसमुत्थं विषयातीतमनौपम्यमनन्तम् ।
अव्युच्छिन्नं च सुखं शुद्धोपयोगप्रसिद्धानाम् ॥ १३ ॥

आसंसारापूर्वपरमाद्भुताह्लादरूपत्वादात्मानमेवाश्रित्य प्रवृत्तत्वात्पराश्रयनिरपेक्ष-

---

विषयाभिलाषतीव्रसंक्लेशरूपेण चाशुभोपयोगेन यदुपार्जितं पापकर्म तदुदयेनायमात्मा सहजशुद्धात्मानन्दैकलक्षणपारमार्थिकसुखविपरीतेन दुःखेन दुःखितः सन् स्वस्वभावभावनाच्युतो भूत्वा संसारेऽत्यन्तं भ्रमतीति तात्पर्यार्थः । एवमुपयोगत्रयफलकथनरूपेण चतुर्थस्थले गाथाद्वयं गतम् ॥ १२ ॥ अथ शुभाशुभोपयोगद्वयं निश्चयनयेन हेयं ज्ञात्वा शुद्धोपयोगाधिकारं प्रारभमाणः, शुद्धात्मभावनामात्मसात्कुर्वाणः सन् जीवस्य प्रोत्साहनार्थं शुद्धोपयोगफलं प्रकाशयति । अथवा द्वितीयपातनिका-यद्यपि शुद्धोपयोगफलमग्रे ज्ञानं सुखं च संक्षेपेण विस्तरेण च कथयति तथाप्यत्रापि पीठिकायां सूचनां

इसप्रकार यह (भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव) समस्त शुभाशुभोपयोगवृत्तिको (शुभउपयोगरूप और अशुभ उपयोगरूप परिणतिको) अपास्त कर (हेय मानकर, तिरस्कार करके, दूर करके) शुद्धोपयोगवृत्तिको आत्मसात् (आत्मरूप, अपनेरूप) करते हुए शुद्धोपयोग अधिकार प्रारम्भ करते हैं। उसमें (पहले) शुद्धोपयोगके फलकी आत्माके प्रोत्साहनके लिये प्रशंसा करते हैं।

गाथा १३

अन्वयार्थः– [शुद्धोपयोगप्रसिद्धानां] शुद्धोपयोगसे [1]निष्पन्न हुए आत्माओंका (केवली और सिद्धोंका) [सुखं] सुख [अतिशयं] अतिशय [आत्मसमुत्थं] आत्मोत्पन्न

[1] निष्पन्न होना=उत्पन्न होना; फलरूप होना; सिद्ध होना। (शुद्धोपयोगसे निष्पन्न हुए अर्थात् शुद्धोपयोग कारणसे कार्यरूप हुए।)

अत्यंत, आत्मोत्पन्न, विषयातीत, अनुप अनंत ने ।
विच्छेद हीन छे सुख अहो ! शुद्धोपयोग प्रसिद्ध ने ॥१३॥

त्वादत्यन्तविलक्षणत्वात्समस्तायतिनिरपायित्वान्नैरन्तर्यप्रवर्तमानत्वाच्चातिशयवदात्मसमुत्थं विषयातीतमनौपम्यमनन्तमव्युच्छिन्नं च शुद्धोपयोगनिष्पन्नानां सुखमतस्तत्सर्वथा प्रार्थनीयम् ॥ १३ ॥

अथ शुद्धोपयोगपरिणतात्मस्वरूपं निरूपयति –

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो ।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥ १४ ॥

सुविदितपदार्थसूत्रः संयमतपःसंयुतो विगतरागः ।
श्रमणः समसुखदुःखो भणितः शुद्धोपयोग इति ॥ १४ ॥

सूत्रार्थज्ञानबलेन स्वपरद्रव्यविभागपरिज्ञानश्रद्धानविधानसमर्थत्वात्सुविदितपदार्थसूत्रः ।

करोति । अथवा तृतीयपातनिका-पूर्वं शुद्धोपयोगफलं निर्वाणं भणितमिदानीं पुनर्निर्वाणस्य फलमनन्तसुखं कथयतीति पातनिकात्रयस्यार्थं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति– अइसयं आसंसाराद्देवेन्द्रादिसुखेभ्योऽप्यपूर्वाद्भुतपरमाह्लादरूपत्वादतिशयस्वरूपं, आदसमुत्थं रागादिविकल्परहितस्वशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नत्वादात्मसमुत्थं, विसयातीदं निर्विषयपरमात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतपञ्चेन्द्रियविषयातीतत्वाद्विषयातीतं, अणोवमं निरुपमपरमानन्दैकलक्षणत्वेनोपमारहितत्वादनुपमं, अणंतं अनन्तागामिकाले विनाशाभावादप्रमितत्वाद्वाऽनन्तं, अव्वुच्छिण्णं च असातोदयाभावान्निरन्तरत्वादविच्छिन्नं च सुहं एवमुक्तविशेषणविशिष्टं सुखं भवति । केषाम् । सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं वीतरागपरमसामायिकशब्दवाच्यशुद्धोपयोगेन प्रसिद्धा उत्पन्ना येऽर्हत्सिद्धास्तेषामिति । अत्रेदमेव सुखमुपादेयत्वेन निरन्तरं भावनीयमिति भावार्थः ॥ १३ ॥ अथ येन शुद्धोपयोगेन पूर्वोक्तसुखं भवति तत्परिणतपुरुष-

---

[विषयातीतं] विषयातीत (अतीन्द्रिय) [अनौपम्यं] अनुपम [अनन्तं] अनन्त (अविनाशी) [अव्युच्छिन्नं च] और अविच्छिन्न (अटूट) है ।

टीका :– (१) अनादि संसारसे जो पहले कभी अनुभवमें नहीं आया ऐसे अपूर्व, परम अद्भुत आह्लादरूप होनेसे 'अतिशय', (२) आत्माका ही आश्रय लेकर (स्वाश्रित) प्रवर्तमान होनेसे 'आत्मोत्पन्न', (३) पराश्रयसे निरपेक्ष होनेसे (स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दके तथा संकल्पविकल्पके आश्रयकी अपेक्षासे रहित होनेसे) 'विषयातीत', (४) अत्यन्त विलक्षण होनेसे (अन्य सुखोंसे सर्वथा भिन्न लक्षणवाला होनेसे) 'अनुपम', (५) समस्त आगामी कालमें कभी भी नाशको प्राप्त न होनेसे

सुविदित सूत्र पदार्थ, संयम तप सहित वीतराग ने ।
सुख दुःखमां सम श्रमणने शुद्धोपयोग जिनो कहे ॥१४॥

सकलषड्जीवनिकायनिशुम्भनविकल्पात्पंचेन्द्रियाभिलाषविकल्पाच्च व्यावर्त्यात्मनः शुद्ध-स्वरूपे संयमनात्, स्वरूपविश्रान्तनिस्तरङ्गचैतन्यप्रतपनाच्च संयमतपःसंयुतः। सकल-मोहनीयविपाकविवेकभावनासौष्ठवस्फुटीकृतनिर्विकारात्मस्वरूपत्वाद्विगतरागः। परम-

---

लक्षणं प्रकाशयति–**सुविदिदपयत्थसुत्तो** सुष्ठु संशयादिरहितत्वेन विदिता ज्ञाता रोचिताश्च निजशुद्धात्मादिपदार्थास्तत्प्रतिपादकसूत्राणि च येन स सुविदितपदार्थसूत्रो भण्यते। **संजमतवसंजुदो** बाह्ये द्रव्येन्द्रियव्यावर्तनेन षड्जीवरक्षणेन चाभ्यन्तरे निजशुद्धात्मसंवित्तिबलेन स्वरूपे संयमनात् संयमयुक्तः, बाह्याभ्यन्तरतपोबलेन कामक्रोधादिशत्रुभिरखण्डितप्रतापस्य स्वशुद्धात्मनि प्रतपनाद्विजयनात्तपःसंयुक्तः। **विगदरागो** वीतरागशुद्धात्मभावनाबलेन समस्तरागादिदोषरहितत्वाद्विगतरागः। **समसुहदुक्खो** निर्विकारनिर्विकल्पसमाधेरुद्गता समुत्पन्ना तथैव परमानन्दसुखरसे लीना तल्लया निर्विकारस्वसंवित्तिरूपा या तु परमकला तदवष्टम्भेनेष्टानिष्टेन्द्रियविषयेषु हर्षविषादरहितत्वात्सम-

---

'अनन्त' और (६) बिना ही अन्तरके प्रवर्तमान होनेसे 'अविच्छिन्न' सुख शुद्धोपयोगसे निष्पन्न हुए आत्माओंके होता है, इसलिये वह (सुख) सर्वथा प्रार्थनीय (वांछनीय) है॥ १३॥

अब शुद्धोपयोगपरिणत आत्माका स्वरूप कहते हैं :–

गाथा १४

अन्वयार्थ :–[**सुविदितपदार्थसूत्रः**] जिन्होंने (निज शुद्ध आत्मादि) पदार्थोंको और सूत्रोंको भली भाँति जान लिया है, [**संयमतपःसंयुतः**] जो संयम और तपयुक्त हैं, [**विगतरागः**] जो वीतराग अर्थात् राग रहित हैं [**समसुखदुःखः**] और जिन्हें सुख-दुःख समान हैं, [**श्रमणः**] ऐसे श्रमणको (मुनिवरको) [**शुद्धोपयोगः इति भणितः**] 'शुद्धोपयोगी' कहा गया है।

टीका :– सूत्रोंके अर्थके ज्ञानबलसे स्वद्रव्य और परद्रव्यके विभागके [1]परिज्ञानमें श्रद्धानमें और विधानमें (आचरणमें) समर्थ होनेसे (स्वद्रव्य और परद्रव्यकी भिन्नताका ज्ञान, श्रद्धान और आचरण होनेसे) जो श्रमण पदार्थोंको और (उनके प्रतिपादक) सूत्रोंको जिन्होंने भलीभाँति जान लिया है ऐसे हैं, समस्त छह जीवनिकायके हननके विकल्पसे और पंचेन्द्रिय सम्बन्धी अभिलाषाके विकल्पसे आत्माको [2]व्यावृत्त करके आत्माका शुद्धस्वरूपमें संयमन करनेसे, और [3]स्वरूपविश्रान्त [4]निस्तरंग [5]चैतन्यप्रतपन

---

[1] परिज्ञान=पूरा ज्ञान; ज्ञान। [2] व्यावृत्त करके=विमुख करके; रोककर; अलग करके। [3] स्वरूपविश्रान्त=स्वरूप में स्थिर हुआ। [4] निस्तरंग=तरंग रहित; चंचलता रहित; विकल्प रहित; शांत। [5] प्रतपन होना=प्रतापवान होना, प्रकाशित होना, दैदीप्यमान होना।

कलावलोकनाननुभूयमानसातासातवेदनीयविपाकनिर्वर्तितसुखदुःखजनितपरिणामवैषम्यत्वात्समसुखदुःखः श्रमणः शुद्धोपयोग इत्यभिधीयते ॥ १४ ॥

अथ शुद्धोपयोगलाभानन्तरभाविशुद्धात्मस्वभावलाभमभिनन्दति –

उवओगविसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरओ ।
भूदो सयमेवादा जादि परं णेयभूदाणं ॥ १५ ॥

उपयोगविशुद्धो यो विगतावरणान्तरायमोहरजाः ।
भूतः स्वयमेवात्मा याति पारं ज्ञेयभूतानाम् ॥ १५ ॥

सुखदुःखः । समणो एवंगुणविशिष्टः श्रमणः परममुनिः भणिदो सुद्धोवओगो त्ति शुद्धोपयोगो भणित इत्यभिप्रायः ॥ १४ ॥ एवं शुद्धोपयोगफलभूतानन्तसुखस्य शुद्धोपयोगपरिणतपुरुषस्य च कथनरूपेण पञ्चमस्थले गाथाद्वयं गतम् ॥

इति चतुर्दशगाथाभिः स्थलपञ्चकेन पीठिकाभिधानः प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्तः ॥

होनेसे जो संयम और तपयुक्त हैं, सकल मोहनीयके विपाकसे भेदकी भावनाकी उत्कृष्टतासे (समस्त मोहनीय कर्मके उदयसे भिन्नत्वकी उत्कृष्ट भावनासे) निर्विकार आत्मस्वरूपको प्रगट किया होनेसे जो वीतराग हैं, और परमकलाके अवलोकनके कारण साता वेदनीय तथा असाता वेदनीयके विपाकसे उत्पन्न होनेवाले जो सुख-दुःख उन सुख-दुःख जनित परिणामोंकी विषमताका अनुभव नहीं होनेसे (परम सुखरसमें लीन निर्विकार स्वसंवेदनरूप परमकलाके अनुभवके कारण इष्टानिष्ट संयोगोंमें हर्ष शोकादि विषम परिणामोंका अनुभव न होनेसे) जो [1]समसुखदुःख हैं, ऐसे श्रमण शुद्धोपयोगी कहलाते हैं ॥ १४ ॥

अब, शुद्धोपयोगकी प्राप्तिके बाद तत्काल (अन्तर पड़े बिना) ही होनेवाली शुद्ध आत्मस्वभाव (केवलज्ञान) प्राप्तिकी प्रशंसा करते हैं :–

गाथा १५

अन्वयार्थः– (यः) जो (उपयोगविशुद्धः) उपयोग विशुद्ध (शुद्धोपयोगी) है

[1] समसुखदुःख=जिन्हें सुख और दुःख (इष्टानिष्ट संयोग) दोनों समान हैं।

जे उपयोग विशुद्ध ते मोहादि घातीरज थकी ।
स्वयमेव रहित थयो थको ज्ञेयान्तने पामे सही ॥१५॥

यो हि नाम चैतन्यपरिणामलक्षणेनोपयोगेन यथाशक्ति विशुद्धो भूत्वा वर्तते स खलु प्रतिपदमुद्भिद्यमानविशिष्टविशुद्धिशक्तिरुद्ग्रन्थितासंसारबद्धदृढतरमोहग्रंथितयात्यंतनिर्विकारचैतन्यो निरस्तसमस्तज्ञानदर्शनावरणान्तरायतया निःप्रतिघविजृम्भि-

---

तदनन्तरं सामान्येन सर्वज्ञसिद्धिर्ज्ञानविचारः संक्षेपेण शुद्धोपयोगफलं चेति कथनरूपेण गाथासप्तकम् । तत्र स्थलचतुष्टयं भवति, तस्मिन् प्रथमस्थले सर्वज्ञस्वरूपकथनार्थं प्रथमगाथा, स्वयम्भूकथनार्थं द्वितीया चेति 'उवओगविसुद्धो' इत्यादि गाथाद्वयम् । अथ तस्यैव भगवत उत्पादव्ययध्रौव्यस्थापनार्थं प्रथमगाथा, पुनरपि तस्यैव दृढीकरणार्थं द्वितीया चेति 'भंगविहीणो' इत्यादि गाथाद्वयम् । अथ सर्वज्ञश्रद्धानेनानन्तसुखं भवतीति दर्शनार्थं 'तं सव्वट्ठवरिट्ठं' इत्यादि सूत्रमेकम् । अथातीन्द्रियज्ञानसौख्यपरिणमनकथनमुख्यत्वेन प्रथमगाथा, केवलिभुक्तिनिराकरणमुख्यत्वेन द्वितीया चेति 'पक्खीणघाइकम्मो' इति प्रभृति गाथाद्वयम् । एवं द्वितीयान्तराधिकारे स्थलचतुष्टयेन समुदायपातनिका । तद्यथा – अथ शुद्धोपयोगलाभानन्तरं केवलज्ञानं भवतीति कथयति । अथवा द्वितीयपातनिका – कुन्दकुन्दाचार्यदेवाः सम्बोधनं कुर्वन्ति, हे शिवकुमारमहाराज, कोऽप्यासन्नभव्यः संक्षेपरुचिः पीठिकाव्याख्यानमेव श्रुत्वात्मकार्यं करोति, अन्यः कोऽपि पुनर्विस्तररुचिः शुद्धोपयोगेन संजात-

---

[आत्मा] वह आत्मा [**विगतावरणान्तरायमोहरजाः**] ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहरूप रजसे रहित [**स्वयमेव भूतः**] स्वयमेव होता हुआ [**ज्ञेयभूतानां**] ज्ञेयभूत पदार्थोंके [**पारं याति**] पारको प्राप्त होता है ।

टीका :– जो (आत्मा) चैतन्य परिणामस्वरूप उपयोगके द्वारा यथाशक्ति विशुद्ध होकर वर्तता है, वह (आत्मा), जिसे पद पद पर (प्रत्येक पर्यायमें) [१]विशिष्ट विशुद्ध शक्ति प्रगट होती जाती है, ऐसा होनेसे, अनादि संसारसे बँधी हुई दृढ़तर मोहग्रन्थि छूट जानेसे अत्यन्त निर्विकार चैतन्यवाला और समस्त ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तरायके नष्ट हो जानेसे निर्विघ्न विकसित आत्मशक्तिवान स्वयमेव होता हुआ ज्ञेयताको प्राप्त (पदार्थों) के अन्तको पा लेता है ।

यहाँ (यह कहा है कि) आत्मा ज्ञानस्वभाव है, और ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है; इसलिये समस्त ज्ञेयोंके भीतर प्रवेशको प्राप्त (ज्ञाता) ज्ञान जिसका स्वभाव है ऐसे आत्माको आत्मा शुद्धोपयोगके ही प्रसादसे प्राप्त करता है ।

भावार्थ :– शुद्धोपयोगी जीव प्रतिक्षण अत्यन्त शुद्धिको प्राप्त करता रहता है; और इसप्रकार मोहका क्षय करके निर्विकार चेतनावान होकर, बारहवें गुणस्थानके

---

[१] विशिष्ट=विशेष; असाधारण; खास ।

तात्मशक्तिश्च स्वयमेव भूतो ज्ञेयत्वमापन्नानामन्तमवाप्नोति । इह किलात्मा ज्ञानस्वभावो, ज्ञानं तु ज्ञेयमात्रं; ततः समस्तज्ञेयान्तर्वर्तिज्ञानस्वभावमात्मानमात्मा शुद्धोपयोगप्रसादादेवासादयति ॥१५॥

अथ शुद्धोपयोगजन्यस्य शुद्धात्मस्वभावलाभस्य कारकान्तरनिरपेक्षतयाऽत्यन्तमात्मायत्तत्वं द्योतयति –

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो ।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभु त्ति णिद्दिट्ठो ॥१६॥

सर्वज्ञस्य ज्ञानसुखादिकं विचार्य पश्चादात्मकार्यं करोतीति व्याख्याति – उवओगविसुद्धो जो उपयोगेन शुद्धोपयोगेन परिणामेन विशुद्धो भूत्वा वर्तते यः विगदावरणंतरायमोहरओ भूदो विगतावरणान्तरायमोहरजोभूतः सन् । कथम् । सयमेव निश्चयेन स्वयमेव आदा स पूर्वोक्त आत्मा जादि याति गच्छति । किं । पारं पारमवसानम् । केषाम् । णेयभूदाणं ज्ञेयभूतपदार्थानाम् । सर्वं जानातीत्यर्थः । अतो विस्तरः – यो निर्मोहशुद्धात्मसंवित्तिलक्षणेन शुद्धोपयोगसंज्ञेनागमभाषया पृथक्त्ववितर्कवीचारप्रथमशुक्लध्यानेन पूर्वं निरवशेषमोहक्षपणं कृत्वा तदनन्तरं रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वसंवित्तिलक्षणेनैकत्ववितर्कावीचारसंज्ञद्वितीयशुक्लध्यानेन क्षीणकषायगुणस्थानेऽन्तर्मुहूर्तकालं स्थित्वा तस्यैवान्त्यसमये ज्ञानदर्शनावरणवीर्यान्तरायाभिधानघातिकर्मत्रयं युगपद्विनाशयति, स जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तवस्तुगतानन्तधर्माणां युगपत्प्रकाशकं केवलज्ञानं प्राप्नोति । ततः स्थितं शुद्धोपयोगात्सर्वज्ञो भवतीति ॥ १५ ॥ अथ शुद्धोपयोगजन्यस्य शुद्धात्मस्वभावलाभस्य भिन्नकारकनिरपेक्षत्वेनात्माधीनत्वं प्रकाशयति – तह सो लद्धसहावो यथा निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धोपयोगप्रसादात्सर्वं जानाति तथैव सः पूर्वोक्तलब्धशुद्धात्मस्वभावः सन् आदा अयमात्मा हवदि सयंभु त्ति णिद्दिट्ठो

अन्तिम समयमें ज्ञानावरण; दर्शनावरण और अन्तरायका युगपद् क्षय करके समस्त ज्ञेयोंको जाननेवाले केवलज्ञानको प्राप्त करता है । इसप्रकार शुद्धोपयोगसे ही शुद्धात्मस्वभावका लाभ होता है ॥ १५ ॥

अब, शुद्धोपयोगसे होनेवाली शुद्धात्मस्वभावकी प्राप्ति अन्य कारकोंसे निरपेक्ष (स्वतंत्र) होनेसे अत्यन्त आत्माधीन है (लेशमात्र पराधीन नहीं है) यह प्रगट करते हैं :—

गाथा १६

अन्वयार्थ :– [तथा] इसप्रकार [सः आत्मा] वह आत्मा [लब्धस्वभावः] स्वभावको प्राप्त [सर्वज्ञः] सर्वज्ञ [सर्वलोकपतिमहितः] और *सर्व (तीन) लोकके अधिपतियोंसे पूजित [स्वयमेव भूतः] स्वयमेव हुआ होनेसे [स्वयंभूः भवति] 'स्वयंभू' है [इति निर्दिष्टः] ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ।

* सर्वलोकके अधिपति = तीनों लोकके स्वामी – सुरेन्द्र, असुरेन्द्र और चक्रवर्ती ।

तथा स लब्धस्वभावः सर्वज्ञः सर्वलोकपतिमहितः ।
भूतः स्वयमेवात्मा भवति स्वयम्भूरिति निर्दिष्टः ॥१६॥

अयं खल्वात्मा शुद्धोपयोगभावनानुभावप्रत्यस्तमितसमस्तघातिकर्मतया समुपलब्ध-शुद्धानन्तशक्तिचित्स्वभावः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञायकस्वभावेन स्वतन्त्रत्वाद्गृहीतकर्तृत्वा-धिकारः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन प्राप्यत्वात् कर्मत्वं कलयन्, शुद्धानन्त-शक्तिज्ञानविपरिणमन[स्वभावेन साधकतमत्वात् करणत्वमनुबिभ्राणः,शुद्धानन्तशक्तिज्ञान-विपरिणमनस्वभावेन कर्मणा समाश्रियमाणत्वात् संप्रदानत्वंदधानः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञान-विपरिणमन]समये पूर्वप्रवृत्तविकलज्ञानस्वभावापगमेऽपि सहजज्ञानस्वभावेन ध्रुवत्वालम्ब-नादपादानत्वमुपाददानः शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावस्याधारभूतत्वादधिकरण-

---

स्वयम्भूर्भवतीति निर्दिष्टः कथितः। किंविशिष्टो भूतः। सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो भूदो सर्वज्ञः सर्वलोकपतिमहितश्च भूतः संजातः। कथम्। सयमेव निश्चयेन स्वयमेवेति। तथाहि—अभिन्नकारक-चिदानन्दैकचैतन्यस्वभावेन स्वतन्त्रत्वात् कर्ता भवति। नित्यानन्दैकस्वभावेन स्वयं प्राप्यत्वात् कर्मकारकं भवति। शुद्धचैतन्यस्वभावेन साधकतमत्वात्करणकारकं भवति। निर्विकारपरमानन्दैक-

---

टीका :—शुद्ध उपयोगकी भावनाके प्रभावसे समस्त घातिकर्मोंके नष्ट होनेसे जिसने शुद्ध अन्तशक्तिवान चैतन्य स्वभावको प्राप्त किया है, ऐसा यह (पूर्वोक्त) आत्मा, (१) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञायक स्वभावके कारण स्वतंत्र होनेसे जिसने **कर्तृत्वके** अधिकारको ग्रहण किया है ऐसा, (२) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञानरूपसे परिणमित होनेके स्वभावके कारण स्वयं ही प्राप्य होनेसे (स्वयं ही प्राप्त होता होनेसे) **कर्मत्वका** अनुभव करता हुआ, (३) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञानरूपसे परिणमित होनेके स्वभावसे स्वयं ही साधकतम (उत्कृष्ट साधन) होनेसे **करणताको** धारण करता हुआ, (४) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञानरूपसे परिणमित होनेके स्वभावके कारण स्वयं ही कर्म द्वारा समाश्रित होनेसे (अर्थात् कर्म स्वयंको ही देनेमें आता होनेसे) **सम्प्रदानताको** धारण करता हुआ, (५) शुद्ध अनन्तशक्तिमय ज्ञानरूपसे परिणमित होनेके समय पूर्वमें प्रवर्तमान [1]विकलज्ञानस्वभावका नाश होने

---

[1] विकलज्ञान=अपूर्ण (मति श्रुतादि) ज्ञान।

सर्वज्ञ, लब्ध स्वभावने त्रिजगेन्द्र पूजित ए रीते।
स्वयमेव जीव थयो थको तेने स्वयंभू जिन कहे ॥१६॥

त्वमात्मसात्कुर्वाणः, स्वयमेव षट्कारकीरूपेणोपजायमानः, उत्पत्तिव्यपेक्षया द्रव्यभाव-
भेदभिन्नघातिकर्माण्यपास्य स्वयमेवाविर्भूतत्वाद्वा स्वयंभूरिति निर्दिश्यते । अतो न

परिणतिलक्षणेन शुद्धात्मभावरूपकर्मणा समाश्रियमाणत्वात्संप्रदानं भवति । तथैव पूर्वमत्यादिज्ञान-
विकल्पविनाशेऽप्यखण्डितैकचैतन्यप्रकाशेनाविनश्वरत्वादपादानं भवति । निश्चयशुद्धचैतन्यादिगुण-
स्वभावात्मनः स्वयमेवाधारत्वादधिकरणं भवतीत्यभेदषट्कारकीरूपेण स्वत एव परिणममाणः

पर भी सहज ज्ञानस्वभावसे स्वयं ही ध्रुवता का अवलम्बन करनेसे **अपादानताको** धारण करता हुआ, और (६) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञानरूपसे परिणमित होनेके स्वभावका स्वयं ही आधार होने से **अधिकरणता को** आत्मसात् करता हुआ – (इस प्रकार) स्वयमेव छह कारकरूप होनेसे, अथवा उत्पत्ति - अपेक्षा से [1]'द्रव्य-भावभेदसे भिन्न घातिकर्मोंको दूर करके स्वयमेव आविर्भूत होनेसे, 'स्वयंभू' कहलाता है ।

यहाँ यह कहा गया है कि – निश्चयसे पर के साथ आत्मा का कारकताका सम्बन्ध नहीं है, कि जिससे शुद्धात्मस्वभावकी प्राप्तिके लिये सामग्री (बाह्य साधन) ढूंढनेकी व्यग्रतासे जीव (व्यर्थ ही) परतंत्र होते हैं ।

भावार्थ :– कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण नामक छह कारक हैं । जो स्वतंत्रतया-स्वाधीनतासे करता है वह कर्ता है; कर्ता जिसे प्राप्त करता है वह कर्म है; साधकतम अर्थात् उत्कृष्ट साधनको करण कहते हैं; कर्म जिसे दिया जाता है अथवा जिसके लिये किया जाता है वह सम्प्रदान है; जिसमेंसे कर्म किया जाता है, वह ध्रुववस्तु अपादान है, और जिसमें अर्थात् जिसके आधार से कर्म किया जाता है वह अधिकरण है । यह छह कारक व्यवहार और निश्चयके भेदसे दो प्रकारके हैं । जहाँ परके निमित्तसे कार्य की सिद्धि कहलाती है वहाँ व्यवहार कारक हैं, और जहाँ अपने ही उपादान कारण से कार्य की सिद्धि की जाती है वहाँ निश्चय कारक हैं ।

व्यवहार कारकोंका दृष्टान्त इस प्रकार है – कुम्हार कर्ता है; घड़ा कर्म है; दंड, चक्र, चीवर इत्यादि करण हैं; कुम्हार जल भरनेवालेके लिये घड़ा बनाता है, इसलिये जल भरनेवाला सम्प्रदान है; टोकरीमेंसे मिट्टी लेकर घड़ा बनाता है, इसलिये टोकरी अपादान है, और पृथ्वीके आधार पर घड़ा बनाता है, इसलिये पृथ्वी अधिकरण है ।

---

[1] द्रव्य-भावभेदसे भिन्न घातिकर्म = द्रव्य और भावके भेदसे भेदवाले घातिकर्म ।

निश्चयतः परेण सहात्मनः कारकत्वसम्बन्धोऽस्ति, यतः शुद्धात्मस्वभावलाभाय सामग्रीमार्गणव्यग्रतया परतंत्रैर्भूयते ।।१६।।

सन्नयमात्मा परमात्मस्वभावकेवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे यतो भिन्नकारकं नापेक्षते ततः स्वयंभूर्भवतीति

है। यहाँ सभी कारक भिन्न-भिन्न हैं। अन्य कर्त्ता है; अन्य कर्म है; अन्य करण है; अन्य सम्प्रदान; अन्य अपादान और अन्य अधिकरण है। परमार्थतः कोई द्रव्य किसीका कर्त्ता – हर्ता नहीं हो सकता, इसलिये यह छहों व्यवहार कारक असत्य हैं। वे मात्र उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे कहे जाते हैं। निश्चयसे किसी द्रव्यका अन्य द्रव्यके साथ कारणताका सम्बन्ध है ही नहीं।

निश्चय कारकोंका दृष्टान्त इस प्रकार है :– मिट्टी स्वतन्त्रतया घटरूप कार्यको प्राप्त होती है इसलिए मिट्टी कर्ता है और घड़ा कर्म है। अथवा, घड़ा मिट्टीसे अभिन्न है इसलिए मिट्टी स्वयं ही कर्म है; अपने परिणमन स्वभाव से मिट्टीने घड़ा बनाया इसलिए मिट्टी स्वयं ही करण है; मिट्टीने घड़ारूप कर्म अपनेको ही दिया इसलिए मिट्टी स्वयं सम्प्रदान है; मिट्टीने अपनेमेंसे पिंडरूप अवस्था नष्ट करके घटरूप कर्म किया और स्वयं ध्रुव बनी रही इसलिए वह स्वयं ही अपादान है; मिट्टीने अपने ही आधार से घड़ा बनाया इसलिए स्वयं ही अधिकरण है। इसप्रकार निश्चयसे छहों कारक एक ही द्रव्यमें हैं। परमार्थतः एक द्रव्य दूसरे की सहायता नहीं कर सकता और द्रव्य स्वयं ही, अपनेको, अपनेसे, अपने लिए, अपनेमेंसे, अपनेमें करता है इसलिए निश्चय छह कारक ही परम सत्य हैं।

उपरोक्त प्रकारसे द्रव्य स्वयं ही अपनी अनन्त शक्तिरूप सम्पदासे परिपूर्ण है इसलिए स्वयं ही छह कारकरूप होकर अपना कार्य करनेके लिए समर्थ है, उसे बाह्य सामग्री कोई सहायता नहीं कर सकती। इसलिए केवलज्ञान प्राप्तिके इच्छुक आत्माको बाह्य सामग्रीकी अपेक्षा रखकर परतंत्र होना निरर्थक है। शुद्धोपयोगमें लीन आत्मा स्वयं ही छह कारकरूप होकर केवलज्ञान प्राप्त करता है। वह आत्मा स्वयं अनन्तशक्तिवान ज्ञायकस्वभावसे स्वतन्त्र है इसलिए स्वयं ही कर्ता है; स्वयं अनन्तशक्तिवाले केवलज्ञानको प्राप्त करनेसे केवलज्ञान कर्म है, अथवा केवलज्ञानसे स्वयं अभिन्न होनेसे आत्मा स्वयं ही कर्म है; अपने अनन्त शक्तिवाले परिणमन स्वभावरूप उत्कृष्ट साधनसे केवलज्ञानको प्रगट करता है, इसलिए आत्मा स्वयं ही करण है; अपनेको ही केवलज्ञान देता है, इसलिये आत्मा स्वयं ही सम्प्रदान है;

अथ स्वायम्भुवस्यास्य शुद्धात्मस्वभावलाभस्यात्यन्तमनपायित्वं कथंचिदुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वं चालोचयति –

भंगविहूणो य भवो संभवपरिवज्जिदो विणासो हि।
विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवाओ ॥१७॥

भङ्गविहीनश्च भवः संभवपरिवर्जितो विनाशो हि।
विद्यते तस्यैव पुनः स्थितिसंभवनाशसमवायः ॥१७॥

भावार्थः ॥ १६ ॥ एवं सर्वज्ञमुख्यत्वेन प्रथमगाथा। स्वयंभूमुख्यत्वेन द्वितीया चेति प्रथमस्थले गाथाद्वयं गतम् ॥ अथास्य भगवतो द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेऽपि पर्यायार्थिकनयेनानित्यत्वमुपदिशति – **भंगविहीणो य भवो** भङ्गविहीनश्च भवः जीवितमरणादिसमताभावलक्षणपरमोपेक्षासंयमरूपशुद्धोपयोगेनोत्पन्नो योऽसौ भवः केवलज्ञानोत्पादः। स किंविशिष्टः। भङ्गविहीनो विनाशरहितः। **संभवपरिवज्जिदो विणासो त्ति** संभवपरिवर्जितो विनाश इति। योऽसौ मिथ्यात्वरागादिसंसरणरूपसंसारपर्यायस्य विनाशः। स किंविशिष्टः। संभवविहीनः निर्विकारात्मतत्त्वविलक्षणरागादि-

---

अपनेमेंसे मति श्रुतादि अपूर्ण ज्ञान दूर करके केवलज्ञान प्रगट करता है इसलिये और स्वयं सहज ज्ञान स्वभावके द्वारा ध्रुव रहता है इसलिये स्वयं ही अपादान है, अपनेमें ही अर्थात् अपने ही आधारसे केवलज्ञान प्रगट करता है, इसलिये स्वयं ही अधिकरण है। इसप्रकार स्वयं छह कारकरूप होता है, इसलिये वह 'स्वयंभू' कहलाता है। अथवा, अनादिकालसे अति दृढ़ बँधे हुए (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतरायरूप) द्रव्य तथा भाव घातिकर्मोंको नष्ट करके स्वयमेव आविर्भूत हुआ अर्थात् किसीकी सहायताके बिना अपने आप ही स्वयं प्रगट हुआ इसलिये 'स्वयंभू' कहलाता है ॥१६॥

अब इस स्वयंभूके शुद्धात्मस्वभावकी प्राप्तिके अत्यन्त अविनाशीपना और कथंचित् (कोई प्रकारसे) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तताका विचार करते हैं :–

गाथा १७

अन्वयार्थ :– [भङ्गविहीनः च भवः] इसके [illegible] विनाश रहित उत्पाद है, और [संभवपरिवर्जितः विनाशः हि] उत्पाद रहित विनाश है।

व्ययहीन छे उत्पाद ने उत्पाद हीन विनाश छे।
तेने ज वळी उत्पाद ध्रौव्य विनाशनो समवाय छे ॥१७॥

अस्य खल्वात्मनः शुद्धोपयोगप्रसादात् शुद्धात्मस्वभावेन यो भवः स पुनस्तेन रूपेण प्रलयाभावाद्भङ्गविहीनः। यस्त्वशुद्धात्मस्वभावेन विनाशः स पुनरुत्पादाभावात्संभवपरिवर्जितः। अतोऽस्य सिद्धत्वेनानपायित्वम्। एवमपि स्थितिसंभवनाशसमवायोऽस्य न विप्रतिषिध्यते, भङ्गरहितोत्पादेन संभववर्जितविनाशेन तद्द्वयाधारभूतद्रव्येण च समवेतत्वात् ॥१७॥

परिणामाभावाद्भङ्गविहीनः। [illegible] नास्ति। विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवाओ [illegible] तस्यैव भगवतः पर्यायार्थिकनयेन [illegible] विनाशः, केवलज्ञानादिगुणाधारद्रव्यत्वेन [illegible] पर्यायार्थिकनयेनोत्पाद [illegible] ॥ १७ ॥ [illegible]

[तस्य एव पुनः] उनके ही फिर [स्थितिसंभवनाशसमवायः विद्यते] ध्रौव्य, उत्पाद और विनाशका समवाय मिलाप, एकत्रपना विद्यमान है।

टीका :– वास्तवमें इस (शुद्धात्मस्वभावको प्राप्त) आत्माके शुद्धोपयोगके प्रसादसे हुआ जो शुद्धात्मस्वभावसे (शुद्धात्मस्वभावरूपसे) उत्पाद है वह, पुनः उसरूपसे प्रलयका अभाव होनेसे विनाश रहित है; और (उस आत्माके शुद्धोपयोगके प्रसादसे हुआ) जो अशुद्धात्मस्वभावसे विनाश है वह पुनः उत्पत्तिका अभाव होनेसे, उत्पाद रहित है। इससे (यह कहा है कि) उस आत्माके सिद्धरूपसे अविनाशीपन है। ऐसा होनेपर भी उस आत्माके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका समवाय विरोधको प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह विनाश रहित उत्पादके साथ, उत्पाद रहित विनाशके साथ और उन दोनोंके आधारभूत द्रव्यके साथ समवेत (तन्मयतासे युक्त एकमेक) है।

भावार्थ :– स्वयंभू सर्वज्ञ भगवानके जो शुद्धात्म स्वभाव उत्पन्न हुआ वह कभी नष्ट नहीं होता, इसलिये उनके विनाशरहित उत्पाद है; और अनादि अविद्या जनित विभाव परिणाम एक बार सर्वथा नाशको प्राप्त होनेके बाद फिर कभी उत्पन्न नहीं होते, इसलिये उनके उत्पाद रहित विनाश है। इसप्रकार यहाँ यह कहा है कि वे सिद्धरूपसे अविनाशी हैं। इसप्रकार अविनाशी होनेपर भी वे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त हैं; क्योंकि शुद्ध पर्यायकी अपेक्षासे उनके उत्पाद है, अशुद्ध पर्यायकी अपेक्षासे व्यय है और उन दोनोंके आधारभूत आत्मत्वकी अपेक्षासे ध्रौव्य है ॥१७॥

अब, उत्पाद आदि तीनों (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य) सर्व द्रव्योंके साधारण है

अथोत्पादादित्रयं सर्वद्रव्यसाधारणत्वेन शुद्धात्मनोऽप्यवश्यंभावीति विभावयति –

उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स ।
पज्जाएण दु केणवि अट्ठो खलु होदि सब्भूदो ॥१८॥

उत्पादश्च विनाशो विद्यते सर्वस्यार्थजातस्य ।
पर्यायेण तु केनाप्यर्थः खलु भवति सद्भूतः ॥१८॥

इत्यते सर्वदामूर्तेऽपि सिद्धस्वरूपे विज्ञेयं पदार्थत्वादिति निरूपयति – उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स उत्पादश्च विनाशश्च विद्यते तावत्सर्वस्यार्थजातस्य पदार्थसमूहस्य । केन कृत्वा । पज्जाएण दु केणवि पर्यायेण तु केनापि विवक्षितेनार्थव्यञ्जनरूपेण स्वभावविभावरूपेण वा । स चार्थः किंविशिष्टः । अट्ठो खलु होदि सब्भूदो अर्थः खलु स्फुटं सत्ताभूतः सत्ताया अभिन्नो भवतीति ।

इसलिये शुद्धआत्मा (केवली भगवान और सिद्ध भगवान) के भी [1]अवश्यम्भावी है ऐसा व्यक्त करते हैं :–

गाथा १८

अन्वयार्थ :– [उत्पादः] किसी पर्यायसे उत्पाद [विनाशः च] और किसी पर्यायसे विनाश [सर्वस्य] सर्व [अर्थजातस्य] पदार्थमात्रके [विद्यते] होता है; [केन अपि पर्यायेण तु] और किसी पर्यायसे [अर्थः] पदार्थ [सद्भूतः खलु भवति] वास्तवमें ध्रुव है ।

टीका :– जैसे उत्तम स्वर्णकी बाजूबन्दरूप पर्यायसे उत्पत्ति दिखाई देती है, पूर्व अवस्थारूपसे वर्तनेवाली अँगूठी इत्यादिक पर्यायसे विनाश देखा जाता है और पीलापन इत्यादि पर्यायसे दोनोंमें (बाजूबन्द और अँगूठी में) उत्पत्ति-विनाशको प्राप्त न होनेसे ध्रौव्यत्व दिखाई देता है । इसप्रकार सर्व द्रव्योंके किसी पर्यायसे उत्पाद, किसी पर्यायसे विनाश और किसी पर्यायसे ध्रौव्य होता है, ऐसा जानना चाहिये । इससे (यह कहा गया है कि) शुद्ध आत्माके भी [illegible] [illegible] उत्पाद, व्यय ध्रौव्यरूप अस्तित्व अवश्यम्भावी है ।

[1] अवश्यम्भावी = अवश्य होनेवाला; अपरिहार्य ।

उत्पाद तेम विनाश छे सौ कोई वस्तु मात्र ने,
वळी कोई पर्यय थी दरेक पदार्थ छे सद्भूत खरे ॥१८॥

यथाहि जात्यजाम्बूनदस्याङ्गदपर्यायेणोत्पत्तिर्दृष्टा; पूर्वव्यवस्थितांगुलीयकादिपर्यायेण च विनाशः, पीततादिपर्यायेण तूभयत्राप्युत्पत्तिविनाशावनासादयतः ध्रुवत्वम्; एवमखिलद्रव्याणां केनचित्पर्यायेणोत्पादः केनचिद्विनाशः केनचिद्ध्रौव्यमित्यवबोद्धव्यम्। अतः शुद्धात्मनोऽप्युत्पादादित्रयरूपं द्रव्यलक्षणभूतमस्तित्वमवश्यंभावि ॥१८॥

तथाहि – सुवर्णगोरसमृत्तिकापुरुषादिमूर्तपदार्थेषु यथोत्पादादित्रयं लोके प्रसिद्धं तथैवामूर्तेऽपि मुक्तजीवे। यद्यपि शुद्धात्मरुचिपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिलक्षणस्य संसारावसानोत्पन्नकारणसमयसारपर्यायस्य विनाशो भवति तथैव केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारपर्यायस्योत्पादश्च भवति, तथाप्युभयपर्यायपरिणतात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यत्वं पदार्थत्वादिति। अथवा यथा ज्ञेयपदार्थाः प्रतिक्षणं भङ्गत्रयेण परिणमन्ति तथा ज्ञानमपि परिच्छित्त्यपेक्षया भङ्गत्रयेण परिणमति। षट्स्थानगतागुरुलघुकगुणवृद्धिहान्यपेक्षया वा भङ्गत्रयमवबोद्धव्यमिति सूत्रतात्पर्यम् ॥ १८ ॥ एवं सिद्धजीवे द्रव्यार्थिक

भावार्थ :– द्रव्यका लक्षण अस्तित्व है और अस्तित्व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है। इसलिये किसी पर्यायसे उत्पाद, किसी पर्यायसे विनाश और किसी पर्यायसे ध्रौव्यत्व प्रत्येक पदार्थके होता है।

प्रश्न :– 'द्रव्यका अस्तित्व उत्पादादिक तीनोंसे क्यों कहा है? एकमात्र ध्रौव्यसे ही कहना चाहिये; क्योंकि जो ध्रुव रहता है वह सदा बना रह सकता है?'

उत्तर :– यदि पदार्थ ध्रुव ही हो तो मिट्टी, सोना, दूध इत्यादि समस्त पदार्थ एक ही सामान्य आकारसे रहना चाहिये; और घड़ा, कुंडल, दही इत्यादि भेद कभी न होना चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं होता अर्थात् भेद तो अवश्य दिखाई देते हैं। इसलिये पदार्थ सर्वथा ध्रुव न रहकर किसी पर्यायसे उत्पन्न और किसी पर्यायसे नष्ट भी होते हैं। यदि ऐसा न माना जाये तो संसारका ही लोप हो जाये।

इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय है, इसलिये मुक्त आत्माके भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अवश्य होते हैं। यदि स्थूलतासे देखा जाये तो, सिद्ध पर्यायका उत्पाद और संसार पर्यायका व्यय हुआ तथा आत्मत्व ध्रुव बना रहा। इस अपेक्षासे मुक्त आत्माके भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता है। अथवा, मुक्त आत्माका ज्ञान ज्ञेय पदार्थोंके आकाररूप हुआ करता है इसलिये समस्त ज्ञेय पदार्थोंमें जिस जिस प्रकारसे उत्पादादिक होता है उस-उस प्रकारसे ज्ञानमें उत्पादादिक होता रहता है, इसलिये मुक्त आत्माके समय समय पर उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता है। अथवा अधिक सूक्ष्मतासे देखा जाये तो, अगुरुलघुगुणमें होनेवाली षटगुनी हानि वृद्धिके कारण मुक्त आत्मामें समय-समयपर उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य वर्तता है। यहाँ जैसे सिद्धभगवानके उत्पादादि कहे हैं

अथास्यात्मनः शुद्धोपयोगानुभावात्स्वयंभुवो भूतस्य कथमिन्द्रियैर्विना ज्ञानानन्दाविति संदेहमुदस्यति –

पक्खीणघादिकम्मो अणंतवरवीरिओ अहियतेजो ।
जादो अदिंदिओ सो णाणं सोक्खं च परिणमदि ॥१९॥

प्रक्षीणघातिकर्मा अनन्तवरवीर्योऽधिकतेजाः ।
जातोऽतीन्द्रियः स ज्ञानं सौख्यं च परिणमति ॥१९॥

नयेन नित्यत्वेऽपि विवक्षित पर्यायेणोत्पादव्ययध्रौव्यस्थापनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाद्वयं गतम् । अथ तं पूर्वोक्तसर्वज्ञं ये मन्यन्ते ते सम्यग्दृष्टयो भवन्ति, परम्परया मोक्षं च लभन्त इति प्रतिपादयति –

तं सव्वट्ठवरिट्ठं इट्ठं अमरासुरप्पहाणेहिं ।
ये सद्दहंति जीवा तेसिं दुक्खाणि खीयंति ॥ १ ॥

तं सव्वट्ठवरिट्ठं तं सर्वार्थवरिष्ठं इट्ठं इष्टमभिमतं । कैः । अमरासुरप्पहाणेहिं अमरासुरप्रधानैः । ये सद्दहंति ये श्रद्दधति रोचन्ते जीवा भव्यजीवाः । तेसिं तेषाम् । दुक्खाणि वीतरागपारमार्थिकसुखविलक्षणानि दुःखानि । खीयंति विनाशं गच्छन्ति, इति सूत्रार्थः ॥ १ ॥ एवं निर्दोषिपरमात्मश्रद्धानान्मोक्षो भवतीति कथनरूपेण तृतीयस्थले गाथा गता ॥ अथास्यात्मनो निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणशुद्धोपयोगप्रभावात्सर्वज्ञत्वे सतीन्द्रियैर्विना कथं ज्ञानानन्दाविति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति – पक्खीणघादिकम्मो ज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयस्वरूपपरमात्मद्रव्यभावनालक्षणशुद्धोपयोग-

---

उसीप्रकार केवली भगवानके भी यथायोग्य समझ लेना चाहिये ॥१८॥

अब, शुद्धोपयोगके प्रभावसे स्वयंभू हुए इस (पूर्वोक्त) आत्माके इन्द्रियोंके बिना ज्ञान और आनन्द कैसे होता है ? ऐसे संदेहका निवारण करते हैं :–

गाथा १९

अन्वयार्थ :– [प्रक्षीणघातिकर्मा] जिसके घातिकर्म क्षय हो चुके हैं, [अतीन्द्रियः जातः] जो अतीन्द्रिय होगया है, [अनन्तवरवीर्यः] अनन्त जिसका उत्तम वीर्य है और [अधिकतेजाः] [1]अधिक जिसका (केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप) तेज है [सः] ऐसा वह (स्वयंभू आत्मा) [ज्ञानं सौख्यं च] ज्ञान और सुखरूप [परिणमति] परिणमन करता है ।

---

[1] अधिक = उत्कृष्ट; असाधारण, अत्यन्त ।

प्रक्षीण घाति कर्म, अनहद वीर्य, अधिक प्रकाशने ।
इन्द्रिय-अतीत थयेल आत्मा ज्ञानसौख्ये परिणमे ॥१९॥

अयं खल्वात्मा शुद्धोपयोगसामर्थ्यात् प्रक्षीणघातिकर्मा, क्षायोपशमिकज्ञानदर्शनासंपृक्तत्वादतीन्द्रियो भूतः सन्निखिलान्तरायक्षयादनन्तवरवीर्यः, कृत्स्नज्ञानदर्शनावरणप्रलयादधिककेवलज्ञानदर्शनाभिधानतेजाः, समस्तमोहनीयाभावादत्यन्तनिर्विकारशुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमासादयन् स्वयमेव स्वपरप्रकाशकत्वलक्षणं ज्ञानमनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं च भूत्वा परिणमते। एवमात्मनो ज्ञानानन्दौ स्वभाव एव। स्वभावस्य तु परानपेक्षत्वादिन्द्रियैर्विनाप्यात्मनो ज्ञानानन्दौ संभवतः ॥१९॥

वलेन प्रक्षीणघातिकर्मा सन्। अणंतवरवीरिओ अनन्तवरवीर्यः। पुनरपि किंविशिष्टः। अहियतेजो अधिकतेजाः। अत्र तेजः शब्देन केवलज्ञानदर्शनद्वयं ग्राह्यम्। जादो सो स पूर्वोक्तलक्षण आत्मा जातः संजातः। कथंभूतः। अणिंदियो अनिन्द्रिय इन्द्रियविषयव्यापाररहितः। अनिन्द्रियः सन् किं करोति। णाणं सोक्खं च परिणमदि केवलज्ञानमनन्तसौख्यं च परिणमतीति। तथाहि — अनेन व्याख्यानेन किमुक्तं भवति, आत्मा तावन्निश्चयेनानन्तज्ञानसुखस्वभावोऽपि व्यवहारेण संसारावस्थायां कर्मप्रच्छादितज्ञानसुखः सन् पश्चादिन्द्रियाधारेण किमप्यल्पज्ञानं सुखं च परिणमति। यदा पुनर्निर्विकल्पस्वसंवित्तिवलेन कर्माभावो भवति तदा क्षयोपशमाभावादिन्द्रियाणि न सन्ति स्वकीयातीन्द्रियज्ञानं सुखं चानुभवति। ततः स्थितं इन्द्रियाभावेऽपि स्वकीयानन्तज्ञानं सुखं चानुभवति। तदपि

टीका :— शुद्धोपयोगके सामर्थ्यसे जिसके घातिकर्म क्षयको प्राप्त हुए हैं, क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शनके साथ असंपृक्त (संपर्क रहित) होनेसे जो अतीन्द्रिय होगया है, समस्त अन्तरायका क्षय होनेसे अनन्त जिसका उत्तम वीर्य है, समस्त ज्ञानावरण और दर्शनावरणका प्रलय हो जानेसे अधिक जिसका केवलज्ञान और केवलदर्शन नामक तेज है — ऐसा यह (स्वयंभू) आत्मा, समस्त मोहनीयके अभावके कारण अत्यंत निर्विकार शुद्ध चैतन्य स्वभाववाले आत्माका (अत्यन्त निर्विकार शुद्ध चैतन्य जिसका स्वभाव है ऐसे आत्माका) अनुभव करता हुआ स्वयमेव स्वपर-प्रकाशकता लक्षण ज्ञान और अनाकुलता लक्षण सुख होकर परिणमित होता है। इसप्रकार आत्माका, ज्ञान और आनन्द स्वभाव ही है। और स्वभाव परसे [1]अनपेक्ष होनेके कारण इन्द्रियोंके विना भी आत्माके ज्ञान और आनन्द होताहै।

भावार्थ :— आत्माको ज्ञान और सुखरूप परिणमित होनेमें इन्द्रियादिक पर निमित्तोंकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप स्वपर-प्रकाशकता है ऐसा ज्ञान और जिसका लक्षण अनाकुलता है ऐसा सुख आत्माका स्वभाव ही है ॥१९॥

---

[1] अनपेक्ष=स्वतंत्र; उदासीन; अपेक्षा रहित।

अथातीन्द्रियत्वादेव शुद्धात्मनः शारीरं सुखदुःखं नास्तीति विभावयति –

सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं ।
जम्हा अदिंदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं ॥२०॥

कस्मात् । स्वभावस्य परापेक्षा नास्तीत्यभिप्रायः ॥ १९ ॥ अथातीन्द्रियत्वादेव केवलिनः शरीराधारोद्भूतं भोजनादिसुखं क्षुधादिदुःखं च नास्तीति विचारयति – सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि सुखं वा पुनर्दुःखं वा केवलज्ञानिनो नास्ति । कथंभूतम् । देहगदं देहगतं देहाधारजिह्वेन्द्रियादिसमुत्पन्नं कवलाहारादिसुखम्, असातोदयजनितं क्षुधादिदुःखं च । कस्मान्नास्ति । जम्हा अदिंदियत्तं जादं यस्मान्मोहादिघातिकर्माभावे पञ्चेन्द्रियविषयव्यापाररहितत्वं जातम् । तम्हा दु तं णेयं तस्मादतीन्द्रियत्वाद्धेतोरतीन्द्रियमेव तज्ज्ञानं सुखं च ज्ञेयमिति । तद्यथा – लोहपिण्डसंसर्गाभावादग्निर्यथा घनघातपिट्टनं न लभते तथायमात्मापि लोहपिण्डस्थानीयेन्द्रियग्रामाभावात् सांसारिकसुखदुःखं नानुभवतीत्यर्थः । कश्चिदाह–केवलिनां भुक्तिरस्ति, औदारिकशरीरसद्भावात् । असद्वेद्यकर्मोदयसद्भावाद्वा । अस्मदादिवत् । परिहारमाह–तद्भगवतः शरीरमौदारिकं न भवति किंतु परमौदारिकम् । तथा चोक्तं – "शुद्धस्फटिकसंकाशं तेजोमूर्तिमयं वपुः । जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम्" ॥ यच्चोक्तमसद्वेद्योदयसद्भावात्तत्र परिहारमाह – यथा व्रीह्यादिबीजं जलसहकारिकारणसहितमङ्कुरादिकार्यं जनयति तथैवासद्वेद्यकर्म मोहनीयसहकारिकारणसहितं क्षुधादिकार्यमुत्पादयति । कस्मात् । 'मोहस्स बलेण घाददे जीवं' इति वचनात् । यदि पुनर्मोहाभावेऽपि क्षुधादिपरीषहं जनयति तर्हि वधरोगादिपरीषहमपि जनयतु, न च तथा । तदपि कस्मात् । 'भुक्त्युपसर्गाभावात्' इति वचनात् । अन्यदपि दूषणमस्ति । यदि क्षुधाबाधास्ति तर्हि क्षुधाक्षीणशक्तेरनन्तवीर्यं नास्ति । तथैव क्षुधादुःखितस्यानन्तसुखमपि नास्ति । जिह्वेन्द्रियपरिच्छित्तिरूपमतिज्ञानपरिणतस्य केवलज्ञानमपि न संभवति । अथवा अन्यदपि कारणमस्ति । असद्वेद्योदयापेक्षया सद्वेद्योदयोऽनन्तगुणोऽस्ति । ततः कारणात् शर्कराराशिमध्ये निम्बकणिकावदसद्वेद्योदयो विद्यमानोऽपि न ज्ञायते । तथैवान्यदपि

अब अतीन्द्रियताके कारण ही शुद्ध आत्माके (केवली भगवानके) शारीरिक सुख दुःख नहीं है यह व्यक्त करते हैं :–

गाथा २०

अन्वयार्थ :– [केवलज्ञानिनः] केवलज्ञानीके [देहगतं] शरीरसम्बन्धी [सौख्यं] सुख [वा पुनः दुःखं] या दुःख [नास्ति] नहीं है, [यस्मात्] क्योंकि [अतीन्द्रियत्वं जातं] अतीन्द्रियता उत्पन्न हुई है [तस्मात् तु तत् ज्ञेयम्] इसलिये ऐसा जानना चाहिये ।

[illegible] देहगत नथी सुख के नथी दुःख केवलज्ञानीने ।
जेथी अतीन्द्रियता थई ते कारणे ए जाणजे ॥२०॥

टीका :– जैसे अग्निको लोहपिण्डके तप्त पुद्गलोंका समस्त विलास नहीं है (अर्थात् अग्नि लोहेके गोलेके पुद्गलोंके विलाससे – उनकी क्रियासे भिन्न है) उसीप्रकार शुद्ध आत्माके (अर्थात् केवलज्ञानी भगवानके) इन्द्रियसमूह नहीं है, इसीलिये जैसे अग्निको घनके घोर आघातोंकी परम्परा नहीं है (लोहेके गोलेके संसर्गका अभाव होने पर घनके लगातार आघातोंकी भयंकर मार अग्निपर नहीं पड़ती) इसीप्रकार शुद्ध आत्माके शरीर सम्बन्धी सुख दुःख नहीं हैं।

यत एव शुद्धात्मनो जातवेदस इव कालायसगोलोत्कूलितपुद्गलाशेषविलासकल्पो नास्तीन्द्रियग्रामस्तत एव घोरघनघाताभिघातपरम्परास्थानीयं शरीरगतं सुखदुःखं न स्यात् ॥२०॥

अथ ज्ञानस्वरूपप्रपञ्चं सौख्यस्वरूपप्रपञ्चं च क्रमप्रवृत्तप्रबन्धद्वयेनाभिदधाति । तत्र केवलिनोऽतीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वात्सर्वं प्रत्यक्षं भवतीति विभावयति —

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जया ।
सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ॥२१॥

विशेषात्प्रकटा भुक्तिर्नास्ति प्रच्छन्ना विद्यते । तर्हि परमौदारिकशरीरत्वाद्भुक्तिरेव नास्त्ययमेवातिशयः किं न भवति । तत्र तु प्रच्छन्नभुक्तौ मायास्थानं दैन्यवृत्तिः, अन्येऽपि पिण्डशुद्धिकथिता दोषा बहवो भवन्ति । ते चान्यत्र तर्कशास्त्रे ज्ञातव्याः । अत्र चाध्यात्मग्रंथत्वान्नोच्यन्त इति । अयमत्र भावार्थः– इदं वस्तुस्वरूपमेव ज्ञातव्यमत्राग्रहो न कर्तव्यः । कस्मात् । दुराग्रहे सति रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति ततश्च निर्विकारचिदानन्दैकस्वभावपरमात्मभावनाविघातो भवतीति ॥ २० ॥ एवमनन्तज्ञानसुखस्थापने प्रथमगाथा केवलिभुक्तिनिराकरणे द्वितीया चेति गाथाद्वयं गतम् ।

इति सप्तगाथाभिः स्थलचतुष्टयेन सामान्येन सर्वज्ञसिद्धिनामा द्वितीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः ॥

अथ ज्ञानप्रपञ्चाभिधानान्तराधिकारे त्रयस्त्रिंशद्गाथा भवन्ति । तत्राष्टौ स्थलानि । तेष्वादौ केवलज्ञानस्य सर्वं प्रत्यक्षं भवतीति कथनमुख्यत्वेन 'परिणमदो खलु' इत्यादिगाथाद्वयम्, अथात्मज्ञानयोर्निश्चयेनासंख्यातप्रदेशत्वेऽपि व्यवहारेण सर्वगतत्वं भवतीत्यादिकथनमुख्यत्वेन 'आदा णाणपमाणं' इत्यादिगाथापञ्चकम्, ततः परं ज्ञानज्ञेययोः परस्परगमननिराकरणमुख्यतया 'णाणी णाणसहावो' इत्यादिगाथापञ्चकम्, अथ निश्चयव्यवहारकेवलिप्रतिपादनादिमुख्यत्वेन 'जो हि सुदेण' इत्यादिसूत्रचतुष्टयम्, अथ वर्तमानज्ञाने कालत्रयपर्यायपरिच्छित्तिकथनादिरूपेण 'तक्कालिगेव सव्वे' इत्यादिसूत्रपञ्चकम्, अथ केवलज्ञानं बन्धकारणं न भवति रागादिविकल्परहितं छद्मस्थज्ञानमपि, किंतु रागादयो बन्धकारणमित्यादिनिरूपणमुख्यतया 'परिणमदि णेयं' इत्यादिसूत्रपञ्चकम्, अथ

भावार्थ :— केवली भगवानके शरीर सम्बन्धी क्षुधादिका दुःख या भोजनादिका सुख नहीं होता इसलिये उनके कवलाहार नहीं होता ॥२०॥

अब, ज्ञानके स्वरूपका विस्तार और सुखके स्वरूपका विस्तार क्रमशः प्रवर्तमान दो अधिकारोंके द्वारा कहते हैं । इनमेंसे (प्रथम) अतीन्द्रिय ज्ञानरूप परिणमित होनेसे केवली भगवानके सब प्रत्यक्ष है यह प्रगट करते हैं :—

प्रत्यक्ष है सौ द्रव्यपर्यय ज्ञानपरिणमनारने ।
जाणे नहीं ते तेमने अवग्रह-ईहादिक्रिया वडे ॥२१॥

गाथा २१

अन्वयार्थ :– [**खलु**] वास्तवमें [**ज्ञानं परिणममानस्य**] ज्ञानरूपसे (केवलज्ञानरूपसे) परिणमित होते हुए केवलीभगवानके [**सर्वद्रव्यपर्यायाः**] सर्व द्रव्य-पर्यायें [**प्रत्यक्षाः**] प्रत्यक्ष हैं; [**सः**] वे [**तान्**] उन्हें [**अवग्रहपूर्वाभिः क्रियाभिः**] अवग्रहादि क्रियाओंसे [**नैव विजानाति**] नहीं जानते।

टीका :– केवलीभगवान इन्द्रियोंके आलम्बनसे अवग्रह-ईहा-अवाय पूर्वक क्रमसे नहीं जानते, (किन्तु) स्वयमेव समस्त आवरणके क्षयके क्षण ही, अनादि अनन्त, अहेतुक और असाधारण ज्ञानस्वभावको ही कारणरूप ग्रहण करनेसे तत्काल ही प्रगट होनेवाले केवलज्ञानोपयोगरूप होकर परिणमित होते हैं; इसलिये उनके समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका अक्रमिक ग्रहण होनेसे समक्ष संवेदनकी (प्रत्यक्ष ज्ञानकी) आलम्बनभूत समस्त द्रव्य-पर्यायें प्रत्यक्ष ही हैं।

भावार्थ :– जिसका न आदि है और न अंत है, तथा जिसका कोई कारण नहीं और जो अन्य किसी द्रव्यमें नहीं है, ऐसे ज्ञान स्वभावको ही उपादेय करके, केवलज्ञानकी उत्पत्तिके बीजभूत शुक्लध्यान नामक स्वसंवेदनज्ञानरूपसे जब आत्मा परिणमित होता है तब उसके निमित्तसे सर्व घातिकर्मोंका क्षय हो जाता है और उस क्षय होनेके समय ही आत्मा स्वयमेव केवलज्ञानरूप परिणमित होने लगता है। वे केवलज्ञानी

समस्तावरणक्षयक्षण एवानाद्यनन्ताहेतुकासाधारणभूतज्ञानस्वभावमेव कारणत्वेनोपादाय तदुपरि प्रविकसत्केवलज्ञानोपयोगीभूय विपरिणमते, ततोऽस्याक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्य-क्षेत्रकालभावतया समक्षसंवेदनालम्बनभूताः सर्वद्रव्यपर्यायाः प्रत्यक्षा एव भवन्ति ॥२१॥

अथास्य भगवतोऽतीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वादेव न किंचित्परोक्षं भवतीत्यभिप्रैति –

णत्थि परोक्खं किंचि वि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स ।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स ॥२२॥

नास्ति परोक्षं किंचिदपि समन्ततः सर्वाक्षगुणसमृद्धस्य ।
अक्षातीतस्य सदा स्वयमेव हि ज्ञानजातस्य ॥२२॥

परिच्छित्त्याकारपरिणतस्य तस्मिन्नेव क्षणे क्रमप्रवृत्तक्षायोपशमिकज्ञानाभावादक्रमसमाक्रान्तसमस्त-द्रव्यक्षेत्रकालभावतया सर्वद्रव्यगुणपर्याया अस्यात्मनः प्रत्यक्षा भवन्तीत्यभिप्रायः ॥ २१ ॥ अथ सर्वं प्रत्यक्षं भवतीत्यन्वयरूपेण पूर्वसूत्रे भणितमिदानीं तु परोक्षं किमपि नास्तीति तमेवार्थं व्यतिरेकेण दृढयति – णत्थि परोक्खं किंचि वि अस्य भगवतः परोक्षं किमपि नास्ति । किंविशिष्टस्य । समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स समन्ततः सर्वात्मप्रदेशैः सामस्त्येन वा स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दपरिच्छित्तिरूप-सर्वेन्द्रियगुणसमृद्धस्य । तर्हि किमक्षसहितस्य । नैवम् । अक्खातीदस्स अक्षातीतस्येन्द्रियव्यापार-रहितस्य, अथवा द्वितीयव्याख्यानम् – अक्ष्णोति ज्ञानेन व्याप्नोतीत्यक्ष आत्मा तद्गुणसमृद्धस्य । सदा

भगवान क्षायोपशमिक ज्ञानवाले जीवोंकी भाँति अवग्रह-ईहा-अवाय और धारणारूप क्रमसे नहीं जानते किन्तु सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको युगपत् जानते हैं। इसप्रकार उनके सब कुछ प्रत्यक्ष होता है ॥२१॥

अब, अतीन्द्रिय ज्ञानरूप परिणमित होनेसे ही इन भगवानको कुछ भी परोक्ष नहीं है, ऐसा अभिप्राय प्रगट करते हैं :–

गाथा २२

अन्वयार्थ :– [सदा अक्षातीतस्य] जो सदा इन्द्रियातीत है, [समन्ततः सर्वाक्षगुण-समृद्धस्य] जो सर्व ओरसे (सर्व आत्मप्रदेशोंसे) सर्व इन्द्रिय गुणोंसे समृद्ध है [स्वयमेव हि ज्ञानजातस्य] और जो स्वयमेव ज्ञानरूप हुए हैं, उन केवली भगवानको [किंचित् अपि] कुछ भी [परोक्षं नास्ति] परोक्ष नहीं है।

न परोक्ष कंई पण सर्वतः सर्वाक्षगुण समृद्धने ।
इन्द्रियअतीत सदैव ने स्वयमेव ज्ञान थयेलने ॥२२॥

अस्य खलु भगवतः समस्तावरणक्षयक्षण एव सांसारिकपरिच्छित्तिनिष्पत्तिबलाधानहेतुभूतानि प्रतिनियतविषयग्राहीण्यक्षाणि तैरतीतस्य, स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दपरिच्छेदरूपैः समरसतया समन्ततः सर्वैरेवेन्द्रियगुणैः समृद्धस्य, स्वयमेव सामस्त्येन स्वपरप्रकाशनक्षममनश्वरं लोकोत्तरज्ञानजातस्य, अक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया न किंचनापि परोक्षमेव स्यात् ॥२२॥

अथात्मनो ज्ञानप्रमाणत्वं ज्ञानस्य सर्वगतत्वं चोद्योतयति –

सर्वदा सर्वकालम् । पुनरपि किंरूपस्य । सयमेव हि णाणजादस्स स्वयमेव हि स्फुटं केवलज्ञानरूपेण जातस्य परिणतस्येति । तद्यथा – अतीन्द्रियस्वभावपरमात्मनो विपरीतानि क्रमप्रवृत्तिहेतुभूतानीन्द्रियाण्यतिक्रान्तस्य जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तपदार्थयुगपत्प्रत्यक्षप्रतीतिसमर्थमविनश्वरमखण्डैकप्रतिभासमयं केवलज्ञानं परिणतस्यास्य भगवतः परोक्षं किमपि नास्तीति भावार्थः ॥ २२ ॥ एवं केवलिनां समस्तं प्रत्यक्षं भवतीति कथनरूपेण प्रथमस्थले गाथाद्वयं गतम् । अथात्मा ज्ञानप्रमाणो भवतीति ज्ञानं च व्यवहारेण सर्वगतमित्युपदिशति – आदा णाणपमाणं ज्ञानेन सह हीनाधिकत्वा-

---

टीका :– समस्त आवरणके क्षयके क्षण ही जो (भगवान) सांसारिक ज्ञानको उत्पन्न करनेके बलको कार्यरूप देनेमें हेतुभूत ऐसी अपने अपने निश्चित विषयोंको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोंसे अतीत हुए हैं, जो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दके ज्ञानरूप सर्व इन्द्रिय – गुणोंके द्वारा सर्व ओरसे समरसरूपसे समृद्ध हैं (अर्थात् जो भगवान स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा शब्दको सर्व आत्मप्रदेशोंसे समानरूपसे जानते हैं) और जो स्वयमेव समस्तरूपसे स्वपरका प्रकाशन करनेमें समर्थ अविनाशी लोकोत्तर ज्ञानरूप हुए हैं, ऐसे इन (केवली) भगवानको समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावका अक्रमिक ग्रहण होनेसे कुछ भी परोक्ष नहीं है ।

भावार्थ :– इन्द्रियका गुण तो स्पर्शादिक एक-एक गुणको ही जानना है, जैसे चक्षुइन्द्रियका गुण रूपको ही जानना है अर्थात् रूपको ही जाननेमें निमित्त होना है । और इन्द्रियज्ञान क्रमिक है । केवलीभगवान इन्द्रियोंके निमित्तके विना समस्त आत्मप्रदेशोंसे स्पर्शादि सर्व विषयोंको जानते हैं, और जो समस्तरूपसे स्व-पर प्रकाशक है ऐसे लोकोत्तर ज्ञानरूप (लौकिकज्ञानसे भिन्न केवलज्ञानरूप) स्वयमेव परिणमित हुआ करते हैं; इसलिये समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावको अवग्रहादि क्रम रहित जानते हैं इसलिये केवली भगवानके कुछ भी परोक्ष नहीं है ॥२२॥

अव, आत्माका ज्ञानप्रमाणपना और ज्ञानका सर्वगतपना उद्योत करते हैं :–

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥२३॥

आत्मा ज्ञानप्रमाणं ज्ञानं ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्टम् ।
ज्ञेयं लोकालोकं तस्माज्ज्ञानं तु सर्वगतम् ॥२३॥

आत्मा हि 'समगुणपर्यायं द्रव्यम्' इति वचनात् ज्ञानेन सह हीनाधिकत्वरहितत्वेन परिणतत्वात्तत्परिमाणः, ज्ञानं तु ज्ञेयनिष्ठत्वाद्दाह्यनिष्ठदहनवत्तत्परिमाणं; ज्ञेयं तु

भावादात्मा ज्ञानप्रमाणो भवति । तथाहि – 'समगुणपर्यायं द्रव्यं भवति' इति वचनाद्वर्तमानमनुष्यभवे वर्तमानमनुष्यपर्यायप्रमाणः, तथैव मनुष्यपर्यायप्रदेशवर्तिज्ञानगुणप्रमाणश्च प्रत्यक्षेण दृश्यते यथायमात्मा, तथा निश्चयतः सर्वदैवाव्याबाधाक्षयसुखाद्यनन्तगुणाधारभूतो योऽसौ केवलज्ञानगुणस्त-त्प्रमाणोऽयमात्मा । णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं दाह्यनिष्ठदहनवत् ज्ञानं ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्टं कथितम् । णेयं लोयालोयं ज्ञेयं लोकालोकं भवति । शुद्धबुद्धैकस्वभावसर्वप्रकारोपादेयभूतपरमात्मद्रव्यादिषड्-

---

गाथा २३

अन्वयार्थ :– [आत्मा] आत्मा [ज्ञानप्रमाणं] ज्ञान प्रमाण है; [ज्ञानं] ज्ञान [ज्ञेयप्रमाणं] ज्ञेय प्रमाण [उद्दिष्टं] कहा गया है । [ज्ञेयं लोकालोकं] ज्ञेय लोकालोक है [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं तु] ज्ञान [सर्वगतं] सर्वगत – सर्व व्यापक है ।

टीका :– 'समगुणपर्यायं द्रव्यं (गुण-पर्यायें अर्थात् युगपद् सर्वगुण और पर्यायें ही द्रव्य है)' इस वचनके अनुसार आत्मा ज्ञानसे हीनाधिकतारहितरूपसे परिणमित होनेके कारण ज्ञानप्रमाण है, और ज्ञान [1]ज्ञेयनिष्ठ होनेसे, दाह्यनिष्ठ [2]दहनकी भाँति, ज्ञेय प्रमाण है । ज्ञेय तो लोक और अलोकके विभागसे [3]विभक्त, [4]अनन्त पर्यायमालासे आलिंगित स्वरूपसे सूचित (प्रगट, ज्ञात), नाशवान दिखाई देता हुआ भी ध्रुव ऐसा षट्द्रव्य-समूह, अर्थात् सब कुछ है । (ज्ञेय लोकालोक समूह अर्थात् सब कुछ है) इसलिये निःशेष आवरणके क्षयके समय ही लोक और अलोकके

[1] ज्ञेयनिष्ठ=ज्ञेयोंमें [illegible]
[2] दहन=जलाना, अग्नि ।
[3] विभक्त=विभागवाला । (षट्द्रव्योंके समूहमें लोक-अलोकरूप दो विभाग हैं ।)
[4] [illegible]

जीवद्रव्य ज्ञानप्रमाण भाख्युं ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है ।
ने ज्ञेय लोकालोक तेथी सर्वगत [illegible] है ॥२३॥

ज्ञानप्रमाणमात्मा न भवति यस्येह तस्य स आत्मा ।
हीनो वा अधिको वा ज्ञानाद्भवति ध्रुवमेव ॥२४॥
हीनो यदि स आत्मा तत् ज्ञानमचेतनं न जानाति ।
अधिको वा ज्ञानात् ज्ञानेन विना कथं जानाति ॥२५॥ युगलम् ।

यदि खल्वयमात्मा हीनो ज्ञानादित्यभ्युपगम्यते, तदात्मनोऽतिरिच्यमानं ज्ञानं स्वाश्रयभूतचेतनद्रव्यसमवायाभावादचेतनं भवद्रूपादिगुणकल्पतामापन्नं न जानाति । यदि

अथात्मानं ज्ञानप्रमाणं ये न मन्यन्ते तत्र हीनाधिकत्वे दूषणं ददाति – णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह ज्ञानप्रमाणमात्मा न भवति यस्य वादिनो मतेऽत्र जगति तस्स सो आदा तस्य मते स आत्मा हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव हीनो वा अधिको वा ज्ञानात्सकाशाद् भवति निश्चितमेवेति ॥ २४ ॥ हीणो जदि सो आदा तं णाणमचेदणं ण जाणादि हीनो यदि स आत्मा तदाग्नेरभावे सति उष्णगुणो यथा शीतलो भवति तथा स्वाश्रयभूतचेतनात्मकद्रव्यसमवायाभावात्-

---

गाथा २४-२५

अन्वयार्थ :– [इह] इस जगतमें [यस्य] जिसके मतमें [आत्मा] आत्मा [ज्ञानप्रमाणं] ज्ञानप्रमाण [न भवति] नहीं है, [तस्य] उसके मतमें [सः आत्मा] वह आत्मा [ध्रुवम् एव] अवश्य [ज्ञानात् हीनः वा] ज्ञानसे हीन [अधिकः वा भवति] अथवा अधिक होना चाहिये ।

[यदि] यदि [सः आत्मा] वह आत्मा [हीनः] ज्ञानसे हीन हो [तत्] तो वह [ज्ञानं] ज्ञान [अचेतनं] अचेतन होनेसे [न जानाति] नहीं जानेगा, [ज्ञानात् अधिकः वा] और यदि (आत्मा) ज्ञानसे अधिक हो तो (वह आत्मा) [ज्ञानेन विना] ज्ञानके बिना [कथं जानाति] कैसे जानेगा ?

टीका :– यदि यह स्वीकार किया जाये कि यह [illegible] है तो आत्मासे आगे बढ़ जानेवाला ज्ञान (आत्माके [illegible] होनेवाला ज्ञान) अपने आश्रयभूत [illegible] होता हुआ रूपादि गुण जैसा होनेसे नहीं [illegible] जाये कि यह आत्मा ज्ञानसे अधिक [illegible] जानेसे (ज्ञानके क्षेत्रसे बाहर [illegible] होनेसे ज्ञानके बिना नहीं जानेगा । इसलिये [illegible]

विषयत्वात्सर्वेऽर्था अपि सर्वगतज्ञानाव्यतिरिक्तस्य भगवतस्तस्य ते विषया इति भणितत्वात्तद्गता एव भवन्ति । तत्र निश्चयनयेनानाकुलत्वलक्षणसौख्यसंवेदनत्वाधिष्ठानत्वावच्छिन्नात्मप्रमाणज्ञानस्वतत्त्वापरित्यागेन विश्वज्ञेयाकारराननुपगम्यावबुध्यमानोऽपि व्यवहारनयेन भगवान् सर्वगत इति व्यपदिश्यते । तथा नैमित्तिकभूतज्ञेयाकारानात्मस्थानवलोक्य सर्वेऽर्थास्तद्गता इत्युपचर्यन्ते, न च तेषां परमार्थतोऽन्योन्यगमनमस्ति, सर्वद्रव्याणां स्वरूपनिष्ठत्वात् । अयं क्रमो ज्ञानेऽपि निश्चेयः ॥२६॥

अथात्मज्ञानयोरेकत्वान्यत्वं चिन्तयति –

णाणं अप्प त्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं ।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा ॥२७॥

ज्ञानमात्मेति मतं वर्तते ज्ञानं विना नात्मानम् ।
तस्मात् ज्ञानमात्मा आत्मा ज्ञानं वा अन्यद्वा ॥२७॥

[illegible]] देहगतमपरित्यजन्नेव लोकालोकं परिच्छिनत्ति । ततः कारणाद्व्यवहारेण [illegible] भगवान् । [illegible] नीलपीतादिबहिःपदार्था आदर्शे बिम्बवत् परिच्छित्याकारेण [illegible] अर्थाकारा अप्यर्था भण्यन्ते । ते च ज्ञाने [illegible] ॥ २६ ॥ अथ ज्ञानमात्मा भवति, आत्मा तु ज्ञानं [illegible] – णाणं अप्प त्ति मदं ज्ञानमात्मा भवतीति मतं सम्मतम् । [illegible] वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं ज्ञानं कर्तृ विनात्मानं जीवमन्यत्र घटपटादौ न वर्तते ।

[illegible] स्वरूपनिष्ठ (अपने-अपने स्वरूपमें निश्चल अवस्थित) हैं ।

[illegible] ज्ञान में भी निश्चित करना चाहिये । (आत्मा और ज्ञेयोंके सम्बन्धमें [illegible] कहा गया है, उसीप्रकार ज्ञान और ज्ञेयोंके सम्बन्धमें भी समझना [illegible] ॥ २६ ॥

[illegible] आत्मा और ज्ञानके एकत्व-अन्यत्वका विचार करते हैं :–

गाथा २७

अन्वयार्थ :– [ज्ञानं आत्मा] ज्ञान आत्मा है [इति मतं] ऐसा जिनदेवका [illegible] [आत्मानं विना] आत्माके बिना (अन्य किसी द्रव्यमें) [ज्ञानं न वर्तते]

[illegible] जिनमते आत्मा बिना नहि ज्ञान छे ।
[illegible] ज्ञान जीव, जीव ज्ञान छे वा अन्य छे ॥२७॥

यतः शेषसमस्तचेतनाचेतनवस्तुसमवायसंबन्धनिरुत्सुकतयाऽनाद्यनन्तस्वभावसिद्धसमवायसंबन्धमेकमात्मानमाभिमुख्येनावलम्ब्य प्रवृत्तत्वात् तं विना आत्मानं ज्ञानं न धारयति, ततो ज्ञानमात्मैव स्यात्। आत्मा त्वनन्तधर्माधिष्ठानत्वात् ज्ञानधर्मद्वारेण ज्ञानमन्यधर्मद्वारेणान्यदपि स्यात्। किं चानेकान्तोऽत्र बलवान्। एकान्तेन ज्ञानमात्मेति ज्ञानस्याभावोऽचेतनत्वमात्मनो विशेषगुणाभावादभावो वा स्यात्। सर्वथात्मा ज्ञानमिति निराश्रयत्वात् ज्ञानस्याभाव आत्मनः शेषपर्यायाभावस्तदविनाभाविनस्तस्याप्यभावः स्यात्॥ २७॥

तम्हा णाणं अप्पा तस्मात् ज्ञायते कथंचिज्ज्ञानमात्मैव स्यात्। इति गाथापादद्वयेन ज्ञानस्य कथंचिदात्मत्वं स्थापितम्। अप्पा णाणं व अण्णं वा आत्मा तु ज्ञानधर्मद्वारेण ज्ञानं भवति, सुखवीर्यादिधर्मद्वारेणान्यद्वा नियमो नास्तीति। तद्यथा—यदि पुनरेकान्तेन ज्ञानमात्मेति भण्यते तदा ज्ञानगुणमात्र एवात्मा प्राप्तः सुखादिधर्माणामवकाशो नास्ति। तथा सुखवीर्यादिधर्मसमूहाभावादात्माभावः, आत्मन आधारभूतस्याभावादाधेयभूतस्य ज्ञानगुणस्याप्यभावः, इत्येकान्ते सति द्वयोरप्यभावः। तस्मात्कथंचिज्ज्ञानमात्मा न सर्वथेति। अयमत्राभिप्रायः—आत्मा व्यापको ज्ञानं व्याप्यं ततो ज्ञानमात्मा स्यात्, आत्मा तु ज्ञानमन्यद्वा भवतीति। तथा चोक्तम्—'व्यापकं

ज्ञान नहीं होता, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं आत्मा] ज्ञान आत्मा है; [आत्मा] और आत्मा [ज्ञानं वा] (ज्ञान गुण द्वारा) ज्ञान है [अन्यत् वा] अथवा (सुखादि अन्य गुण द्वारा) अन्य है।

टीका :— क्योंकि शेष समस्त चेतन तथा अचेतन वस्तुओंके साथ *समवाय-सम्बन्ध नहीं है, इसलिये जिसके साथ अनादि अनन्त स्वभावसिद्ध समवायसम्बन्ध है ऐसे एक आत्माका अति निकटतया (अभिन्न प्रदेशरूपसे) अवलम्बन करके प्रवर्तमान होनेसे ज्ञान आत्माके बिना अपना अस्तित्व नहीं रख सकता; इसलिये ज्ञान आत्मा ही है। और आत्मा तो अनन्त धर्मोंका अधिष्ठान (आधार) होनेसे ज्ञानधर्मके द्वारा ज्ञान है और अन्य धर्मके द्वारा अन्य भी है।

और फिर, इसके अतिरिक्त, (विशेष समझना कि) [illegible] है। यदि यह माना जाये कि एकान्तसे ज्ञान आत्मा है तो, [illegible] ज्ञानका अभाव हो जायेगा, (और ज्ञानगुण का [illegible]) [illegible] आत्माको अथवा विशेष गुणका अभाव होनेसे [illegible];

* [illegible]

विषयत्वात्सर्वेऽर्था अपि सर्वगतज्ञानाव्यतिरिक्तस्य भगवतस्तस्य ते विषया इति भणितत्वात्तद्गता एव भवन्ति । तत्र निश्चयनयेनानाकुलत्वलक्षणसौख्यसंवेदनत्वाधिष्ठानत्वावच्छिन्नात्मप्रमाणज्ञानस्वतत्त्वापरित्यागेन विश्वज्ञेयाकाराननुपगम्यावबुध्यमानोऽपि व्यवहारनयेन भगवान् सर्वगत इति व्यपदिश्यते । तथा नैमित्तिकभूतज्ञेयाकारानात्मस्थानवलोक्य सर्वेऽर्थास्तद्गता इत्युपचर्यन्ते, न च तेषां परमार्थतोऽन्योन्यगमनमस्ति, सर्वद्रव्याणां स्वरूपनिष्ठत्वात् । अयं क्रमो ज्ञानेऽपि निश्चेयः ।।२६।।

अथात्मज्ञानयोरेकत्वान्यत्वं चिन्तयति –

णाणं अप्प त्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं ।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा ।।२७।।

ज्ञानमात्मेति मतं वर्तते ज्ञानं विना नात्मानम् ।
तस्मात् ज्ञानमात्मा आत्मा ज्ञानं वा अन्यद्वा ।।२७।।

[भवति । इत्थंभूतं स्वस्वरूपं] देहगतमपरित्यजन्नेव लोकालोकं परिच्छिनत्ति । ततः कारणाद्व्यवहारेण सर्वगतो भण्यते भगवान् । येन च कारणेन नीलपीतादिबहिःपदार्था आदर्शे बिम्बवत् परिच्छित्याकारेण ज्ञाने प्रतिफलन्ति ततः कारणादुपचारेणार्थकार्यभूता अर्थाकारा अप्यर्था भण्यन्ते । ते च ज्ञाने तिष्ठन्तीत्युच्यमाने दोषो नास्तीत्यभिप्रायः ।। २६ ।। अथ ज्ञानमात्मा भवति, आत्मा तु ज्ञानं सुखादिकं वा भवतीति प्रतिपादयति – **णाणं अप्प त्ति मदं** ज्ञानमात्मा भवतीति मतं सम्मतम् । कस्मात् । **वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं** ज्ञानं कर्तृ विनात्मानं जीवमन्यत्र घटपटादौ न वर्तते ।

नहीं होता, क्योंकि सर्व द्रव्य स्वरूपनिष्ठ (अपने-अपने स्वरूपमें निश्चल अवस्थित) हैं ।

यही क्रम ज्ञान में भी निश्चित करना चाहिये । (आत्मा और ज्ञेयोंके सम्बन्धमें निश्चय-व्यवहारसे कहा गया है, उसीप्रकार ज्ञान और ज्ञेयोंके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये) ।। २६ ।।

अब, आत्मा और ज्ञानके एकत्व-अन्यत्वका विचार करते हैं :–

गाथा २७

अन्वयार्थ :– [ज्ञानं आत्मा] ज्ञान आत्मा है [इति मतं] ऐसा जिनदेवका मत है । [आत्मानं विना] आत्माके विना (अन्य किसी द्रव्यमें) [ज्ञानं न वर्तते]

छे ज्ञान आत्मा जिनमते आत्मा विना नहिं ज्ञान छे ।
ते कारणे छे ज्ञान जीव, जीव ज्ञान छे वा अन्य छे ।।२७।।

यतः शेषसमस्तचेतनाचेतनवस्तुसमवायसंबन्धनिरुत्सुकतयाऽनाद्यनन्तस्वभावसिद्धसमवायसंबन्धमेकमात्मानमाभिमुख्येनावलम्ब्य प्रवृत्तत्वात् तं विना आत्मानं ज्ञानं न धारयति, ततो ज्ञानमात्मैव स्यात् । आत्मा त्वनन्तधर्माधिष्ठानत्वात् ज्ञानधर्मद्वारेण ज्ञानमन्यधर्मद्वारेणान्यदपि स्यात् । किं चानेकान्तोऽत्र बलवान् । एकान्तेन ज्ञानमात्मेति ज्ञानस्याभावोऽचेतनत्वमात्मनो विशेषगुणाभावादभावो वा स्यात् । सर्वथात्मा ज्ञानमिति निराश्रयत्वात् ज्ञानस्याभाव आत्मनः शेषपर्यायाभावस्तदविनाभाविनस्तस्याप्यभावः स्यात् ।। २७ ।।

तम्हा णाणं अप्पा तस्मात् ज्ञायते कथंचिज्ज्ञानमात्मैव स्यात् । इति गाथापादत्रयेण ज्ञानस्य कथंचिदात्मत्वं स्थापितम् । अप्पा णाणं च अण्णं वा आत्मा तु ज्ञानधर्मद्वारेण ज्ञानं भवति, सुखवीर्यादिधर्मद्वारेणान्यद्वा नियमो नास्तीति । तद्यथा – यदि पुनरेकान्तेन ज्ञानमात्मेति भण्यते तदा ज्ञानगुणमात्र एवात्मा प्राप्तः सुखादिधर्माणामवकाशो नास्ति । तथा सुखवीर्यादिधर्मसमूहाभावादात्माभावः, आत्मन आधारभूतस्याभावादाधेयभूतस्य ज्ञानगुणस्याप्यभावः, इत्येकान्ते सति द्वयोरप्यभावः । तस्मात्कथंचिज्ज्ञानमात्मा न सर्वथेति । अयमत्राभिप्रायः – आत्मा व्यापको ज्ञानं व्याप्यं ततो ज्ञानमात्मा स्यात्, आत्मा तु ज्ञानमन्यद्वा भवतीति । तथा चोक्तम् – 'व्यापकं

ज्ञान नहीं होता, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं आत्मा] ज्ञान आत्मा है; [आत्मा] और आत्मा [ज्ञानं वा] (ज्ञान गुण द्वारा) ज्ञान है [अन्यत् वा] अथवा (सुखादि अन्य गुण द्वारा) अन्य है ।

टीका :– क्योंकि शेष समस्त चेतन तथा अचेतन वस्तुओंके साथ [1]समवायसम्बन्ध नहीं है, इसलिये जिसके साथ अनादि अनन्त स्वभावसिद्ध समवायसम्बन्ध है ऐसे एक आत्माका अति निकटतया (अभिन्न प्रदेशरूपसे) अवलम्बनकरके प्रवर्तमान होनेसे ज्ञान आत्माके विना अपना अस्तित्व नहीं रख सकता; इसलिये ज्ञान आत्मा ही है । और आत्मा तो अनन्त धर्मोंका अधिष्ठान (-आधार) होनेसे ज्ञानधर्मके द्वारा ज्ञान है और अन्य धर्मके द्वारा अन्य भी है ।

और फिर, इसके अतिरिक्त (विशेष समझना कि) यहाँ अनेकान्त बलवान है । यदि यह माना जाये कि एकान्तसे ज्ञान आत्मा है तो, (ज्ञानगुण आत्मद्रव्य हो जानेसे) ज्ञानका अभाव हो जायेगा, (और ज्ञानगुण का अभाव होनेसे) आत्माके अचेतनता आजायेगी अथवा विशेष गुणका अभाव होनेसे आत्माका अभाव हो जायेगा । यदि

---

[1] समवाय सम्बन्ध=जहाँ गुण होते हैं वहाँ गुणी होता है और जहाँ गुणी होता है वहाँ गुण होते हैं, जहाँ गुण नहीं होते वहाँ गुणी नहीं होता और जहाँ गुणी नहीं होता वहाँ गुण नहीं होते – इस प्रकार गुण-गुणीका अभिन्न-प्रदेशरूप सम्बन्ध; तादात्म्यसम्बन्ध है ।

अथ ज्ञानज्ञेययोः परस्परगमनं प्रतिहन्ति –

णाणी णाणसहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स ।
रूवाणि व चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टंति ॥२८॥

ज्ञानी ज्ञानस्वभावोऽर्था ज्ञेयात्मका हि ज्ञानिनः ।
रूपाणीव चक्षुषोः नैवान्योन्येषु वर्तन्ते ॥२८॥

तदन्तनिष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च' ॥ २७ ॥ इत्यात्मज्ञानयोरेकत्वं, ज्ञानस्य व्यवहारेण सर्वगतत्वमित्यादिकथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथापञ्चकं गतम् । अथ ज्ञानं ज्ञेयसमीपे न गच्छतीति निश्चिनोति – **णाणी णाणसहावो** ज्ञानी सर्वज्ञः केवलज्ञानस्वभाव एव । **अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स** जगत्त्रयकालत्रयवर्तिपदार्था ज्ञेयात्मका एव भवन्ति न च ज्ञानात्मकाः । कस्य । ज्ञानिनः । **रूपाणि व चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टंति** ज्ञानी पदार्थाश्चान्योन्यं परस्परमेकत्वेन न वर्तन्ते । कानीव, केषां

यह माना जाये कि सर्वथा आत्मा ज्ञान है तो, (आत्मद्रव्य एक ज्ञानगुणरूप हो जानेपर ज्ञानका कोई आधारभूत द्रव्य नहीं रहनेसे) निराश्रयताके कारण ज्ञानका अभाव हो जायेगा अथवा (आत्मद्रव्यके एक ज्ञानगुणरूप हो जाने से) आत्माकी शेष पर्यायोंका (सुख, वीर्यादि गुणोंका) अभाव हो जायेगा और उनके साथ ही अविनाभावी सम्बन्धवाले आत्माका भी अभाव हो जायेगा । (क्योंकि सुख, वीर्य इत्यादि गुण न हों तो आत्मा भी नहीं हो सकता) ॥ २७ ॥

अब, ज्ञान और ज्ञेयके परस्पर गमनका निषेध करते हैं (अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय एक-दूसरेमें प्रवेश नहीं करते ऐसा कहते हैं ।) :–

गाथा २८

अन्वयार्थ :– [ज्ञानी] आत्मा [ज्ञानस्वभावः] ज्ञान स्वभाव है [अर्थाः हि] और पदार्थ [ज्ञानिनः] आत्माके [ज्ञेयात्मकाः] ज्ञेय स्वरूप हैं, [रूपाणि इव चक्षुषोः] जैसे रूप (रूपी पदार्थ) नेत्रोंका ज्ञेय है वैसे [अन्योन्येषु] वे एक-दूसरे में [न एव वर्तन्ते] नहीं वर्तते ।

टीका :– आत्मा और पदार्थ स्वलक्षणभूत पृथक्त्वके कारण एक दूसरेमें नहीं वर्तते परन्तु उनके नेत्र और रूपी पदार्थकी भाँति ज्ञानज्ञेयस्वभाव-सम्बन्धसे

छे 'ज्ञानी' ज्ञानस्वभाव अर्थो ज्ञेयरूप छे 'ज्ञानी' ना ।
ज्यम रूप छे नेत्रो तणां, नहि वर्तता अन्योन्यमां ॥२८॥

ज्ञानी चार्थाश्च स्वलक्षणभूतपृथक्त्वतो न मिथो वृत्तिमासादयन्ति किंतु तेषां ज्ञानज्ञेयस्वभावसंबन्धसाधितमन्योन्यवृत्तिमात्रमस्ति चक्षुरूपवत् । यथा हि चक्षूंषि तद्विषयभूतरूपिद्रव्याणि च परस्परप्रवेशमन्तरेणापि ज्ञेयाकारग्रहणसमर्पणप्रवणान्येवमात्माऽर्थाश्चान्योन्यवृत्तिमन्तरेणापि विश्वज्ञेयाकारग्रहणसमर्पणप्रवणाः ॥ २८ ॥

अथार्थेष्ववृत्तस्यापि ज्ञानिनस्तद्वृत्तिसाधकं शक्तिवैचित्र्यमुद्योतयति –

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू ।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं ॥२९॥

संबंधित्वेन । रूपाणीव चक्षुषामिति । तथाहि – यथा रूपिद्रव्याणि चक्षुषा सह परस्परं संबन्धाभावेऽपि स्वाकारसमर्पणे समर्थानि, चक्षूंषि च तदाकारग्रहणे समर्थानि भवन्ति, तथा त्रैलोक्योदरविवरवर्तिपदार्थाः कालत्रयपर्यायपरिणता ज्ञानेन सह परस्परप्रदेशसंसर्गाभावेऽपि स्वकीयाकारसमर्पणे समर्था भवन्ति, अखण्डैकप्रतिभासमयं केवलज्ञानं तु तदाकारग्रहणे समर्थमिति भावार्थः ॥ २८ ॥ अथ ज्ञानी ज्ञेयपदार्थेषु निश्चयनयेनाप्रविष्टोऽपि व्यवहारेण प्रविष्ट इव प्रतिभातीति शक्तिवैचित्र्यं दर्शयति –

होनेवाली एक दूसरेमें प्रवृत्ति पाई जाती है। (प्रत्येक द्रव्यका लक्षण अन्य द्रव्योंसे भिन्नत्व होनेसे आत्मा और पदार्थ एक दूसरेमें नहीं वर्तते, किन्तु आत्माका ज्ञानस्वभाव है और पदार्थोंका ज्ञेय स्वभाव है, ऐसे ज्ञानज्ञेयस्वभावरूप सम्बन्धके कारण ही मात्र उनका एक दूसरेमें होना नेत्र और रूपी पदार्थोंकी भाँति उपचारसे कहा जा सकता है)। जैसे नेत्र और उनके विषयभूत रूपी पदार्थ परस्पर प्रवेश किये बिना ही ज्ञेयाकारोंको ग्रहण और समर्पणकरनेके स्वभाववाले हैं, उसी प्रकार आत्मा और पदार्थ एक दूसरेमें प्रविष्ट हुए बिना ही समस्त ज्ञेयाकारोंके ग्रहण और समर्पणकरनेके स्वभाववाले हैं। (जिस प्रकार आँख रूपी पदार्थोंमें प्रवेश नहीं करती और रूपी पदार्थ आँखमें प्रवेश नहीं करते तोभी आँख रूपी पदार्थोंके ज्ञेयाकारोंके ग्रहण करने – जाननेके – स्वभाववाली है और रूपी पदार्थ स्वयंके ज्ञेयाकारोंको समर्पित होने – जनानेके – स्वभाववाले हैं, उसीप्रकार आत्मा पदार्थोंमें प्रवेश नहीं करता और पदार्थ आत्मामें प्रवेश नहीं करते तथापि आत्मा पदार्थोंके समस्त ज्ञेयाकारोंको ग्रहण करलेने – जानलेनेके – स्वभाववाला है और पदार्थ स्वयंके समस्त ज्ञेयाकारोंको समर्पित होजाने – ज्ञात होजानेके स्वभाववाले हैं।) ॥ २८ ॥

अब, आत्मा पदार्थोंमें प्रवृत्त नहीं होता तथापि जिससे (जिस शक्तिवैचित्र्यसे) उसका पदार्थोंमें प्रवृत्त होना सिद्ध होता है उस शक्तिवैचित्र्यको उद्योत करते हैं :–

न प्रविष्टो नाविष्टो ज्ञानी ज्ञेयेषु रूपमिव चक्षुः ।
जानाति पश्यति नियतमक्षातीतो जगदशेषम् ॥२९॥

यथा हि चक्षू रूपिद्रव्याणि स्वप्रदेशैरसंस्पृशदप्रविष्टं परिच्छेद्यमाकारमात्मसात्कुर्वन्न चाप्रविष्टं जानाति पश्यति च, एवमात्माप्यक्षातीतत्वात्प्राप्यकारिताविचारगोचरदूरतामवाप्तो ज्ञेयतामापन्नानि समस्तवस्तूनि स्वप्रदेशैरसंस्पृशन्नप्रविष्टः शक्तिवैचित्र्यवशतो

ण पविट्ठो निश्चयनयेन न प्रविष्टः, णाविट्ठो व्यवहारेण न नाप्रविष्टः किंतु प्रविष्ट एव । स कः कर्ता । णाणी ज्ञानी । केषु मध्ये । णेयेसु ज्ञेयपदार्थेषु । किमिव । रूवमिव चक्खू रूपविषये चक्षुरिव । एवंभूतस्सन् किं करोति । जाणदि पस्सदि जानाति पश्यति च । णियदं निश्चितं संशयरहितं । किंविशिष्टः सन् । अक्खातीदो अक्षातीतः । किं जानाति पश्यति । जगमसेसं जगदशेषमिति । तथा

गाथा २९

अन्वयार्थ :– [चक्षुः रूपं इव] जैसे चक्षु रूपको (ज्ञेयोंमें अप्रविष्ट रहकर तथा अप्रविष्ट न रहकर जानती-देखती है) उसीप्रकार [ज्ञानी] आत्मा [अक्षातीतः] इन्द्रियातीत होता हुआ [अशेषं जगत्] अशेष जगतको (-समस्त लोकालोकको) [ज्ञेयेषु] ज्ञेयोंमें [न प्रविष्टः] अप्रविष्ट रहकर [न अविष्टः] तथा अप्रविष्ट न रहकर [नियतं] निरन्तर [जानाति पश्यति] जानता-देखता है ।

टीका :– जिसप्रकार चक्षु रूपी द्रव्योंको स्वप्रदेशोंके द्वारा अस्पर्श करता हुआ अप्रविष्ट रहकर (जानता-देखता है) तथा ज्ञेय आकारोंको आत्मसात् (निजरूप) करता हुआ अप्रविष्ट न रहकर जानता-देखता है; उसीप्रकार आत्मा भी, इन्द्रियातीतताके कारण [1]प्राप्यकारिताकी विचारगोचरतासे दूर होता हुआ ज्ञेयभूत समस्त वस्तुओंको स्वप्रदेशोंसे अस्पर्श करता है, इसलिये अप्रविष्ट रहकर (जानता-देखता है) तथा शक्तिवैचित्र्यके कारण वस्तुमें वर्तते समस्त ज्ञेयाकारोंको मानों मूलमेंसे उखाड़कर ग्रास कर लेनेसे अप्रविष्ट न रहकर जानता-देखता है । इसप्रकार इस विचित्र शक्तिवाले आत्माके पदार्थोंमें अप्रवेशकी भाँति प्रवेश भी सिद्ध होता है ।

---

[1] प्राप्यकारिता=ज्ञेय विषयोंको स्पर्श करके ही कार्य कर सकना—जान सकना । (इन्द्रियातीत हुए आत्मामें प्राप्यकारिताके विचारका भी अवकाश नहीं है) ।

ज्ञेये प्रविष्ट न, अणप्रविष्ट न, जाणतो जग सर्वने ।
नित्ये अतींद्रिय आतमा, ज्यम नेत्र जाणे रूपने ॥२९॥

वस्तुवर्तिनः समस्तज्ञेयाकारानुन्मूल्य इव कवलयन्न चाप्रविष्टो जानाति पश्यति च । एवमस्य विचित्रशक्तियोगिनो ज्ञानिनोऽर्थेष्वप्रवेश इव प्रवेशोऽपि सिद्धिमवतरति ॥ २९ ॥

अथैवं ज्ञानमर्थेषु वर्तत इति संभावयति –

रयणमिह इन्दणीलं दुद्धज्झसियं जहा सभासाए ।
अभिभूय तं पि दुद्धं वट्टदि तह णाणमट्ठेसु ॥ ३० ॥

रत्नमिहेन्द्रनीलं दुग्धाध्युषितं यथा स्वभासा ।
अभिभूय तदपि दुग्धं वर्तते तथा ज्ञानमर्थेषु ॥ ३० ॥

हि – यथा लोचनं कर्तृ रूपिद्रव्याणि यद्यपि निश्चयेन न स्पृशति तथापि व्यवहारेण स्पृशतीति प्रतिभाति लोके । तथायमात्मा मिथ्यात्वरागाद्यास्रवाणामात्मनश्च संबन्धि यत्केवलज्ञानात्पूर्वं विशिष्टभेदज्ञानं तेनोत्पन्नं यत्केवलज्ञानदर्शनद्वयं तेन जगत्त्रयकालत्रयवर्तिपदार्थान्निश्चयेनास्पृशन्नपि व्यवहारेण स्पृशति, तथा स्पृशन्निव ज्ञानेन जानाति दर्शनेन पश्यति च । कथंभूतस्सन् । अतीन्द्रियसुखास्वादपरिणतः सन्नक्षातीत इति । ततो ज्ञायते निश्चयेनाप्रवेश इव व्यवहारेण ज्ञेयपदार्थेषु प्रवेशोऽपि घटत इति ॥ २९ ॥ अथ तमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण दृढयति – रयणं रत्नं इह जगति ।

भावार्थ :– यद्यपि आँख अपने प्रदेशोंसे रूपी पदार्थोंको स्पर्श नहीं करती इसलिये वह निश्चयसे ज्ञेयोंमें अप्रविष्ट है तथापि वह रूपी पदार्थोंको जानती-देखती है, इस लिये व्यवहारसे यह कहा जाता है कि 'मेरी आँख बहुतसे पदार्थोंमें जा पहुँचती है ।' इसीप्रकार यद्यपि केवलज्ञानप्राप्त आत्मा अपने प्रदेशोंके द्वारा ज्ञेय पदार्थोंको स्पर्श नहीं करता इसलिये वह निश्चयसे तो ज्ञेयोंमें अप्रविष्ट है तथापि ज्ञायक-दर्शक शक्तिकी किसी परम अद्भुत विचित्रताके कारण (निश्चयसे दूर रहकर भी) वह समस्त ज्ञेयाकारोंको जानता-देखता है, इसलिये व्यवहारसे यह कहा जाता है कि 'आत्मा सर्वद्रव्य-पर्यायोंमें प्रविष्ट हो जाता है ।' इसप्रकार व्यवहारसे ज्ञेय पदार्थोंमें आत्माका प्रवेश सिद्ध होता है ॥ २९ ॥

अब, यहाँ इसप्रकार (दृष्टांतपूर्वक) यह स्पष्ट करते हैं कि ज्ञान पदार्थोंमें प्रवृत्त होता है :–

ज्यम दूधमां स्थित इन्द्रनीलमणि स्वकीय प्रभा वडे ।
दूधने विषे व्यापी रहे, त्यम ज्ञान पण अर्थो विषे ॥३०॥

गाथा ३०

अन्वयार्थ :– [यथा] जैसे [इह] इस जगतमें [दुग्धाध्युषितं] दूधमें पड़ा हुआ [इन्द्रनीलं रत्नं] इन्द्रनील रत्न [स्वभासा] अपनी प्रभाके द्वारा [तद् अपि दुग्धं] उस दूधमें [अभिभूय] व्याप्त होकर [वर्तते] वर्तता है, [तथा] उसीप्रकार [ज्ञानं] ज्ञान (अर्थात् ज्ञातृद्रव्य) [अर्थेषु] पदार्थोंमें व्याप्त होकर वर्तता है।

टीका :– जैसे दूधमें पड़ा हुआ इन्द्रनील रत्न अपने प्रभासमूहसे दूधमें व्याप्त होकर वर्तता हुआ दिखाई देता है, उसीप्रकार [1]संवेदन (ज्ञान) भी आत्मासे अभिन्न होनेसे कर्ता-अंशसे आत्मताको प्राप्त होता हुआ ज्ञानरूप कारण-अंशके द्वारा [2]कारणभूत पदार्थोंके कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारोंमें व्याप्त हुआ वर्तता है, इसलिये कार्यमें कारणका (-ज्ञेयाकारोंमें पदार्थोंका) उपचार करके यह कहनेमें विरोध नहीं आता कि 'ज्ञान पदार्थोंमें व्याप्त होकर वर्तता है।'

भावार्थ :– जैसे दूधसे भरे हुए पात्रमें पड़ा हुआ इन्द्रनील रत्न (नीलमणि) सारे दूधको (अपनी प्रभासे नीलवर्ण कर देता है इसलिये व्यवहारसे रत्न और रत्नकी प्रभा सारे दूधमें) व्याप्त कही जाती है, इसीप्रकार ज्ञेयोंसे भरे हुए विश्वमें रहनेवाला आत्मा समस्त ज्ञेयोंको (लोकालोकको) अपनी ज्ञानप्रभाके द्वारा प्रकाशित करता है अर्थात्

---

1 प्रमाणदृष्टिसे संवेदन अर्थात् ज्ञान कहने पर अनन्त गुणपर्यायोंका पिंड समझमें आता है। उसमें यदि कर्ता, करण आदि अंश किये जायें तो कर्ता – अंश वह अखंड आत्मद्रव्य है और करण-अंश वह ज्ञानगुण है।

2 पदार्थ कारण हैं और उनके ज्ञेयाकार (द्रव्य-गुण-पर्याय) कार्य हैं।

अथैवमर्था ज्ञाने वर्तन्त इति संभावयति –

जदि ते ण संति अट्ठा णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं ।
सव्वगयं वा णाणं कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा ।। ३१ ।।

यदि ते न सन्त्यर्था ज्ञाने ज्ञानं न भवति सर्वगतम् ।
सर्वगतं वा ज्ञानं कथं न ज्ञानस्थिता अर्थाः ।। ३१ ।।

नास्तीति ।। ३० ।। अथ पूर्वसूत्रेण भणितं ज्ञानमर्थेषु वर्तते व्यवहारेणात्र पुनरर्था ज्ञाने वर्तन्त इत्युपदिशति – जइ यदि चेत् ते अट्ठा ण संति ते पदार्थाः स्वकीयपरिच्छित्त्याकारसमर्पणद्वारेणादर्शे विम्बवन्न सन्ति । क्व । णाणे केवलज्ञाने । णाणं ण होदि सव्वगयं तदा ज्ञानं सर्वगतं न भवति । सव्वगयं वा णाणं व्यवहारेण सर्वगतं ज्ञानं सम्मतं चेद्भवतां कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा तर्हि व्यवहारनयेन

जानता है इसलिये व्यवहारसे आत्माका ज्ञान और आत्मा सर्वव्यापी कहलाता है। (यद्यपि निश्चयसे वे अपने असंख्य प्रदेशोंमें ही रहते हैं, ज्ञेयोंमें प्रविष्ट नहीं होते) ।।३०।।

अब, ऐसा व्यक्त करते हैं कि इस प्रकार पदार्थ [1]ज्ञानमें वर्तते हैं :–

गाथा ३१

अन्वयार्थ :– [यदि] यदि [ते अर्थाः] वे पदार्थ [ज्ञाने न संति] ज्ञानमें न हों तो [ज्ञानं] ज्ञान [सर्वगतं] सर्वगत [न भवति] नहीं हो सकता [वा] और यदि [ज्ञानं सर्वगतं] ज्ञान सर्वगत है तो [अर्थाः] पदार्थ [ज्ञानस्थिताः] ज्ञानस्थित [कथं न] कैसे नहीं हैं ? (अर्थात् अवश्य हैं)

टीका :– यदि समस्त स्व-ज्ञेयाकारोंके समर्पण द्वारा (ज्ञानमें) अवतरित होते हुए समस्त पदार्थ ज्ञानमें प्रतिभासित न हों तो वह ज्ञान सर्वगत नहीं माना जाता। और यदि वह (ज्ञान) सर्वगत माना जाये, तो फिर (पदार्थ) साक्षात् ज्ञानदर्पण-भूमिकामें अवतरित [2]बिम्बकी भाँति अपने-अपने ज्ञेयाकारोंके कारण (होनेसे) और

---

[1] इस गाथामें भी 'ज्ञान' शब्दसे अनन्त गुण-पर्यायोंका पिंडरूप ज्ञातृद्रव्य समझना चाहिये।

[2] बिम्ब=जिसका दर्पणमें प्रतिबिम्ब पड़ा हो वह। (ज्ञानको दर्पणकी उपमा दी जाये तो, पदार्थोंके ज्ञेयाकार बिम्ब समान हैं और ज्ञानमें होनेवाले ज्ञानकी अवस्थारूप ज्ञेयाकार प्रतिबिम्ब समान हैं)।

नव होय अर्थो ज्ञानमां, तो ज्ञान सौ-गत पण नहि ।
ने सर्वगत छे ज्ञान तो क्यम ज्ञानस्थित अर्थो नहीं ? ।।३१।।

यदि खलु निखिलात्मीयज्ञेयाकारसमर्पणद्वारेणावतीर्णाः सर्वेऽर्था न प्रतिभान्ति ज्ञाने तदा तन्न सर्वगतमभ्युपगम्येत । अभ्युपगम्येत वा सर्वगतम् तर्हि साक्षात् संवेदनमुकुरुन्दभूमिकावतीर्ण (प्रति) बिम्बस्थानीयस्वीयस्वीयसंवेद्याकारकारणानि परम्परया प्रतिबिम्बस्थानीयसंवेद्याकारकारणानीति कथं न ज्ञानस्थायिनोऽर्था निश्चीयन्ते ॥ ३१ ॥

स्वकीयज्ञेयाकारपरिच्छित्तिसमर्पणद्वारेण ज्ञानस्थिता अर्थाः कथं न भवन्ति किंतु भवन्त्येवेति । अत्रायमभिप्रायः - यत एव व्यवहारेण ज्ञेयपरिच्छित्त्याकारग्रहणद्वारेण ज्ञानं सर्वगतं भण्यते, तस्मादेव ज्ञेयपरिच्छित्त्याकारसमर्पणद्वारेण पदार्था अपि व्यवहारेण ज्ञानगता भण्यन्त इति ॥ ३१॥ अथ

---

[1]परम्परासे प्रतिबिम्बके समान ज्ञेयाकारोंके कारण होनेसे पदार्थ कैसे ज्ञानस्थित निश्चित नहीं होते ? (अवश्य ही ज्ञानस्थित निश्चित होते हैं)

भावार्थ :— दर्पणमें मयूर, मन्दिर, सूर्य, वृक्ष इत्यादिके प्रतिबिम्ब पड़ते हैं। वहाँ निश्चयसे तो प्रतिबिम्ब दर्पणकी ही अवस्थायें हैं, तथापि दर्पणमें प्रतिबिम्ब देखकर [2]कार्यमें कारणका उपचार करके व्यवहारसे यह कहा जाता है कि 'मयूरादिक दर्पणमें हैं।' इसीप्रकार ज्ञानदर्पणमें भी सर्व पदार्थोंके समस्त ज्ञेयाकारोंके प्रतिबिम्ब पड़ते हैं अर्थात् पदार्थोंके ज्ञेयाकारोंके निमित्तसे ज्ञानमें ज्ञानकी अवस्थारूप ज्ञेयाकार होते हैं (क्योंकि यदि ऐसा न हो तो ज्ञान सर्व पदार्थोंको नहीं जान सकेगा)। वहाँ निश्चयसे ज्ञानमें होनेवाले ज्ञेयाकार ज्ञानकी ही अवस्थायें हैं, पदार्थोंके ज्ञेयाकार कहीं ज्ञानमें प्रविष्ट नहीं है। निश्चयसे ऐसा होनेपर भी व्यवहारसे देखा जाये तो, ज्ञानमें होनेवाले ज्ञेयाकारोंके कारण पदार्थोंके ज्ञेयाकार हैं, और उनके कारण पदार्थ हैं — इसप्रकार परम्परासे ज्ञानमें होनेवाले ज्ञेयाकारोंके कारण पदार्थ हैं; इसलिये उन (ज्ञानकी अवस्थारूप) ज्ञेयाकारोंको ज्ञानमें देखकर, कार्यमें कारणका उपचार करके व्यवहारसे ऐसा कहा जा सकता है कि 'पदार्थ ज्ञानमें हैं' ॥ ३१ ॥

अब, इसप्रकार (व्यवहारसे) आत्माकी पदार्थोंके साथ एक दूसरेमें प्रवृत्ति होनेपर भी, (निश्चयसे) वह परका ग्रहण-त्याग किये विना तथा पररूप परिणमित हुए विना सबको देखता-जानता है इसलिये उसे (पदार्थोंके साथ) अत्यन्त भिन्नता है ऐसा बतलाते हैं :—

---

[1] पदार्थ साक्षात् स्वज्ञेयाकारोंके कारण हैं (अर्थात् पदार्थ अपने-अपने द्रव्य-गुण-पर्यायोंके साक्षात् कारण हैं) और परम्परासे ज्ञानकी अवस्थारूप ज्ञेयाकारोंके (ज्ञानाकारोंके) कारण हैं।

[2] प्रतिबिम्ब नैमित्तिक कार्य है और मयूरादि निमित्त-कारण है।

अथैवं ज्ञानिनोऽर्थैः सहान्योन्यवृत्तिमत्त्वेऽपि परग्रहणमोक्षणपरिणमनाभावेन सर्वं पश्यतोऽध्यवस्यतश्चात्यन्तविविक्तत्वं भावयति –

गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं ।
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं ।। ३२ ।।

गृह्णाति नैव न मुञ्चति न परं परिणमति केवली भगवान् ।
पश्यति समन्ततः स जानाति सर्वं निरवशेषम् ।। ३२ ।।

ज्ञानिनः पदार्थैः सह यद्यपि व्यवहारेण ग्राह्यग्राहकसम्बन्धोऽस्ति तथापि संश्लेपादिसम्बन्धो नास्ति, तेन कारणेन ज्ञेयपदार्थैः सह भिन्नत्वमेवेति प्रतिपादयति – **गेण्हदि णेव ण मुंचदि** गृह्णाति नैव मुञ्चति नैव **ण परं परिणमदि** परं परद्रव्यं ज्ञेयपदार्थं नैव परिणमति । स कः कर्ता । **केवली भगवं** केवली भगवान् सर्वज्ञः । ततो ज्ञायते परद्रव्येण सह भिन्नत्वमेव । तर्हि किं परद्रव्यं न जानाति । **पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं** तथापि व्यवहारनयेन पश्यति समन्ततः सर्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्जानाति च

गाथा ३२

अन्वयार्थ :– [**केवली भगवान्**] केवली भगवान [**परं**] परको [**न एव गृह्णाति**] ग्रहण नहीं करते, (**न मुंचति**) छोड़ते नहीं, [**न परिणमति**] पररूप परिणमित नहीं होते; [**सः**] वे [**निरवशेषं सर्वं**] निरवशेषरूपसे सबको (सम्पूर्ण आत्माको, सर्व ज्ञेयोंको) [**समन्ततः**] सर्व ओरसे (सर्व आत्मप्रदेशोंसे) [**पश्यति जानाति**] देखते-जानते हैं ।

टीका :– यह आत्मा, स्वभावसे ही परद्रव्यके ग्रहण-त्यागका तथा परद्रव्यरूपसे परिणमित होनेका (उसके) अभाव होनेसे, स्वतत्त्वभूत केवलज्ञानरूपसे परिणमित होकर निष्कंप निकलनेवाली ज्योतिवाला उत्तम मणि जैसा होकर रहता हुआ, (१) जिसके सर्व ओरसे (सर्व आत्मप्रदेशोंसे) दर्शनज्ञानशक्ति स्फुरित है ऐसा होता हुआ, [1]निःशेषरूपसे परिपूर्ण आत्माको आत्मासे आत्मामें संचेतता-जानता-अनुभव करता है, अथवा (२) एकसाथ ही सर्व पदार्थोंके समूहका [2]साक्षात्कार करने के कारण ज्ञप्तिपरिवर्तनका

---

[1] निःशेषरूपसे=कुछ भी किंचित् मात्र शेष न रहे इसप्रकार से ।

[2] साक्षात्कार करना=प्रत्यक्ष जानना ।

प्रभु केवली न ग्रहे, न छोडे, पररूपे नव परिणमे ।
देखे अने जाणे निःशेषे सर्वतः ते सर्वने ।।३२।।

अयं खल्वात्मा स्वभावत एव परद्रव्यग्रहणमोक्षणपरिणमनाभावात्स्वतत्त्वभूतकेवलज्ञान स्वरूपेण विपरिणम्य निष्कम्पोन्मज्जज्ज्योतिर्जात्यमणिकल्पो भूत्वाऽवतिष्ठमानः समन्ततः स्फुरितदर्शनज्ञानशक्तिः, समस्तमेव निःशेषतयात्मानमात्मनात्मनि संचेतयते । अथवा युगपदेव सर्वार्थसार्थसाक्षात्करणेन ज्ञप्तिपरिवर्तनाभावात् संभावितग्रहणमोक्षणलक्षणक्रियाविरामः प्रथममेव समस्तपरिच्छेद्याकारपरिणतत्वात् पुनः परमाकारान्तरमपरिणममानः समन्ततोऽपि विश्वमशेषं पश्यति जानाति च एवमस्यात्यन्तविविक्तत्वमेव ॥ ३२ ॥

सर्वं निरवशेषम् । अथवा द्वितीयव्याख्यानम् – अभ्यन्तरे कामक्रोधादि बहिर्विषये पञ्चेन्द्रियविषयादिकं बहिर्द्रव्यं न गृह्णाति, स्वकीयानन्तज्ञानादिचतुष्टयं च न मुञ्चति यतस्ततः कारणादयं जीवः केवलज्ञानोत्पत्तिक्षण एव युगपत्सर्वं जानन्सन् परं विकल्पान्तरं न परिणमति । तथाभूतः सन् किं करोति । स्वतत्त्वभूतकेवलज्ञानज्योतिषा जात्यमणिकल्पो निःकम्पचैतन्यप्रकाशो भूत्वा स्वात्मानं स्वात्मना

अभाव होनेसे जिसके [1]ग्रहणत्यागरूप क्रिया विरामको प्राप्त हुई है ऐसा होता हुआ, पहलेसे ही समस्त ज्ञेयाकाररूप परिणमित होनेसे फिर पररूपसे – [2]आकारान्तररूपसे नहीं परिणमित होता हुआ सर्व प्रकारसे अशेष विश्वको, (मात्र) देखता-जानता है । इसप्रकार (पूर्वोक्त दोनों प्रकारसे) उसका (आत्माका पदार्थोंसे) अत्यन्त भिन्नत्व ही है ।

भावार्थ :– केवलीभगवान सर्व आत्मप्रदेशोंसे अपनेको ही अनुभव करते रहते हैं; इसप्रकार वे परद्रव्योंसे सर्वथा भिन्न हैं । अथवा, केवलीभगवानको सर्व पदार्थोंका युगपत् ज्ञान होता है इसलिये उनका ज्ञान एक ज्ञेयमेंसे दूसरेमें और दूसरेसे तीसरेमें नहीं बदलता तथा उन्हें कुछ भी जानना शेष नहीं रहता इसलिये उनका ज्ञान किसी विशेष ज्ञेयाकारको जाननेके प्रति भी नहीं जाता; इसप्रकार भी वे परसे सर्वथा भिन्न हैं । (यदि जाननक्रिया बदलती हो तभी उसे विकल्प पर – निमित्तक रागद्वेष हो सकते हैं और तभी इतना परद्रव्यके साथका सम्बन्ध कहलाता है । किन्तु केवलीभगवानकी ज्ञप्तिका परिवर्तन नहीं होता इसलिये वे परसे अत्यन्त भिन्न हैं ।) इसप्रकार केवलज्ञानप्राप्त आत्मा परसे अत्यन्त भिन्न होनेसे और प्रत्येक आत्मा स्वभावसे केवलीभगवान जैसा ही होनेसे यह सिद्ध हुआ कि निश्चयसे प्रत्येक आत्मा परसे भिन्न है ॥३२॥

---

[1] ज्ञप्तिक्रियाका बदलते रहना अर्थात् ज्ञानमें एक ज्ञेयको ग्रहण करना और दूसरेको छोड़ना सो ग्रहण-त्याग है; इसप्रकारका ग्रहण-त्याग वह क्रिया है, ऐसी क्रियाका केवलीभगवानके अभाव हुआ है ।

[2] आकारान्तर=अन्य आकार ।

अथ केवलज्ञानिश्रुतज्ञानिनोरविशेषदर्शनेन विशेषाकांक्षाक्षोभं क्षपयति –

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण ।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा ॥ ३३ ॥

यो हि श्रुतेन विजानात्यात्मानं ज्ञायकं स्वभावेन ।
तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणन्ति लोकप्रदीपकराः ॥ ३३ ॥

स्वात्मनि जानात्यनुभवति । तेनापि कारणेन परद्रव्यैः सह भिन्नत्वमेवेत्यभिप्रायः ॥ ३२ ॥ एवं ज्ञानं ज्ञेयरूपेण न परिणमतीत्यादिव्याख्यानरूपेण तृतीयस्थले गाथापञ्चकं गतम् । अथ यथा निरावरणसकलव्यक्तिलक्षणेन केवलज्ञानेनात्मपरिज्ञानं भवति तथा सावरणैकदेशव्यक्तिलक्षणेन केवलज्ञानोत्पत्तिबीजभूतेन स्वसंवेदनज्ञानरूपभावश्रुतेनाप्यात्मपरिज्ञानं भवतीति निश्चिनोति । अथवा द्वितीयपातनिका – यथा केवलज्ञानं प्रमाणं भवति तथा केवलज्ञानप्रणीतपदार्थप्रकाशकं श्रुतज्ञानमपि परोक्षप्रमाणं भवतीति पातनिकाद्वयं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति – **जो** यः कर्ता **हि** स्फुटं **सुदेण** निर्विकारस्वसंवित्तिरूपभावश्रुतपरिणामेन **विजाणदि** विजानाति विशेषेण जानाति विषयसुखानन्दविलक्षणनिजशुद्धात्मभावनोत्थपरमानन्दैकलक्षणसुखरसास्वादेनानुभवति । कम् । **अप्पाण** निजात्मद्रव्यम् । **जाणगं** ज्ञायकं केवलज्ञानस्वरूपम् । केन कृत्वा । **सहावेण** समस्तविभावरहितस्वस्वभावेन **तं सुयकेवलिं** तं महायोगीन्द्रं श्रुतकेवलिनं **भणंति** कथयन्ति । के कर्तारः । **इसिणो** ऋषयः । किंविशिष्टाः । **लोयप्पदीवयरा** लोकप्रदीपकरा लोकप्रकाशका इति । अतो विस्तरः – युगपत्परिणतसमस्तचैतन्यशालिना केवलज्ञानेन अनाद्यनन्तनिष्कारणान्यद्रव्यासाधारणस्वसंवेद्यमानपरमचैतन्यसामान्यलक्षणस्य परद्रव्यरहितत्वेन केवलस्यात्मन आत्मनि स्वानुभवनाद्यथा भगवान्

अब केवलज्ञानीको और श्रुतज्ञानीको अविशेषरूपसे दिखाकर विशेष आकांक्षाके क्षोभका क्षय करते हैं (अर्थात् केवलज्ञानीमें और श्रुतज्ञानीमें अन्तर नहीं है ऐसा बतलाकर विशेष जाननेकी इच्छाके क्षोभको नष्ट करते हैं) :–

गाथा ३३

अन्वयार्थ :– [यः हि] जो वास्तवमें [श्रुतेन] श्रुतज्ञानके द्वारा [स्वभावेन ज्ञायकं] स्वभावसे ज्ञायक (अर्थात् ज्ञायकस्वभाव) [आत्मानं] आत्माको [विजानाति] जानता है [तं] उसे [लोकप्रदीपकराः] लोकके प्रकाशक [ऋषयः] ऋषीश्वरगण [श्रुतकेवलिनं भणन्ति] श्रुतकेवली कहते हैं ।

टीका :– जैसे भगवान, युगपत् परिणमन करते हुए समस्त चैतन्यविशेषयुक्त

श्रुतज्ञानथी जाणे खरे ज्ञायकस्वभावी आत्मने ।
ऋषिओ प्रकाशक लोकना श्रुतकेवली तेने कहे ॥३३॥

यथा भगवान् युगपत्परिणतसमस्तचैतन्यविशेषशालिना केवलज्ञानेनानादिनिधननिष्कारणासाधारणस्वसंचेत्यमानचैतन्यसामान्यमहिम्नश्चेतकस्वभावेनैकत्वात् केवलस्यात्मन आत्मनात्मनि संचेतनाद् केवली, तथायं जनोऽपि क्रमपरिणममाणकतिपयचैतन्यविशेषशालिना श्रुतज्ञानेनानादिनिधननिष्कारणासाधारणस्वसंचेत्यमानचैतन्यसामान्यमहिम्नश्चेतकस्वभावेनैकत्वात् केवलस्यात्मन आत्मनात्मनि संचेतनात् श्रुतकेवली । अलं विशेषाकांक्षाक्षोभेण, स्वरूपनिश्चलैरेवावस्थीयते ।। ३३ ।।

केवली भवति, तथायं गणधरदेवादिनिश्चयरत्नत्रयाराधकजनोऽपि पूर्वोक्तलक्षणस्यात्मनो भावश्रुतज्ञानेन स्वसंवेदनान्निश्चयश्रुतकेवली भवतीति । किंच – यथा कोऽपि देवदत्त आदित्योदयेन दिवसे पश्यति, रात्रौ किमपि प्रदीपेनेति । तथादित्योदयस्थानीयेन केवलज्ञानेन दिवसस्थानीयमोक्षपर्याये भगवानात्मानं पश्यति, संसारी विवेकिजनः पुनर्निशास्थानीयसंसारपर्याये प्रदीपस्थानीयेन रागादिविकल्परहितपरमसमाधिना निजात्मानं पश्यतीति । अयमत्राभिप्रायः – आत्मा परोक्षः, कथं ध्यानं

केवलज्ञानके द्वारा, [1]अनादिनिधन- [2]निष्कारण- [3]असाधारण- [4]स्वसंवेद्यमान चैतन्यसामान्य जिसकी महिमा है तथा जो [5]चेतकस्वभावसे एकत्व होनेसे केवल (अकेला, शुद्ध, अखंड) है ऐसे आत्माको आत्मासे आत्मामें अनुभवकरनेके कारण केवली हैं; उसीप्रकार हम भी, क्रमशः परिणमित होते हुए कितने ही चैतन्यविशेषोंसेयुक्त श्रुतज्ञानके द्वारा, अनादिनिधन-निष्कारण-असाधारण-स्वसंवेद्यमान-चैतन्यसामान्य जिसकी महिमा है तथा जो चेतक स्वभावके द्वारा एकत्व होनेसे [6]केवल (अकेला) है ऐसे आत्माको आत्मासे आत्मामें अनुभवकरनेके कारण श्रुतकेवली हैं । (इसलिये) विशेष आकांक्षाके क्षोभसे बस हो; (हम तो) स्वरूपनिश्चल ही रहते हैं ।

भावार्थ :– भगवान समस्त पदार्थोंको जानते हैं, मात्र इसलिये ही वे 'केवली' नहीं कहलाते, किन्तु केवल अर्थात् शुद्ध आत्माको जानने-अनुभव करनेसे 'केवली' कहलाते हैं । केवल (–शुद्ध) आत्माको जानने-अनुभव करनेवाला श्रुतज्ञानी भी 'श्रुतकेवली' कहलाता है । केवली और श्रुतकेवलीमें इतना मात्र अन्तर है कि – जिसमें चैतन्यके समस्त विशेष एक ही साथ परिणमित होते हैं ऐसे केवलज्ञानके द्वारा केवली केवल आत्माका अनुभव करते हैं और जिसमें चैतन्यके कुछ विशेष क्रमशः परिणमित

१ [illegible]=अनादि-अनन्त (चैतन्यसामान्य आदि तथा अन्त रहित है) । २ निष्कारण=जिसका कोई कारण [illegible] सहज । ३ असाधारण=जो अन्य किसी द्रव्यमें न हो, ऐसा । ४ स्वसंवेद्यमान=स्वतः [illegible] । ५ चेतक=चेतनेवाला; दर्शकज्ञायक । ६ आत्मा निश्चयसे परद्रव्यके तथा [illegible] भेदोंसे रहित, मात्र चेतकस्वभावरूप ही है, इसलिये वह परमार्थसे केवल [illegible] है ।

अथ ज्ञानस्य श्रुतोपाधिभेदमुदस्यति –

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं ।
तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया ॥ ३४ ॥

सूत्रं जिनोपदिष्टं पुद्गलद्रव्यात्मकैर्वचनैः ।
तज्ज्ञप्तिर्हि ज्ञानं सूत्रस्य च ज्ञप्तिर्भणिता ॥ ३४ ॥

क्रियते इति सन्देहं कृत्वा परमात्मभावना न त्याज्येति ॥ ३३ ॥ अथ शब्दरूपं द्रव्यश्रुतं व्यवहारेण ज्ञानं निश्चयेनार्थपरिच्छित्तिरूपं भावश्रुतमेव ज्ञानमिति कथयति । अथवात्मभावनारतो निश्चयश्रुतकेवली भवतीति पूर्वसूत्रे भणितम् । अयं तु व्यवहारश्रुतकेवलीति कथ्यते – **सुत्तं** द्रव्यश्रुतम् । कथम्भूतम् । **जिणोवदिट्ठं** जिनोपदिष्टम् । कैः कृत्वा । **पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं** पुद्गलद्रव्यात्मकैर्दिव्यध्वनिवचनैः । **तं जाणणा हि णाणं** तेन पूर्वोक्तशब्दश्रुताधारेण ज्ञप्तिरर्थपरिच्छित्तिर्ज्ञानं भण्यते

होते हैं ऐसे श्रुतज्ञानके द्वारा श्रुतकेवली केवल आत्माका अनुभव करते हैं; अर्थात्, केवली सूर्यके समान केवलज्ञानके द्वारा आत्माको देखते और अनुभव करते हैं तथा श्रुतकेवली दीपकके समान श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माको देखते और अनुभव करते हैं, इसप्रकार केवली और श्रुतकेवलीमें स्वरूपस्थिरताकी तरतमतारूप भेद ही मुख्य है, कम-बढ़ (पदार्थ) जाननेरूप भेद अत्यन्त गौण है। इसलिये अधिक जाननेकी इच्छाका क्षोभ छोड़कर स्वरूपमें ही निश्चल रहना योग्य है । यही केवलज्ञान-प्राप्तिका उपाय है ॥ ३३ ॥

अब, ज्ञानके श्रुत-उपाधिकृत भेदको दूर करते हैं (अर्थात् ऐसा बतलाते हैं कि श्रुतज्ञान भी ज्ञान ही है, श्रुतरूप उपाधिके कारण ज्ञानमें कोई भेद नहीं होता) :–

गाथा ३४

अन्वयार्थ :– [**सूत्रं**] सूत्र अर्थात् [**पुद्गलद्रव्यात्मकैः वचनैः**] पुद्गलद्रव्यात्मक वचनोंके द्वारा [**जिनोपदिष्टं**] जिनेन्द्र भगवानके द्वारा उपदिष्ट वह [**तज्ज्ञप्तिः हि**] उसकी ज्ञप्ति [**ज्ञानं**] ज्ञान है [**च**] और उसे [**सूत्रस्य ज्ञप्तिः**] सूत्रकी ज्ञप्ति (श्रुतज्ञान) [**भणिता**] कहा गया है ।

पुद्गलस्वरूप वचनोथी जिन-उपदिष्ट जे ते सूत्र छे ।
छे ज्ञप्ति तेनी ज्ञान, तेने सूत्रनी ज्ञप्ति कहे ॥३४॥

...प्राप्त होता है।

(उत्तर) :–कौनसी क्रिया है और किस प्रकारका विरोध है ? जो यहाँ (प्रश्नमें) विरोधी क्रिया कही गई है वह या तो उत्पत्तिरूप होगी या ज्ञप्तिरूप होगी। प्रथम, उत्पत्तिरूप क्रिया तो 'कोई स्वयं अपनेमेंसे उत्पन्न नहीं हो सकता' इस आगम कथनसे विरुद्ध ही है; परन्तु ज्ञप्तिरूप क्रियामें विरोध नहीं आता, क्योंकि वह, प्रकाशनक्रियाकी भाँति, उत्पत्तिक्रियासे विरुद्ध प्रकारसे (भिन्न प्रकारसे) होती है। जैसे जो प्रकाश्यभूत परको प्रकाशित करता है ऐसे प्रकाशक दीपकको स्व प्रकाश्यको प्रकाशित करनेके संबन्धमें अन्य प्रकाशककी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उसके स्वयमेव प्रकाशन क्रियाकी प्राप्ति है; उसीप्रकार जो ज्ञेयभूत परको जानता है ऐसे ज्ञायक आत्माको स्व ज्ञेयके जाननेके संबन्धमें अन्य ज्ञायककी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि स्वयमेव ज्ञान-क्रिया की प्राप्ति [1]है। (इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान स्वको भी जान सकता है।)

---

[1] कोई पर्याय स्वयं अपनेमेंसे उत्पन्न नहीं हो सकती, किंतु वह द्रव्यके आधारसे – द्रव्यमेंसे उत्पन्न होती है; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो द्रव्यरूप आधारके बिना पर्यायें उत्पन्न होने लगें और जलके बिना तरंगे होने लगें; किन्तु यह सब प्रत्यक्ष विरुद्ध है; इसलिये पर्यायके उत्पन्न होनेके लिये द्रव्यरूप आधार आवश्यक है। इसीप्रकार ज्ञान-पर्याय भी स्वयं अपनेमेंसे उत्पन्न नहीं हो सकती; वह आत्मद्रव्यमेंसे उत्पन्न हो सकती है जो कि ठीक ही है। परन्तु ज्ञान पर्याय स्वयं अपनेसे ही ज्ञात नहीं हो सकती यह बात यथार्थ नहीं है। आत्म द्रव्यमेंसे उत्पन्न होनेवाली ज्ञानपर्याय स्वयं अपनेसे ही ज्ञात होती है। जैसे दीपकरूपी आधारमेंसे उत्पन्न होने वाली प्रकाश-पर्याय स्व-परको प्रकाशित करती है, उसी प्रकार आत्मारूपी आधारमेंसे उत्पन्न होने वाली ज्ञान पर्याय स्वपरको जानती है। और यह अनुभव सिद्ध भी है कि ज्ञान स्वयं अपनेको जानता है।

अथातिवाहितानागतानामपि द्रव्यपर्यायाणां तादात्विकवत् पृथक्त्वेन ज्ञाने वृत्तिमुद्योतयति –

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं ।
वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥ ३७ ॥

तात्कालिका इव सर्वे सदसद्भूता हि पर्यायास्तासाम् ।
वर्तन्ते ते ज्ञाने विशेषतो द्रव्यजातीनाम् ॥ ३७ ॥

सर्वासामेव हि द्रव्यजातीनां त्रिसमयावच्छिन्नात्मलाभभूमिकत्वेन क्रमप्रतपत्स्वरूपसंपदः सद्भूतासद्भूततामायान्तो ये यावन्तः पर्यायास्ते तावन्तस्तात्कालिका इवात्यन्तसंकरेणाप्यवधारितविशेषलक्षणा एकक्षण एवाववोधसौधस्थितिमवतरन्ति । न खल्वेतद-

---

(प्रश्न–) : आत्माको द्रव्योंकी ज्ञानरूपता और द्रव्योंको आत्माकी ज्ञेयरूपता कैसे (-किसप्रकार घटित) है ?

(उत्तर) :– वे परिणामवाले होनेसे । आत्मा और द्रव्य परिणामयुक्त हैं, इसलिये आत्माके, द्रव्य जिसका [1]आलम्बन हैं ऐसे ज्ञानरूपसे (परिणति), और द्रव्योंके, ज्ञानका [2]अवलम्बन लेकर ज्ञेयाकाररूपसे परिणति अबाधितरूपसे तपती है – प्रतापवंत वर्तती है । (आत्मा और द्रव्य समय-समय पर परिणमन किया करते हैं, वे कूटस्थ नहीं हैं; इसलिये आत्मा ज्ञान स्वभावसे और द्रव्य ज्ञेय स्वभावसे परिणमन करता है, इसप्रकार ज्ञान स्वभावमें परिणमित आत्मा ज्ञानके आलम्बनभूत द्रव्योंको जानता है और ज्ञेय-स्वभावसे परिणमित द्रव्य ज्ञेयके आलम्बनभूत ज्ञानमें-आत्मामें-ज्ञात होते हैं ।) ॥ ३६ ॥

अब, ऐसा उद्योत करते हैं कि द्रव्योंकी अतीत और अनागत पर्यायें भी तात्कालिक पर्यायोंकी भाँति पृथक्‌रूपसे ज्ञानमें वर्तती हैं :–

---

[1] ज्ञानके ज्ञेयभूत द्रव्य आलम्बन अर्थात् निमित्त हैं । यदि ज्ञान ज्ञेयको न जाने तो ज्ञानका ज्ञानत्व क्या ?

[2] ज्ञेयका ज्ञान आलम्बन अर्थात् निमित्त है । यदि ज्ञेय ज्ञानमें ज्ञात न हो तो ज्ञेयका ज्ञेयत्व क्या ?

ते द्रव्यना सद्‌भूत-असद्‌भूत पर्ययो सौ वर्तता ।
तत्कालना पर्याय जेम, विशेषपूर्वक ज्ञानमां ॥३७॥

युक्तं — दृष्टाविरोधात्; दृश्यते हि छद्मस्थस्यापि वर्तमानमिव व्यतीतमनागतं वा वस्तु चिन्तयतः संविदालम्बितस्तदाकारः। — किंच चित्रपटीस्थानीयत्वात् संविदः; यथा हि चित्र-पट्यामतिवाहितानामनुपस्थितानां वर्तमानानां च वस्तूनामालेख्याकाराः साक्षादेकक्षण

सूत्रार्थः ॥ ३६ ॥ एवं निश्चयश्रुतकेवलिव्यवहारश्रुतकेवलिकथनमुख्यतया भिन्नज्ञाननिराकरणेन ज्ञानज्ञेयस्वरूपकथनेन च चतुर्थस्थले गाथाचतुष्टयं गतम्। अथातीतानागतपर्याया वर्तमानज्ञाने साम्प्रता इव दृश्यन्त इति निरूपयति — सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जाया सर्वे सद्भूता असद्भूता अपि पर्यायाः ये हि स्फुटं वर्तन्ते ते ते पूर्वोक्ताः पर्याया वर्तन्ते प्रतिभासन्ते प्रतिस्फुरन्ति। क्व। **णाणे** केवलज्ञाने। कथंभूता इव तक्कालिगेव तात्कालिका इव वर्तमाना इव। कासां सम्बन्धिनः। **तासिं दव्वजादीणं** तासां प्रसिद्धानां शुद्धजीवद्रव्यादिद्रव्यजातीनामिति। [illegible]। कस्मात्। **विसेसदो**

गाथा ३७

अन्वयार्थ :— [**तासाम् द्रव्यजातीनाम्**] उन (जीवादि) द्रव्यजातियोंकी [**ते सर्वे**] समस्त [**सदसद्भूताः हि**] विद्यमान और अविद्यमान [**पर्यायाः**] पर्यायें [**तात्कालिकाः इव**] तात्कालिक (वर्तमान) पर्यायोंकी भाँति, [**विशेषतः**] विशिष्टता-पूर्वक (अपने-अपने भिन्न-भिन्न स्वरूपमें) [**ज्ञाने वर्तन्ते**] ज्ञानमें वर्तती हैं।

टीका :— (जीवादिक) समस्त द्रव्यजातियोंकी पर्यायोंकी उत्पत्तिकी मर्यादा तीनोंकालकी मर्यादा जितनी होनेसे (वे तीनोंकालमें उत्पन्न हुआ करती हैं इसलिये), उनकी (उन समस्त द्रव्य-जातियोंकी), क्रमपूर्वक तपती हुई स्वरूप-सम्पदा वाली (-एकके बाद दूसरी प्रगट होनेवाली), विद्यमानता और अविद्यमानताको प्राप्त जो जितनी पर्यायें हैं, वे सब तात्कालिक (वर्तमानकालीन) पर्यायोंकी भाँति, अत्यन्त [१]मिश्रित होनेपर भी सब पर्यायोंके विशिष्ट लक्षण स्पष्ट ज्ञात हों इसप्रकार, एक क्षणमें ही, ज्ञानमंदिरमें स्थितिको प्राप्त होती हैं। यह (तीनोंकालकी पर्यायोंका वर्तमान पर्यायोंकी भाँति ज्ञानमें ज्ञात होना) अयुक्त नहीं है; क्योंकि —

(१) उसका दृष्टके साथ (जगतमें जो दिखाई देता है — अनुभवमें आता है उसके साथ) अविरोध है। (जगतमें) दिखाई देता है कि छद्मस्थके भी, जैसे वर्तमान वस्तुका चिंतवन करते हुए ज्ञान उसके आकारका अवलम्बन करता है उसीप्रकार भूत और भविष्यत वस्तुका चिंतवन करते हुए (भी) ज्ञान उसके आकारका अवलम्बन करता है।

---

[१] ज्ञानमें समस्त द्रव्योंकी तीनोंकालकी पर्यायें एक ही साथ ज्ञात होने पर भी प्रत्येक पर्यायका विशिष्ट स्वरूप —प्रदेश, काल, आकार इत्यादि विशेषतायें—स्पष्ट ज्ञात होता है; संकर — व्यतिकर नहीं होते।

एवावभासन्ते, तथा संविद्भित्तावपि । – किंच सर्वज्ञेयाकाराणां तादात्विकत्वाविरोधात्; यथा हि प्रध्वस्तानामनुदितानां च वस्तूनामालेख्याकारा वर्तमाना एव, तथातीतानामनागतानां च पर्यायाणां ज्ञेयाकारा वर्तमाना एव भवन्ति ।। ३७ ।।

स्वकीयस्वकीयप्रदेशकालाकारविशेषैः संकरव्यतिकरपरिहारेणेत्यर्थः । किंच – यथा छद्मस्थपुरुषस्यातीतानागतपर्याया मनसि चिन्तयतः प्रतिस्फुरन्ति, यथा च चित्रभित्तौ बाहुबलिभरतादिव्यतिक्रान्तरूपाणि श्रेणिकतीर्थकरादिभाविरूपाणि च वर्तमानानीव प्रत्यक्षेण दृश्यन्ते तथा चित्रभित्तिस्थानीयकेवलज्ञाने भूतभाविनश्च पर्याया युगपत्प्रत्यक्षेण दृश्यन्ते, नास्ति विरोधः । यथायं केवली भगवान् परद्रव्यपर्यायान् परिच्छित्तिमात्रेण जानाति, न च तन्मयत्वेन, निश्चयेन तु केवलज्ञानादिगुणाधारभूतं स्वकीयसिद्धपर्यायमेव स्वसंवित्त्याकारेण तन्मयो भूत्वा परिच्छिनत्ति जानाति, तथासन्नभव्यजीवेनापि निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयपर्याय एव सर्वतात्पर्येण ज्ञातव्य इति

---

(२) और ज्ञान चित्रपटके समान है । जैसे चित्रपटमें अतीत, अनागत और वर्तमान वस्तुओंके [1]आलेख्याकार साक्षात् एक क्षणमें ही भासित होते हैं; उसीप्रकार ज्ञानरूपी भित्तिमें (-ज्ञानभूमिकामें, ज्ञानपटमें) भी अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायोंके ज्ञेयाकार साक्षात् एक क्षणमें ही भासित होते हैं ।

(३) और सर्व ज्ञेयाकारोंकी तात्कालिकता (वर्तमानता, साम्प्रतिकता) अविरुद्ध है । जैसे नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओंके आलेख्याकार वर्तमान ही हैं, उसीप्रकार अतीत और अनागत पर्यायोंके ज्ञेयाकार वर्तमान ही हैं ।

भावार्थ :– केवलज्ञान समस्त द्रव्योंकी तीनों कालकी पर्यायोंको युगपद् जानता है । यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि ज्ञान नष्ट और अनुत्पन्न पर्यायोंको वर्तमान कालमें कैसे जान सकता है ? उसका समाधान है कि – जगतमें भी देखा जाता है कि अल्पज्ञ जीवका ज्ञान भी नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओंका चिंतवन कर सकता है, अनुमानके द्वारा जान सकता है, तदाकार हो सकता है; तब फिर पूर्ण ज्ञान नष्ट और अनुत्पन्न पर्यायोंको क्यों न जान सकेगा ? ज्ञानशक्ति ही ऐसी है कि वह चित्रपटकी भाँति अतीत और अनागत पर्यायोंको भी जान सकती है । और आलेख्यत्वशक्तिकी भाँति, द्रव्योंकी ज्ञेयत्व शक्ति ऐसी है कि उनकी अतीत और अनागत पर्यायें भी ज्ञानमें ज्ञेयरूप होती हैं –ज्ञात होती हैं । इसप्रकार आत्माकी अद्भुत ज्ञानशक्ति और द्रव्योंकी अद्भुत ज्ञेयत्वशक्तिके कारण केवलज्ञानमें समस्त द्रव्योंकी तीनोंकालकी पर्यायोंका एक ही समयमें भासित होना अविरुद्ध है ।। ३७ ।।

---

[1] आलेख्य = आलेखन योग्य; चित्रित करने योग्य ।

अथासद्भूतपर्यायाणां कथंचित्सद्भूतत्वं विदधाति –

जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया ।
ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा ।। ३८ ।।

ये नैव हि संजाता ये खलु नष्टा भूत्वा पर्यायाः ।
ते भवन्ति असद्भूताः पर्याया ज्ञानप्रत्यक्षाः ।। ३८ ।।

ये खलु नाद्यापि संभूतिमनुभवन्ति, ये चात्मलाभमनुभूय विलयमुपगतास्ते किलासद्भूता अपि परिच्छेदं प्रति नियतत्वात् ज्ञानप्रत्यक्षतामनुभवन्तः शिलास्तम्भोत्कीर्णभूतभाविदेववदप्रकम्पार्पितस्वरूपाः सद्भूता एव भवन्ति ।। ३८ ।।

तात्पर्यम् ।। ३७ ।। अथातीतानागतपर्यायाणामसद्भूतसंज्ञा भवतीति प्रतिपादयति – जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया ये नैव संजाता नाद्यापि भवन्ति, भाविन इत्यर्थः । हि स्फुटं ये च खलु नष्टा विनष्टाः पर्यायाः । किं कृत्वा । भूत्वा । ते होंति असब्भूदा पज्जाया ते पूर्वोक्ता भूता भाविनश्च पर्याया

अब, अविद्यमान पर्यायोंकी (भी) कथंचित् (-किसी प्रकारसे; किसी अपेक्षासे) विद्यमानता बतलाते हैं :–

गाथा ३८

अन्वयार्थ :– [**ये पर्यायाः**] जो पर्यायें [**हि**] वास्तवमें [**न एव संजाताः**] उत्पन्न नहीं हुई हैं, तथा [**ये**] जो पर्यायें [**खलु**] वास्तवमें [**भूत्वा नष्टाः**] उत्पन्न होकर नष्ट होगई हैं, [**ते**] वे [**असद्भूताः पर्यायाः**] अविद्यमान पर्यायें [**ज्ञानप्रत्यक्षाः भवन्ति**] ज्ञान प्रत्यक्ष हैं ।

टीका :– जो (पर्यायें) अभी तक भी उत्पन्न नहीं हुई और जो उत्पन्न होकर नष्ट होगई हैं, वे (पर्यायें) वास्तवमें अविद्यमान होने पर भी, ज्ञानके प्रति नियत होनेसे (ज्ञानमें निश्चित-स्थिर-लगी हुई होनेसे, ज्ञानमें सीधी ज्ञात होनेसे) [1]ज्ञानप्रत्यक्ष वर्तती हुई, पाषाण स्तम्भमें उत्कीर्ण, भूत और भावी देवों (तीर्थंकरदेवों) की भाँति

[1] प्रत्यक्ष=अक्षके प्रति – अक्षके सम्मुख – अक्षके निकटमें – अक्षके संबंधमें हो ऐसा । [अक्ष=ज्ञान; आत्मा ।]

जे पर्ययो अणजात छे, वली जन्मीने प्रविनष्ट जे ।
ते सौ असद्भूत पर्ययो पण ज्ञानमां प्रत्यक्ष छे ।।३८।।

अथैतदेवासद्भूतानां ज्ञानप्रत्यक्षत्वं दृढयति –

जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स ।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति ॥ ३९ ॥

यदि प्रत्यक्षोऽजातः पर्यायः प्रलयितश्च ज्ञानस्य ।
न भवति वा तत् ज्ञानं दिव्यमिति हि के प्ररूपयन्ति ॥ ३९ ॥

अविद्यमानत्वादसद्भूता भण्यन्ते । **णाणपच्चक्खा** ते चाविद्यमानत्वादसद्भूता अपि वर्तमानज्ञानविषयत्वाद्व्यवहारेण भूतार्था भण्यन्ते, तथैव ज्ञानप्रत्यक्षाश्चेति । यथायं भगवान्निश्चयेन परमानन्दैकलक्षणसुखस्वभावं मोक्षपर्यायमेव तन्मयत्वेन परिच्छिनत्ति, परद्रव्यपर्यायं तु व्यवहारेणेति; तथा भावितात्मना पुरुषेण रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वसंवेदनपर्याय एव तात्पर्येण ज्ञातव्यः, वहिर्द्रव्यपर्यायाश्च गौणवृत्त्येति भावार्थः ॥ ३८ ॥ अथासद्भूतपर्यायाणां वर्तमानज्ञानप्रत्यक्षत्वं दृढयति – **जइ पच्चक्खमजायं पज्जायं पलइयं च णाणस्स ण हवदि वा** यदि प्रत्यक्षो न भवति । स कः । अजातपर्यायो भाविपर्यायः । न केवलं भाविपर्यायः प्रलयितश्च वा । कस्य । ज्ञानस्य । **तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति** तद्ज्ञानं दिव्यमिति के प्ररूपयन्ति, न केऽपीति । तथा हि – यदि वर्तमानपर्यायवदतीतानागतपर्यायं ज्ञानं कर्तृ क्रमकरणव्यवधानरहितत्वेन साक्षात्प्रत्यक्षं न करोति, तर्हि तत् ज्ञानं दिव्यं न भवति । वस्तु-

---

अपने स्वरूपको अकम्पतया (ज्ञानको) अर्पित करती हुई (वे पर्यायें) विद्यमान ही हैं ॥ ३८ ॥

अब, इन्हीं अविद्यमान पर्यायोंकी ज्ञानप्रत्यक्षताको दृढ़ करते हैं :–

गाथा ३९

अन्वयार्थ :– **[यदि वा]** यदि **[अजातः पर्यायः]** अनुत्पन्न पर्याय **[च]** तथा **[प्रलयितः]** नष्ट पर्याय **[ज्ञानस्य]** ज्ञानके (केवलज्ञानके) **[प्रत्यक्षः न भवति]** प्रत्यक्ष न हो तो **[तत् ज्ञानं]** उस ज्ञानको **[दिव्यं इति हि]** 'दिव्य' **[के प्ररूपयंति]** कौन प्ररूपेगा ?

टीका :– जिसने अस्तित्वका अनुभव नहीं किया और जिसने अस्तित्वका अनुभव कर लिया है ऐसी (अनुत्पन्न और नष्ट) पर्यायमात्रको यदि ज्ञान अपनी निर्विघ्न विकसित, अखंडित प्रतापयुक्त प्रभुशक्तिके (-महा सामर्थ्य) द्वारा बलात् अत्यन्त आक्रमित करे (-प्राप्त करे), तथा वे पर्यायें अपने स्वरूपसर्वस्वको अक्रमसे अर्पित करें

ज्ञाने अजात-विनष्ट पर्यायो तणी प्रत्यक्षता ।
नव होय जो, तो ज्ञानने ए 'दिव्य' कोण कहे भला ? ॥३९॥

यदि खल्वसंभावितभावं संभावितभावं च पर्यायजातमप्रतिहतविजृम्भिताखण्डित-प्रतापप्रभुशक्तितया प्रसभेनैव नितान्तमाक्रम्याक्रमसमर्पितस्वरूपसर्वस्वमात्मानं प्रतिनियतं ज्ञानं न करोति, तदा तस्य कुतस्तनी दिव्यता स्यात् । अतः काष्ठाप्राप्तस्य परिच्छेदस्य सर्वमेतदुपपन्नम् ॥ ३९ ॥

अथेन्द्रियज्ञानस्यैव प्रलीनमनुत्पन्नं च ज्ञातुमशक्यमिति वितर्कयति –

अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति ।
तेसिं परोक्खभूदं णादुमसक्कं ति पण्णत्तं ॥ ४० ॥

अर्थमक्षनिपतितमीहापूर्वैर्ये　　विजानन्ति ।
तेषां परोक्षभूतं ज्ञातुमशक्यमिति प्रज्ञप्तम् ॥ ४० ॥

तस्तु ज्ञानमेव न भवतीति । यथायं केवली परकीयद्रव्यपर्यायान् यद्यपि परिच्छित्तिमात्रेण जानाति, तथापि निश्चयनयेन सहजानन्दैकस्वभावे स्वशुद्धात्मनि तन्मयत्वेन परिच्छित्तिं करोति, तथा निर्मल-विवेकिजनोऽपि यद्यपि व्यवहारेण परकीयद्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानं करोति, तथापि निश्चयेन निर्विकारस्वसंवेदनपर्याये विषयत्वात्पर्यायेण परिज्ञानं करोतीति सूत्रतात्पर्यम् ॥३९॥ अथातीतानागत-

---

(-एकही साथ ज्ञानमें ज्ञात हों) इसप्रकार उन्हें अपने प्रति नियत न करे (-अपनेमें निश्चित न करे, प्रत्यक्ष न जाने), तो उस ज्ञानकी दिव्यता क्या है ? इससे (यह कहा गया है कि) पराकाष्ठाको प्राप्त ज्ञानके लिये यह सब योग्य है ।

भावार्थ :– अनन्त महिमावान केवलज्ञानकी यह दिव्यता है कि वह अनन्त द्रव्योंकी समस्त पर्यायोंको (अतीत और अनागत पर्यायोंको भी) सम्पूर्णतया एक ही समय प्रत्यक्ष जानता है ॥ ३९ ॥

अब, इन्द्रियज्ञानके लिये नष्ट और अनुत्पन्नका जानना अशक्य है (अर्थात् इन्द्रियज्ञान ही नष्ट और अनुत्पन्न पदार्थोंको-पर्यायोंको नहीं जान सकता) ऐसा न्यायसे निश्चित करते हैं ।

गाथा ४०

अन्वयार्थ :– [ये] जो [अक्षनिपतितं] अक्षपतित अर्थात् इन्द्रियगोचर [अर्थं]

ईहादिपूर्वक जाणता जे अक्षपतित पदार्थ ने ।
तेने परोक्ष पदार्थ जाणवु शक्य ना–जिनजी कहे ॥४०॥

ये खलु विषयविषयिसन्निपातलक्षणमिन्द्रियार्थसन्निकर्षमधिगम्य क्रमोपजायमानेनेहादिकप्रक्रमेण परिच्छिन्दन्ति, ते किलातिवाहितस्वास्तित्वकालमनुपस्थितस्वास्तित्वकालं वा यथोदितलक्षणस्य ग्राह्यग्राहकसंबंधस्यासंभवतः परिच्छेत्तुं न शक्नुवन्ति ॥ ४० ॥

सूक्ष्मादिपदार्थानिन्द्रियज्ञानं न जानातीति विचारयति—अत्थं घटपटादिज्ञेयपदार्थं। कथंभूतं। **अक्खणिवदिदं** अक्षनिपतितं इन्द्रियप्राप्तं इन्द्रियसंबद्धं। इत्थंभूतमर्थं **ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति** अवग्रहेहावायादिक्रमेण ये पुरुषा विजानन्ति हि स्फुटं। **तेसिं परोक्खभूदं** तेषां सम्बन्धि ज्ञानं परोक्षभूतं सत् **णादुमसक्कं ति पण्णत्तं** सूक्ष्मादिपदार्थान् ज्ञातुमशक्यमिति प्रज्ञप्तं कथितम्। कैः। ज्ञानिभिरिति। तद्यथा—चक्षुरादीन्द्रियं घटपटादिपदार्थपार्श्वे गत्वा पश्चादर्थं जानातीति सन्निकर्षलक्षणं नैयायिकमते। अथवा संक्षेपेणेन्द्रियार्थयोः संबंधः सन्निकर्षः स एव प्रमाणम्। स च सन्निकर्ष आकाशाद्यमूर्तपदार्थेषु देशांतरितमेर्वादिपदार्थेषु कालान्तरितरामरावणादिषु स्वभावान्तरितभूतादिषु तथैवातिसूक्ष्मेषु परचेतोवृत्तिपुद्गलपरमाण्वादिषु च न प्रवर्तते। कस्मादिति चेत्। इन्द्रियाणां स्थूलविषयत्वात्, तथैव मूर्तविषयत्वाच्च। ततः कारणादिन्द्रियज्ञानेन सर्वज्ञो न भवति। तत एव चातीन्द्रियज्ञानोत्पत्तिकारणं रागादिविकल्परहितं स्वसंवेदनज्ञानं विहाय पञ्चेन्द्रियसुखसाधनभूतेन्द्रियज्ञाने नानामनोरथविकल्पजालरूपे मानसज्ञाने च ये रतिं कुर्वन्ति ते सर्वज्ञपदं न लभन्ते इति सूत्राभिप्रायः ॥ ४० ॥ अथातीन्द्रियज्ञानमतीतानागतसूक्ष्मादिपदार्थान्

पदार्थको [ईहापूर्वैः] ईहादिक द्वारा [विजानन्ति] जानते हैं, [तेषां] उनके लिये [परोक्षभूतं] [1]परोक्षभूत पदार्थको [ज्ञातुं] जानना [अशक्यं] अशक्य है [इति प्रज्ञप्तं] ऐसा सर्वज्ञदेवने कहा है।

टीका :— विषय और विषयीका [2]सन्निपात जिसका लक्षण (-स्वरूप) है, ऐसे इन्द्रिय और पदार्थके [3]सन्निकर्षको प्राप्त करके, जो अनुक्रमसे उत्पन्न ईहादिकके क्रमसे जानते हैं वे उसे नहीं जान सकते जिसका स्व-अस्तित्वकाल बीत गया है तथा जिसका स्व-अस्तित्वकाल उपस्थित नहीं हुआ है क्योंकि (अतीत-अनागत पदार्थ और इन्द्रियके) यथोक्त लक्षण (-यथोक्तस्वरूप, ऊपर कहा जैसा) [4]ग्राह्यग्राहकसम्बन्धका असंभव है।

भावार्थ :— इन्द्रियोंके साथ पदार्थका (अर्थात् विषयीके साथ विषयका) सन्निकर्ष-सम्बन्ध हो तभी (अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणारूप क्रमसे) इन्द्रिय ज्ञान पदार्थको जान सकता है। नष्ट और अनुत्पन्न पदार्थोंके साथ इन्द्रियोंका सन्निकर्ष-सम्बन्ध न होनेसे इन्द्रिय ज्ञान उन्हें नहीं जान सकता। इसलिये इन्द्रियज्ञान हीन है, हेय है ॥ ४० ॥

---

[1] परोक्ष=अक्षसे पर अर्थात् अक्षसे दूर होवे ऐसा; इन्द्रिय अगोचर।

[2] सन्निपात=मिलाप, संबंध होना वह। [3] सन्निकर्ष=संबंध, समीपता।

[4] इन्द्रियगोचर पदार्थ ग्राह्य है और इन्द्रियाँ ग्राहक हैं।

अथातीन्द्रियज्ञानस्य [illegible]

अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं ।
पलयं गदं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं ॥ ४१ ॥

अप्रदेशं सप्रदेशं मूर्तममूर्तं च पर्ययमजातम् ।
प्रलयं गतं च जानाति तज्ज्ञानमतीन्द्रियं भणितम् ॥ ४१ ॥

जानातीत्युपदिशति – अपदेसं [illegible] स्वरूपं मुत्तं मूर्तं पुद्गलद्रव्यं अमुत्तं च [illegible] भाविनं प्रलयं गतं चातीतमेतस्मिन् पूर्वोक्त [illegible] णाणमदिंदियं भणियं तद्ज्ञानमतीन्द्रियं भणितं [illegible]

अब, ऐसा स्पष्ट करते हैं कि अतीन्द्रिय ज्ञानके लिये जो जो कहा जाता है वह (सब) संभव है :–

गाथा ४१

अन्वयार्थ :–[**अप्रदेशं**] जो ज्ञान अप्रदेशको, [**सप्रदेशं**] सप्रदेशको, [**मूर्तं**] मूर्तको, [**अमूर्तं च**] और अमूर्तको तथा [**अजातं**] अनुत्पन्न [**च**] और [**प्रलयंगतं**] नष्ट [**पर्यायं**] पर्यायको [**जानाति**] जानता है, [**तत् ज्ञानं**] वह ज्ञान [**अतीन्द्रियं**] अतीन्द्रिय [**भणितम्**] कहा गया है ।

टीका :– इन्द्रियज्ञान उपदेश, अन्तःकरण और इन्द्रिय इत्यादिको [1]विरूप-कारणतासे (ग्रहणकरके) और उपलब्धि (-क्षयोपशम), संस्कार इत्यादिको अंतरङ्ग स्वरूप-कारणतासे ग्रहण करके प्रवृत्त होता है; और वह प्रवृत्त होता हुआ सप्रदेशको ही जानता है क्योंकि वह स्थूलको जाननेवाला है, अप्रदेशको नहीं जानता, (क्योंकि वह सूक्ष्मको जाननेवाला नहीं है); वह मूर्तको ही जानता है क्योंकि वैसे (मूर्तिक) विषयके साथ उसका सम्बन्ध है, वह अमूर्तको नहीं जानता (क्योंकि अमूर्तिक विषयके साथ

[1] विरूप=ज्ञानके स्वरूपसे भिन्न स्वरूपवाले । (उपदेश, मन और इन्द्रियाँ पौद्गलिक होनेसे उनका रूप ज्ञानके स्वरूपसे भिन्न है । वे इंद्रियज्ञानमें बहिरंग कारण हैं ।)

जे जाणतु अप्रदेशने, सप्रदेश, मूर्त, अमूर्तने ।
पर्याय नष्ट-अजातने, भाख्युं अतींद्रिय ज्ञान ते ।। ४१ ।।

इन्द्रियज्ञानं नाम उपदेशान्तःकरणेन्द्रियादीनि विरूपकारणत्वेनोपलब्धिसंस्कारादीन् अन्तरङ्गस्वरूपकारणत्वेनोपादाय प्रवर्तते; प्रवर्तमानं च सप्रदेशमेवाध्यवस्यतिस्थूलोपलम्भकत्वान्नाप्रदेशम्; मूर्तमेवावगच्छति तथाविधविषयनिबन्धनसद्भावान्नामूर्तम्; वर्तमानमेव परिच्छिनत्ति विषयविषयिसन्निपातसद्भावान्न तु वृत्तं वर्त्स्यच्च । यत्तु पुनरनावरणमतीन्द्रियं ज्ञानं तस्य समिद्धधूमध्वजस्येवानेकप्रकारतालिङ्गितं दाह्यं दाह्यतानतिक्रमाद्दाह्यमेव यथा तथात्मनः अप्रदेशं सप्रदेशं मूर्तममूर्तमजातमतिवाहितं च पर्यायजातं ज्ञेयतानतिक्रमात्परिच्छेद्यमेव भवतीति ॥ ४१ ॥

अथ ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणा क्रिया ज्ञानान्न भवतीति श्रद्दधाति –

परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं तस्स ।
णाणं ति तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता ॥ ४२ ॥

मानसज्ञानं च त्यक्त्वा ये निर्विकल्पसमाधिरूप स्वसंवेदनज्ञाने समस्तविभावपरिणामत्यागेन रति कुर्वन्ति त एव परमाह्लादैकलक्षणसुखस्वभावं सर्वज्ञपदं लभन्ते इत्यभिप्रायः ॥ ४१ ॥ एवमतीतानागतपर्याया वर्तमानज्ञाने प्रत्यक्षा न भवन्तीति बौद्धमतनिराकरणमुख्यत्वेन गाथात्रय, तदनन्तरमिन्द्रियज्ञानेन सर्वज्ञो न भवत्यतीन्द्रियज्ञानेन भवतीति नैयायिकमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं च गाथाद्वयमिति समुदायेन पञ्चमस्थले गाथापञ्चकं गतम् ॥ अथ रागद्वेषमोहाः बन्धकारणं, न च ज्ञानमित्यादि-

---

इन्द्रियज्ञानका सम्बन्ध नहीं है); वह वर्तमानको ही जानता है क्योंकि विषय-विषयीके सन्निपात सद्भाव है, वह प्रवर्तित हो चुकनेवालेको और भविष्यमें प्रवृत्त होनेवालेको नहीं जानता (क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षका अभाव है) ।

परन्तु जो अनावरण अतीन्द्रिय ज्ञान है उसे अपने अप्रदेश, सप्रदेश, मूर्त और अमूर्त (पदार्थ मात्र) तथा अनुत्पन्न एवं व्यतीत पर्यायमात्र, ज्ञेयताका अतिक्रमण न करनेसे ज्ञेय ही है – जैसे प्रज्वलित अग्निको अनेक प्रकारका ईंधन, दाह्यताका अतिक्रमण न करनेसे, दाह्य ही है । (जैसे प्रदीप्त अग्नि दाह्यमात्रको – ईंधनमात्रको-जला देती है, इसीप्रकार निरावरण ज्ञान ज्ञेयमात्रको – द्रव्यपर्यायमात्रको – जानता है) ॥ ४१ ॥

अब, ऐसी श्रद्धा व्यक्त करते हैं कि ज्ञेय पदार्थरूप परिणमन जिसका लक्षण है ऐसी (ज्ञेयार्थपरिणमनस्वरूप) क्रिया ज्ञानमेंसे उत्पन्न नहीं होती :–

जो ज्ञेय अर्थे परिणमे ज्ञाता, न क्षायिक ज्ञान छे ।
ते कर्मने ज अनुभवे छे एम जिनदेवो कहे ॥ ४२ ॥

परिणमति ज्ञेयमर्थं ज्ञाता यदि नैव क्षायिकं तस्य ।
ज्ञानमिति तं जिनेन्द्राः क्षपयन्तं कर्मैवोक्तवन्तः ॥ ४२ ॥

परिच्छेत्ता हि यत्परिच्छेद्यमर्थं परिणमति तन्न तस्य सकलकर्मकक्षक्षयप्रवृत्तस्वाभाविकपरिच्छेदनिदानमथवा ज्ञानमेव नास्ति तस्य; यतः प्रत्यर्थपरिणतिद्वारेण मृगतृष्णाम्भोभारसंभावनाकरणमानसः सुदुःसहं कर्मभारमेवोपभुञ्जानः स जिनेन्द्रैरुद्गीतः ॥४२॥

कथनरूपेण गाथापञ्चकपर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तद्यथा–यस्येष्टानिष्टविकल्परूपेण कर्मबन्धकारणभूतेन ज्ञेयविषये परिणमनमस्ति तस्य क्षायिकज्ञानं नास्तीत्यावेदयति—**परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि** नीलमिदं पीतमिदमित्यादिविकल्परूपेण यदि ज्ञेयार्थं परिणमति ज्ञातात्मा **णेव खाइगं तस्स णाणं ति** तस्यात्मनः क्षायिकज्ञानं नैवास्ति। अथवा ज्ञानमेव नास्ति। कस्मान्नास्ति। **तं जिणिंदा खवयंतं** कम्ममेवुत्ता तं पुरुषं कर्मतापन्नं जिनेन्द्राः कर्तारः उक्तवन्तः। किं कुर्वन्तम्। क्षपयन्तमनुभवन्तम्। किमेव। कर्मैव। निर्विकारसहजानन्दैकसुखस्वभावानुभवनशून्यः सन्नुदयागतं स्वकीयकर्मैव स अनुभवन्नास्ते न च ज्ञानमित्यर्थः। अथवा द्वितीयव्याख्यानम् – यदि ज्ञाता प्रत्यर्थं परिणम्य पश्चादर्थं जानाति तदा अर्थानामानन्त्यात्सर्वपदार्थपरिज्ञानं नास्ति। अथवा तृतीयव्याख्यानम्–बहिरङ्गज्ञेयपदार्थान् यदा छद्मस्थावस्थायां चिन्तयति तदा रागादिविकल्परहितं स्वसंवेदनज्ञानं नास्ति, तदभावे क्षायिकज्ञानमेव नोत्पद्यते इत्यभिप्रायः ॥ ४२ ॥ अथानन्तपदार्थपरिच्छित्तिपरिणमनेऽपि ज्ञानं

गाथा ४२

अन्वयार्थ :–[**ज्ञाता**] ज्ञाता [**यदि**] यदि [**ज्ञेयं अर्थं**] ज्ञेय पदार्थरूप [**परिणमति**] परिणमित होता हो तो [**तस्य**] उसके [**क्षायिकं ज्ञानं**] क्षायिक ज्ञान [**न एव इति**] होता ही नहीं। [**जिनेन्द्राः**] जिनेन्द्रदेवोंने [**तं**] उसे [**कर्म एव**] कर्मको ही [**क्षपयन्तं**] अनुभव करनेवाला [**उक्तवन्तः**] कहा है।

टीका :– यदि ज्ञाता ज्ञेय पदार्थरूप परिणमित होता हो, तो उसे सकल कर्मवनके क्षयसे प्रवर्तमान स्वाभाविक जाननेका कारण (क्षायिक ज्ञान) नहीं है; अथवा उसे ज्ञान ही नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थरूपसे परिणतिके द्वारा मृगतृष्णामें जलसमूहकी कल्पना करनेकी भावनावाला वह (आत्मा) अत्यन्त दुःसह कर्मभारको ही भोगता है ऐसा जिनेन्द्रोंने कहा है।

भावार्थ :– ज्ञेय पदार्थरूपसे परिणमन करना अर्थात् 'यह हरा है, यह पीला है' इत्यादि विकल्परूपसे ज्ञेय पदार्थोंमें परिणमन करना वह कर्मका भोगना है, ज्ञानका नहीं। निर्विकार सहज आनन्दमें लीन रहकर सहजरूपसे जानते रहना वही ज्ञानका स्वरूप है; ज्ञेय पदार्थोंमें रुकना – उनके सन्मुख वृत्ति होना, वह ज्ञानका स्वरूप नहीं है ॥४२॥

अथ कुतस्तर्हि ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणा क्रिया तत्फलं च भवतीति विवेचयति –

उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया ।
तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि ॥ ४३ ॥

उदयगताः कर्मांशा जिनवरवृषभैः नियत्या भणिताः ।
तेषु विमूढो रक्तो दुष्टो वा बन्धमनुभवति ॥ ४३ ॥

बन्धकारणं न भवति, न च रागादिरहितकर्मोदयोऽपीति निश्चिनोति – **उदय गदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया** उदयगता उदयं प्राप्ताः कर्मांशा ज्ञानावरणादिमूलोत्तरकर्मप्रकृतिभेदाः जिनवरवृषभैर्नियत्या स्वभावेन भणिताः, किंतु स्वकीयशुभाशुभफलं दत्वा गच्छन्ति, न च रागादिपरिणामरहिताः सन्तो बन्धं कुर्वन्ति । तर्हि कथं बन्धं करोति जीवः इति चेत् । **तेसु विमूढो**

(यदि ऐसा है) तो फिर ज्ञेय पदार्थरूप परिणमन जिसका लक्षण है ऐसी (ज्ञेयार्थपरिणमनस्वरूप) क्रिया और उसका फल कहाँसे (किस कारणसे) उत्पन्न होता है, ऐसा अब विवेचन करते हैं :–

गाथा ४३

अन्वयार्थ :– **[उदयगताः कर्मांशाः]** (संसारी जीवके) उदयप्राप्त कर्मांश (ज्ञानावरणीय आदि पुद्गलकर्मके भेद) **[नियत्या]** नियमसे **[जिनवरवृषभैः]** जिनवर वृषभोंने **[भणिताः]** कहे हैं । **[तेषु]** जीव उन कर्मांशोंके होने पर, **[विमूढः रक्तः दुष्टः वा]** मोही, रागी अथवा द्वेषी होता हुआ **[बन्धं अनुभवति]** बन्धका अनुभव करता है ।

टीका :– प्रथम तो, संसारीके नियमसे उदयगत पुद्गल कर्मांश होते ही हैं । अब वह संसारी, उन उदयगत कर्मांशोंके अस्तित्वमें, चेतते-जानते-अनुभव करते हुए, मोह-राग-द्वेषमें परिणत होनेसे ज्ञेय पदार्थोंमें परिणमन जिसका लक्षण है ऐसी (ज्ञेयार्थपरिणमन-स्वरूप) क्रियाके साथ युक्त होता है; और इसीलिये क्रियाके फलभूत बन्धका अनुभव करता है । इससे (ऐसा कहा है कि) मोहके उदयसे ही (मोहके उदयमें युक्त होनेके कारणसे ही) क्रिया और क्रियाफल होता है, ज्ञानसे नहीं ।

भाख्यां जिने कर्मो उदयगत नियमथी संसारीने ।
ते कर्म होतां मोही-रागी-द्वेषी बंध अनुभवे ॥ ४३ ॥

अथैवं सति तीर्थकृतां पुण्यविपाकोऽकिंचित्कर एवेत्यवधारयति —

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया ।
मोहादीहिं विरहिदा तम्हा सा खाइग त्ति मदा ॥ ४५ ॥

पुण्यफला अर्हन्तस्तेषां क्रिया पुनर्हि औदयिकी ।
मोहादिभिः विरहिता तस्मात् सा क्षायिकीति मता ॥ ४५ ॥

॥ ४४ ॥ अथ पूर्वं यदुक्तं रागादिरहितकर्मोदयो बन्धकारणं न भवति विहारादिक्रिया च, तमेवार्थं प्रकारान्तरेण दृढयति -- पुण्णफला अरहंता पञ्चमहाकल्याणपूजाजनकं त्रैलोक्यविजयकरं यत्तीर्थकरनाम पुण्यकर्म तत्फलभूता अर्हन्तो भवन्ति । तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया तेषां या दिव्यध्वनि-रूपवचनव्यापारादिक्रिया सा निःक्रियशुद्धात्मतत्त्वविपरीतकर्मोदयजनितत्वात्सर्वाप्यौदयिकी भवति हि स्फुटम् । मोहादीहिं विरहिया निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वप्रच्छादकममकाराहङ्कारोत्पादनसमर्थमोहादिविरहित-त्वात् यतः तम्हा सा खायग त्ति मदा तस्मात् सा यद्यप्यौदयिकी तथापि निर्विकारशुद्धात्मतत्त्वस्य

इसप्रकार होनेसे तीर्थंकरोंके पुण्यका विपाक अकिंचित्कर ही है (-कुछ करता नहीं है, स्वभावका किंचित् घात नहीं करता) ऐसा अब निश्चित करते हैं :-

गाथा ४५

अन्वयार्थः-[अर्हन्तः] अरहन्तभगवान [पुण्यफलाः] पुण्यफलवाले हैं [पुनः हि] और [तेषां क्रिया] उनकी क्रिया [औदयिकी] औदयिकी है; [मोहादिभिः विरहिता] मोहादिसे रहित है [तस्मात्] इसलिये [सा] वह [क्षायिकी] क्षायिकी [इति मता] मानी गई है ।

टीका :- अरहन्तभगवान जिनके वास्तवमें पुण्यरूपी कल्पवृक्षके समस्त फल भलीभाँति परिपक्व हुए हैं ऐसे ही हैं, और उनकी जो भी क्रिया है वह सब उसके (पुण्यके) उदयके प्रभावसे उत्पन्न होनेके कारण औदयिकी ही है । किन्तु ऐसी (पुण्यके उदयसे होनेवाली) होने पर भी वह सदा औदयिकी क्रिया महामोहराजाकी समस्त सेनाके सर्वथा क्षयसे उत्पन्न होती है इसलिये मोहरागद्वेषरूपी [1]उपरंजकोंका

[1] उपरंजक = उपराग—मलिनता करनेवाले (विकारी भाव) ।

छे पुण्यफळ अर्हंत, ने अर्हंतकिरिया उदयिकी ।
मोहादिथी विरहित तेथी ते क्रिया क्षायिक गणी ॥ ४५ ॥

अर्हन्तः खलु सकलसम्यक्परिपक्वपुण्यकल्पपादपफला एव भवन्ति । क्रिया तु तेषां या काचन सा सर्वापि तदुदयानुभावसंभावितात्मसंभूतितया किलौदयिक्येव । अथैवंभूतापि सा समस्तमहामोहमूर्धाभिषिक्तस्कन्धावारस्यात्यन्तक्षये संभूतत्वान्मोहरागद्वेषरूपाणामुपरञ्जकानामभावाच्चैतन्यविकारकारणतामनासादयन्ती नित्यमौदयिकी कार्यभूतस्य बन्धस्याकारणभूततया कार्यभूतस्य मोक्षस्य कारणभूततया च क्षायिक्येव कथं हि नाम नानुमन्येत । अथानुमन्येत चेत्तर्हि कर्मविपाकोऽपि न तेषां स्वभावविघाताय ॥ ४५ ॥

अथ केवलिनामिव सर्वेषामपि स्वभावविघाताभावं निषेधयति –

विक्रियामकुर्वती सती क्षायिकीति मता । अत्राह शिष्यः – 'औदयिका भावाः बन्धकारणम्' इत्यागमवचनं तर्हि वृथा भवति । परिहारमाह – औदयिका भावा बन्धकारणं भवन्ति, परं किंतु मोहोदयसहिताः । द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बंधो न भवति । यदि पुनः कर्मोदयमात्रेण बन्धो भवति तर्हि संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात् सर्वदैव बन्ध एव, न मोक्ष इत्यभिप्रायः ॥ ४५ ॥ अथ यथार्हतां शुभाशुभपरिणामविकारो नास्ति

अभाव होनेसे चैतन्यके विकारका कारण नहीं होती इसलिये कार्यभूत बन्धकी अकारणभूततासे और कार्यभूत मोक्षकी कारणभूततासे क्षायिकी ही क्यों न माननी चाहिये ? (अवश्य माननी चाहिये) और जब क्षायिकी ही माने तब कर्मविपाक (-कर्मोदय) भी उनके (अरहन्तोंके) स्वभावविघातका कारण नहीं होता (ऐसा निश्चित होता है) ।

भावार्थ :– अरहन्तभगवानके जो दिव्यध्वनि, विहार आदि क्रियाएं हैं वे निष्क्रिय शुद्ध आत्मतत्त्वके प्रदेशपरिस्पंदमें निमित्तभूत पूर्वबद्ध कर्मोदयसे उत्पन्न होती हैं इसलिये औदयिकी हैं । वे क्रियाएं अरहन्तभगवानके चैतन्यविकाररूप भावकर्म उत्पन्न नहीं करतीं, क्योंकि (उनके) निर्मोह शुद्ध आत्मतत्त्वके रागद्वेषमोहरूप विकारमें निमित्तभूत मोहनीयकर्मका क्षय हो चुका है । और वे क्रियाएं उन्हें, रागद्वेषमोहका अभाव होजानेसे नवीन बन्धमें कारणरूप नहीं होतीं, परन्तु वे पूर्वकर्मोंके क्षयमें कारणरूप हैं क्योंकि जिन कर्मोंके उदयसे वे क्रियाएं होती हैं वे कर्म अपना रस देकर खिर जाते हैं । इसप्रकार मोहनीयकर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेसे और कर्मोंके क्षयमें कारणभूत होनेसे अरहंतभगवानकी वह औदयिकी क्रिया क्षायिकी कहलाती है ॥ ४५ ॥

अब, केवलीभगवानकी भांति समस्त जीवोंके स्वभावविघातका अभाव होनेका निषेध करते हैं :–

तत्कालकलितवृत्तिकमतीतोदर्ककालकलितवृत्तिकं चाप्येकपद एव समन्ततोऽपि सकलमप्यर्थजातं, पृथक्त्ववृत्तस्वलक्षणलक्ष्मीकटाक्षितानेकप्रकारव्यञ्जितवैचित्र्यमितरेतर-विरोधधापितासमानजातीयत्वोद्दामितवैषम्यं क्षायिकं ज्ञानं किल जानीयात्; तस्य हि

करोति । तद्यथा — अत्र ज्ञानप्रपञ्चव्याख्यानं प्रकृतं तावत्तत्प्रस्तुतमनुसृत्य पुनरपि केवलज्ञानं सर्वज्ञत्वेन निरूपयति — जं यज्ज्ञानं कर्तृ जाणदि जानाति । कम् । अत्थं अर्थं पदार्थमिति विशेष्यपदम् । किं-विशिष्टम् । तक्कालियमिदरं तात्कालिकं वर्तमानमितरं चातीतानागतम् । कथं जानाति । जुगवं युगपदेकसमये समंतदो समन्ततः सर्वात्मप्रदेशैः सर्वप्रकारेण वा । कतिसंख्योपेतम् । सव्वं समस्तम् । पुनरपि किंविशिष्टम् । विचित्तं नानाभेदभिन्नम् । पुनरपि किंरूपम् । विसमं मूर्तामूर्तचेतनाचेतनादि-जात्यन्तरविशेषैर्विसदृशं । तं णाणं खाइयं भणियं यदेवंगुणविशिष्टं ज्ञानं तत्क्षायिकं भणितम् ।

गाथा ४७

अन्वयार्थ :— [यत्] जो [युगपद्] एकही साथ [समन्ततः] सर्वतः (सर्व-आत्मप्रदेशोंसे) [तात्कालिकं] तात्कालिक [इतरं] या अतात्कालिक, [विचित्रविषमं] विचित्र (-अनेक प्रकारके) और विषम (मूर्त, अमूर्त आदि असमान जातिके) [सर्व अर्थं] समस्त पदार्थोंको [जानाति] जानता है [तत् ज्ञानं] उस ज्ञानको [क्षायिकं भणितम्] क्षायिक कहा है ।

टीका :— क्षायिक ज्ञान वास्तवमें एक समयमें ही सर्वतः (सर्व आत्मप्रदेशोंसे), वर्तमानमें वर्तते तथा भूत-भविष्यत कालमें वर्तते उन समस्त पदार्थोंको जानता है जिनमें [१]पृथक्रूपसे वर्तते स्वलक्षणरूप लक्ष्मीसे आलोकित अनेक प्रकारोंके कारण वैचित्र्य प्रगट हुआ है और जिनमें परस्पर विरोधसे उत्पन्न होनेवाली असमानजातीयताके कारण वैषम्य प्रगट हुआ है । (इसी बातको युक्तिपूर्वक समझाते हैं :—) क्रम-प्रवृत्तिके हेतुभूत, क्षयोपशम-अवस्थामें रहनेवाले ज्ञानावरणीय कर्मपुद्गलोंका उसके (क्षायिक ज्ञानके) अत्यन्त अभाव होनेसे वह तात्कालिक या अतात्कालिक पदार्थ-मात्रको समकालमें ही प्रकाशित करता है; (क्षायिक ज्ञान) सर्वतः विशुद्ध होनेके कारण प्रतिनियत प्रदेशोंकी विशुद्धि (सर्वतः विशुद्धि) के भीतर डूब जानेसे वह सर्वतः (सर्व आत्म-प्रदेशोंसे) भी प्रकाशित करता है; सर्व आवरणोंका क्षय होनेसे, देश-आवरणका क्षयोपशम न रहनेसे वह सबको भी प्रकाशित करता है, सर्वप्रकार ज्ञानावरणके क्षयके कारण (-सर्व प्रकारके पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानके आवरणमें निमित्तभूत कर्मके क्षय होनेसे)

---

[१] द्रव्योंके भिन्न-भिन्न वर्तनेवाले निज-निज लक्षण उन द्रव्योंकी लक्ष्मी-सम्पत्ति-शोभा हैं ।

क्रमप्रवृत्तिहेतुभूतानां क्षयोपशमावस्थावस्थितज्ञानावरणीयकर्मपुद्गलानामत्यन्ताभावात्तात्कालिकमतात्कालिकं वाप्यर्थजातं तुल्यकालमेव प्रकाशेत; सर्वतो विशुद्धस्य प्रतिनियतदेशविशुद्धेरन्तःप्लवनात् समन्ततोऽपि प्रकाशेत; सर्वावरणक्षयाद्देशावरणक्षयोपशमस्यानवस्थानात्सर्वमपि प्रकाशेत; [सर्वप्रकारज्ञानावरणीयक्षयादसर्वप्रकारज्ञानावरणीयक्षयोपशमस्य विलयनाद्विचित्रमपि प्रकाशेत;] असमानजातीयज्ञानावरणक्षयात्समानजातीयज्ञानावरणीयक्षयोपशमस्य विनाशनाद्विषममपि प्रकाशेत । अलमथवातिविस्तरेण, अनिवारितप्रसरप्रकाशशालितया क्षायिकज्ञानमवश्यमेव सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सर्वमेव जानीयात् ॥ ४७ ॥

अभेदनयेन तदेव सर्वज्ञस्वरूपं तदेवोपादेयभूतानन्तसुखाद्यनन्तगुणानामाधारभूतं सर्वप्रकारोपादेयरूपेण भावनीयम् । इति तात्पर्यम् ॥ ४७ ॥ अथ यः सर्वं न जानाति स एकमपि न जानातीति विचारयति–

असर्वप्रकारके ज्ञानावरणका क्षयोपशम (-अमुक ही प्रकारके पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानके आवरणमें निमित्तभूत कर्मोंका क्षयोपशम) विलयको प्राप्त होनेसे वह विचित्र को भी (अनेक प्रकारके पदार्थों को भी) प्रकाशित करता है; असमानजातीय-ज्ञानावरणके क्षयके कारण (असमानजातिके पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानके आवरणमें निमित्तभूत कर्मोंके क्षयके कारण) समानजातीय ज्ञानावरणका क्षयोपशम (-समान जातिके ही पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानके आवरणमें निमित्तभूत कर्मोंका क्षयोपशम) नष्ट होजानेसे वह विषम को भी (-असमानजातिके पदार्थों को भी) प्रकाशित करता है । अथवा, अतिविस्तारसे पूरा पड़े (कुछ लाभ नहीं) ? जिसका अनिवार (रोका न जा सके ऐसा अमर्यादित) फैलाव है ऐसा प्रकाशमान होनेसे क्षायिक ज्ञान अवश्यमेव सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सर्वको जानता है ।

भावार्थ :– क्रमपूर्वक जानना, नियत आत्मप्रदेशोंसे ही जानना, अमुकको ही जानना – इत्यादि मर्यादायें मति –श्रुतादि क्षायोपशमिक ज्ञानमें ही संभव हैं । क्षायिकज्ञानके अमर्यादित होनेसे एक ही साथ सर्व आत्मप्रदेशोंसे तीनों कालकी पर्यायोंके साथ सर्व पदार्थोंको – उन पदार्थोंके अनेक प्रकारके और विरुद्ध जातिके होने पर भी – जानता है अर्थात् केवलज्ञान एक ही समयमें सर्व आत्मप्रदेशोंसे समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल भावको जानता है ॥ ४७ ॥

अब, ऐसा निश्चित करते हैं कि जो सबको नहीं जानता वह एकको भी नहीं जानता :–

अथ सर्वमजानन्नेकमपि न जानातीति निश्चिनोति –

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे ।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥ ४८ ॥

यो न विजानाति युगपदर्थान् त्रैकालिकान् त्रिभुवनस्थान् ।
ज्ञातुं तस्य न शक्यं सपर्ययं द्रव्यमेकं वा ॥ ४८ ॥

इह किलैकमाकाशद्रव्यमेकं धर्मद्रव्यमेकमधर्मद्रव्यमसंख्येयानि कालद्रव्याण्यनन्तानि जीवद्रव्याणि । ततोऽप्यनन्तगुणानि पुद्गलद्रव्याणि । तथैषामेव प्रत्येकमतीतानागतानुभूयमानभेदभिन्ननिरवधिवृत्तिप्रवाहपरिपातिनोऽनन्ताः पर्यायाः । एवमेतत्समस्तमपि समुदितं

जो ण विजाणदि यः कर्ता नैव जानाति । कथम् । जुगवं युगपदेकक्षणे । कान् । अत्थे अर्थान् । कथंभूतान् । तिक्कालिगे त्रिकालपर्यायपरिणतान् । पुनरपि कथंभूतान् । तिहुवणत्थे त्रिभुवनस्थान् । णादुं तस्स ण सक्कं तस्य पुरुषस्य सम्बन्धि ज्ञानं ज्ञातुं समर्थं न भवति । किम् । दव्वं ज्ञेयद्रव्यम् । किंविशिष्टम् । सपज्जयं अनन्तपर्यायसहितम् । कतिसंख्योपेतम् । एगं वा एकमपीति । तथा हि— आकाशद्रव्यं तावदेकं, धर्मद्रव्यमेकं, तथैवाधर्मद्रव्यं च लोकाकाशप्रमितासंख्येयकालद्रव्याणि, ततोऽनन्तगुणानि जीवद्रव्याणि, तेभ्योऽप्यनन्तगुणानि पुद्गलद्रव्याणि । तथैव सर्वेषां प्रत्येकमनन्तपर्यायाः, एतत्सर्वं ज्ञेयं तावत्तदेकं विवक्षितं जीवद्रव्यं ज्ञातृ भवति । एवं तावद्वस्तुस्वभावः । तत्र तथा दहनः समस्तं दाह्यं दहन् सन् समस्तदाह्यहेतुकसमस्तदाह्याकारपर्यायपरिणतसकलैकदहनस्वरूपमुष्णपरिणततृणपर्णाद्याकारमात्मानं (स्वकीयस्वभावं) परिणमति, तथायमात्मा समस्तं ज्ञेयं जानन् सन् समस्त-

---

गाथा ४८

अन्वयार्थ :– [यः] जो [युगपद्] एकही साथ [त्रैकालिकान् त्रिभुवनस्थान्] त्रैकालिक त्रिभुवनस्थ (–तीनों कालके और तीनों लोकके) [अर्थान्] पदार्थोंको [न विजानाति] नहीं जानता, [तस्य] उसे [सपर्ययं] पर्याय सहित [एकं द्रव्यं वा] एक द्रव्य भी [ज्ञातुं न शक्यं] जानना शक्य नहीं है ।

टीका :– इस विश्वमें एक आकाशद्रव्य, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, असंख्य कालद्रव्य और अनन्त जीवद्रव्य तथा उनसे भी अनन्तगुने पुद्गल द्रव्य हैं, और उन्हींके प्रत्येकके अतीत, अनागत और वर्तमान ऐसे (तीन) प्रकारोंसे भेदवाली १निरवधि

१ निरवधि = [illegible] अमर्यादित ।

जाणे नहि युगपद त्रिकालिक त्रिभुवनस्थ पदार्थने ।
तेने सपर्यय एक पण नहि द्रव्य जाणवुं शक्य छे ॥ ४८ ॥

ज्ञेयम्। इहैवैकं किंचिज्जीवद्रव्यं ज्ञातृ। अथ यथा समस्तं दाह्यं दहन् दहनः समस्तदाह्यहेतुकसमस्तदाह्याकारपर्यायपरिणतसकलैकदहनाकारमात्मानं परिणमति, तथा समस्तं ज्ञेयं जानन् ज्ञाता समस्तज्ञेयहेतुकसमस्तज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकज्ञानाकारं चेतनत्वात् स्वानुभवप्रत्यक्षमात्मानं परिणमति। एवं किल द्रव्यस्वभावः। यस्तु समस्तं ज्ञेयं न जानाति स समस्तं दाह्यमदहन् समस्तदाह्यहेतुकसमस्तदाह्याकारपर्यायपरिणतसकलैकदहनाकार-

---

ज्ञेयहेतुकसमस्तज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकाखण्डज्ञानरूपं स्वकीयमात्मानं परिणमति जानाति परिच्छिनत्ति। यथैव च स एव दहनः पूर्वोक्तलक्षणं दाह्यमदहन् सन् तदाकारेण न परिणमति, तथाऽऽत्मापि पूर्वोक्तलक्षणं समस्तं ज्ञेयमजानन् पूर्वोक्तलक्षणमेव सकलैकाखण्डज्ञानाकारं स्वकीयमात्मानं न परिणमति न जानाति न परिच्छिनत्ति। अपरमप्युदाहरणं दीयते – यथा कोऽप्यन्धक आदित्यप्रकाश्यान् पदार्थानपश्यन्नादित्यमिव, प्रदीपप्रकाश्यान् पदार्थानपश्यन् प्रदीपमिव, दर्पणस्थ-

---

[1]वृत्तिप्रवाहके भीतर पड़ने वाली (-समा जानेवाली) अनन्त पर्यायें हैं। इसप्रकार यह समस्त (द्रव्यों और पर्यायोंका) समुदाय ज्ञेय है। उसीमें एक कोई भी जीवद्रव्य ज्ञाता है। अब यहाँ, जैसे समस्त दाह्यको दहकती हुई अग्नि समस्त-दाह्यहेतुक (-समस्त दाह्य जिसका निमित्त है ऐसा) समस्तदाह्याकारपर्यायरूप परिणमित सकल एक [2]दहन जिसका आकार (स्वरूप) है ऐसे अपने रूपमें (-अग्निरूपमें) परिणमित होती है, वैसे ही समस्त ज्ञेयको जानता हुआ ज्ञाता (-आत्मा) समस्तज्ञेयहेतुक समस्तज्ञेयाकारपर्यायरूप परिणमित [3]सकल एक ज्ञान जिसका आकार (स्वरूप) है ऐसे निजरूपसे—जो चेतनताके कारण स्वानुभवप्रत्यक्ष है उस-रूप – परिणमित होता है। इसप्रकार वास्तवमें द्रव्यका स्वभाव है। किन्तु जो समस्त ज्ञेयको नहीं जानता वह (आत्मा), जैसे समस्त दाह्यको न दहती हुई अग्नि समस्तदाह्यहेतुक समस्तदाह्याकारपर्यायरूप परिणमित सकल एक दहन जिसका आकार है ऐसे अपने रूपमें परिणमित नहीं होता उसी प्रकार, समस्तज्ञेयहेतुक समस्तज्ञेयाकारपर्यायरूप परिणमित सकल एक ज्ञान जिसका आकार है ऐसे अपने रूपमें – स्वयं चेतनताके कारण स्वानुभवप्रत्यक्ष होने पर भी – परिणमित नहीं होता, (अपनेको परिपूर्णतया अनुभव नहीं करता – नहीं जानता) इसप्रकार यह फलित होता है कि जो सबको नहीं जानता वह अपनेको (-आत्माको) नहीं जानता।

भावार्थ :– जो अग्नि काष्ठ, तृण, पत्ते इत्यादि समस्त दाह्यपदार्थोंको नहीं जलाता, उसका दहनस्वभाव (काष्ठादिक समस्त दाह्य जिसका निमित्त है ऐसा)

---

[1] वृत्ति=वर्तन करना; उत्पाद – व्यय – ध्रौव्य; अस्तित्व, परिणति।

[2] दहन=जलाना, दहना। [3] सकल=सारा; परिपूर्ण।

मात्मानं दहन इव समस्तज्ञेयहेतुकसमस्तज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकज्ञानाकारमात्मानं चेतनत्वात् स्वानुभवप्रत्यक्षत्वेऽपि न परिणमति। एवमेतदायाति यः सर्वं न जानाति स आत्मानं न जानाति ॥ ४८ ॥

अथैकमजानन् सर्वं न जानातीति निश्चिनोति—

दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ॥ ४९ ॥

द्रव्यमनन्तपर्यायमेकमनन्तानि द्रव्यजातानि।
न विजानाति यदि युगपत् कथं स सर्वाणि जानाति ॥ ४९ ॥

बिम्बान्यपश्यन् दर्पणमिव, स्वकीयदृष्टिप्रकाश्यान् पदार्थानपश्यन् हस्तपादाद्यवयवपरिणतं स्वकीय-देहाकारमात्मानं स्वकीयदृष्ट्या न पश्यति, तथायं विवक्षितात्मापि केवलज्ञानप्रकाश्यान् पदार्थान-जानन् सकलाखण्डैककेवलज्ञानरूपमात्मानमपि न जानाति। तत एतत्स्थितं यः सर्वं न जानाति स आत्मानमपि न जानातीति ॥ ४८ ॥ अथैकमजानन् सर्वं न जानातीति निश्चिनोति—**दव्वं** द्रव्यं **अणंतपज्जयं** अनन्तपर्यायं **एगं** एकं **अणंताणि दव्वजादीणि** अनन्तानि द्रव्यजातीनि **जो ण विजाणदि**

समस्तदाह्याकारपर्यायरूप परिणमित न होनेसे अपूर्णरूपसे परिणमित होता है—परिपूर्णरूपसे परिणमित नहीं होता, इसलिये परिपूर्ण एक दहन जिसका स्वरूप है ऐसी वह अग्नि अपने रूप ही पूर्ण रीतिसे परिणमित नहीं होती; उसी प्रकार यह आत्मा समस्त द्रव्य-पर्यायरूप समस्तज्ञेयको नहीं जानता, उसका ज्ञान (समस्त ज्ञेय जिसका निमित्त है ऐसे) समस्तज्ञेयाकारपर्यायरूप परिणमित न होनेसे अपूर्णरूपसे परिणमित होता है—परिपूर्ण रूपसे परिणमित नहीं होता, इसलिये परिपूर्ण एक ज्ञान जिसका स्वरूप है ऐसा वह आत्मा अपने रूपसे ही पूर्ण रीतिसे परिणमित नहीं होता अर्थात् निजको ही पूर्णरीतिसे अनुभव नहीं करता—नहीं जानता। इसप्रकार सिद्ध हुआ कि जो सबको नहीं जानता वह एकको—अपनेको (पूर्ण रीतिसे) नहीं जानता ॥ ४८ ॥

अब, ऐसा निश्चित करते हैं कि एकको न जाननेवाला सबको नहीं जानता :—

गाथा ४९

अन्वयार्थ :—[यदि] यदि [अनन्तपर्यायं] अनन्त पर्यायवाले [एकं द्रव्यं] एक

जो एक द्रव्य अनन्तपर्यय तेम द्रव्य अनन्तने।
युगपद न जाणे जीव, तो ते केम जाणे सर्वने? ॥ ४९ ॥

आत्मा हि तावत्स्वयं ज्ञानमयत्वे सति ज्ञातृत्वात् ज्ञानमेव । ज्ञानं तु प्रत्यात्मवर्ति प्रतिभासमयं महासामान्यम् । तत्तु प्रतिभासमयानन्तविशेषव्यापि । ते च सर्वद्रव्यपर्यायनिबंधनाः । अथ यः सर्वद्रव्यपर्यायनिबन्धनानन्तविशेषव्यापिप्रतिभासमयमहासामान्यरूपमात्मानं स्वानुभवप्रत्यक्षं न करोति स कथं प्रतिभासमयमहासामान्यव्याप्यप्रतिभा-

---

यो न विजानाति अनन्तद्रव्यसमूहान् किध सो सव्वाणि जाणादि कथं स सर्वान् जानाति जुगवं युगपदेकसमये, न कथमपीति । तथा हि– आत्मलक्षणं तावज्ज्ञानं तच्चाखण्डप्रतिभासमयं सर्वजीवसाधारणं महासामान्यम् । तच्च महासामान्यं ज्ञानमयानन्तविशेषव्यापि । ते च ज्ञानविशेषा अनन्तद्रव्यपर्यायाणां विषयभूतानां ज्ञेयभूतानां परिच्छेदका ग्राहकाः । अखण्डैकप्रतिभासमयं यन्महासामान्यं तत्स्वभावमात्मानं योऽसौ प्रत्यक्षं न जानाति स पुरुषः प्रतिभासमयेन महासामान्येन ये व्याप्ता अनन्तज्ञानविशेषास्तेषां विषयभूता: येऽनन्तद्रव्यपर्यायास्तान् कथं जानाति, न कथमपि । अथ एतदायातम् – यः आत्मानं न जानाति स सर्वं न जानातीति । तथा चोक्तम् – "एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावा एकभावस्वभावाः । एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः ॥" अत्राह शिष्यः– आत्मपरिज्ञाने सति सर्वपरिज्ञानं भवतीत्यत्र व्याख्यातं, तत्र तु पूर्वसूत्रे भणितं सर्वपरिज्ञाने

द्रव्यको (-आत्मद्रव्यको) [अनन्तानि द्रव्यजातानि] तथा अनन्त द्रव्यसमूहको [युगपद्] एक ही साथ [न विजानाति] नहीं जानता [सः] तो वह पुरुष [सर्वाणि] सब को (-अनन्त द्रव्यसमूह को) [कथं जानाति] कैसे जान सकेगा ? (अर्थात् जो आत्मद्रव्यको नहीं जानता हो वह समस्त द्रव्यसमूहको नहीं जान सकता) ।

प्रकारान्तरसे अन्वयार्थ :– [यदि] यदि [अनन्तपर्यायं] अनन्त पर्यायवाले [एकं द्रव्यं] एक द्रव्यको (-आत्मद्रव्यको) [न विजानाति] नहीं जानता [सः] तो वह पुरुष [युगपद्] एक ही साथ [सर्वाणि अनन्तानि द्रव्यजातानि] सर्व अनन्त द्रव्य-समूहको [कथं जानाति] कैसे जान सकेगा ?

टीका :– प्रथम तो आत्मा वास्तवमें स्वयं ज्ञानमय होनेसे ज्ञातृत्वके कारण ज्ञान ही है; और ज्ञान प्रत्येक आत्मामें वर्तता (-रहता) हुआ प्रतिभासमय महासामान्य है । वह प्रतिभासमय महासामान्य प्रतिभासमय अनन्तविशेषोंमें व्याप्त होनेवाला है; और उन विशेषोंके (-भेदोंके) निमित्त सर्व द्रव्यपर्याय हैं । अब जो पुरुष सर्व द्रव्यपर्याय जिनके निमित्त हैं ऐसे अनन्त विशेषोंमें व्याप्त होनेवाले प्रतिभासमय महासामान्यरूप आत्माका स्वानुभव प्रत्यक्ष नहीं करता, वह (पुरुष) प्रतिभासमय महासामान्यके द्वारा [1]व्याप्य (-व्याप्य होने योग्य) जो प्रतिभासमय अनन्त विशेष हैं उनकी निमित्तभूत सर्व

[1] ज्ञान सामान्य व्यापक है, और ज्ञान विशेष-भेद व्याप्य हैं । उन ज्ञानविशेषोंके निमित्त ज्ञेयभूत सर्व द्रव्य और पर्यायें हैं ।

समयानन्तविशेषनिबन्धनभूतसर्वद्रव्यपर्यायान् प्रत्यक्षीकुर्यात् । एतदेवाह । य आत्मानं न जानाति स सर्वं न जानाति । अथ सर्वज्ञानादात्मज्ञानमात्मज्ञानात्सर्वज्ञानमित्यवतिष्ठते । एवं च सति ज्ञानमयत्वेन स्वसंचेतकत्वादात्मनो ज्ञातृज्ञेययोर्वस्तुत्वेनान्यत्वे सत्यपि प्रतिभासप्रतिभास्यमानयोः स्वस्यामवस्थायामन्योन्यसंवलनेनात्यन्तमशक्यविवेचनत्वात्सर्वमात्मनि निखातमिव प्रतिभाति । यद्येवं न स्यात् तदा ज्ञानस्य परिपूर्णात्मसंचेतनाभावात् परिपूर्णस्यैकस्यात्मनोऽपि ज्ञानं न सिद्ध्येत् ।। ४९ ।।

सत्यात्मपरिज्ञानं भवतीति । यद्येवं तर्हि छद्मस्थानां सर्वपरिज्ञानं नास्त्यात्मपरिज्ञानं कथं भविष्यति, आत्मपरिज्ञानाभावे चात्मभावना कथं, तदभावे केवलज्ञानोत्पत्तिर्नास्तीति । परिहारमाह — परोक्षप्रमाणभूतश्रुतज्ञानेन सर्वपदार्था ज्ञायन्ते । कथमिति चेत् — लोकालोकादिपरिज्ञानं व्याप्तिज्ञानरूपेण छद्मस्थानामपि विद्यते, तच्च व्याप्तिज्ञानं परोक्षाकारेण केवलज्ञानविषयग्राहकं कथंचिदात्मैव भण्यते । अथवा स्वसंवेदनज्ञानेनात्मा ज्ञायते, ततश्च भावना क्रियते, तया रागादिविकल्परहितस्वसंवेदनज्ञानभावनया केवलज्ञानं च जायते । इति नास्ति दोषः ।। ४९ ।। अथ क्रमप्रवृत्तज्ञानेन सर्वज्ञो न

द्रव्यपर्यायोंको कैसे प्रत्यक्ष कर सकेगा ? (नहीं कर सकेगा) इससे ऐसा फलित हुआ कि जो आत्माको नहीं जानता वह सबको नहीं जानता ।

अब इससे ऐसा निश्चित होता है कि सर्वके ज्ञानसे आत्माका ज्ञान और आत्माके ज्ञानसे सर्वका ज्ञान (होता है); और ऐसा होनेसे, आत्मा ज्ञानमयताके कारण स्वसंचेतक होनेसे, ज्ञाता और ज्ञेयका वस्तुरूपसे अन्यत्व होनेपर भी प्रतिभास और प्रतिभास्यमानकर अपनी अवस्थामें अन्योन्य मिलन होनेके कारण (ज्ञान और ज्ञेय, आत्माकी —ज्ञानकी अवस्थामें परस्पर मिश्रित — एकमेकरूप होनेसे) उन्हें भिन्न करना अत्यन्त अशक्य होनेसे मानो सब कुछ आत्मामें [1]निखात (प्रविष्ट) होगया हो इसप्रकार प्रतिभासित होता है — ज्ञात होता है । (आत्मा ज्ञानमय होनेसे वह अपनेको अनुभव करता है — जानता है, और अपनेको जाननेपर समस्त ज्ञेय ऐसे ज्ञात होते हैं — मानों वे ज्ञानमें स्थित ही हों, क्योंकि ज्ञानकी अवस्थामेंसे ज्ञेयाकारोंको भिन्न करना अशक्य है ।) यदि ऐसा न हो तो (यदि आत्मा सबको न जानता हो तो) ज्ञानके परिपूर्ण आत्मसंचेतनका अभाव होनेसे परिपूर्ण एक आत्माका भी ज्ञान सिद्ध न हो ।

भावार्थ :— ४८ और ४९ वीं गाथामें ऐसा बताया गया है कि जो सबको नहीं जानता वह अपनेको नहीं जानता, और जो अपनेको नहीं जानता वह सबको नहीं जानता । अपना ज्ञान और सबका ज्ञान एक साथ ही होता है । स्वयं और सर्व इन दोमेंसे एकका ज्ञान हो और दूसरेका न हो यह असम्भव है ।

---

[1] निखात=खोदकर भीतर गहरा उतर गया हुवा; भीतर प्रविष्ट हुआ ।

अथ क्रमकृतप्रवृत्त्या ज्ञानस्य सर्वगतत्वं न सिद्धयतीति निश्चिनोति –

उप्पज्जदि जदि णाणं कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स ।
तं णेव हवदि णिच्चं ण खाइगं णेव सव्वगदं ॥ ५० ॥

उत्पद्यते यदि ज्ञानं क्रमशोऽर्थान् प्रतीत्य ज्ञानिनः ।
तन्नैव भवति नित्यं न क्षायिकं नैव सर्वगतम् ॥ ५० ॥

भवतीति व्यवस्थापयति – उप्पज्जदि जदि णाणं उत्पद्यते ज्ञानं यदि चेत् । कमसो क्रमशः सकाशात् । किं कृत्वा । अट्ठे पडुच्च ज्ञेयार्थानाश्रित्य । कस्य । णाणिस्स ज्ञानिनः आत्मनः तं णेव हवदि णिच्चं उत्पत्तिनिमित्तभूतपदार्थविनाशे तस्यापि विनाश इति नित्यं न भवति । ण खाइगं ज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमाधीनत्वात् क्षायिकमपि न भवति । णेव सव्वगदं यत एव पूर्वोक्तप्रकारेण पराधीनत्वेन नित्यं न भवति, क्षयोपशमाधीनत्वेन क्षायिकं च न भवति, तत एव युगपत्समस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावानां

यह कथन एकदेश ज्ञानकी अपेक्षासे नहीं किन्तु पूर्णज्ञानकी (केवलज्ञानकी) अपेक्षासे है ॥ ४९ ॥

अब, ऐसा निश्चित करते हैं कि क्रमशः प्रवर्तमान ज्ञानकी सर्वगतता सिद्ध नहीं होती :–

गाथा ५०

अन्वयार्थ :– [यदि] यदि [ज्ञानिनः ज्ञानं] आत्माका ज्ञान [क्रमशः] क्रमशः [अर्थान् प्रतीत्य] पदार्थोंका अवलम्बन लेकर [उत्पद्यते] उत्पन्न होता हो [तत्] तो वह (ज्ञान) [न एव नित्यं भवति] नित्य नहीं है, [न क्षायिकं] क्षायिक नहीं है, [न एव सर्वगतम्] और सर्वगत नहीं है ।

टीका :– जो ज्ञान क्रमशः एक एक पदार्थका अवलम्बन लेकर प्रवृत्ति करता है वह (ज्ञान) एक पदार्थके अवलम्बनसे उत्पन्न होकर दूसरे पदार्थके अवलम्बनसे नष्ट होजानेसे नित्य नहीं होता तथा कर्मोदयके कारण एक [1]व्यक्तिको प्राप्त करके फिर अन्य व्यक्तिको प्राप्त करता है इसलिये क्षायिक भी न होता हुआ, वह अनन्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावको प्राप्त होने में (-जानने में) असमर्थ होनेके कारण सर्वगत नहीं है ।

[1] व्यक्ति=प्रगटता; विशेष, भेद ।

जो ज्ञान 'ज्ञानी' नु ऊपजे क्रमशः अरथ अवलंबीने ।
तो नित्य नहि, क्षायिक नहि ने सर्वगत नहि ज्ञान ए ॥ ५० ॥

यत्किल क्रमेणैकैकमर्थमालम्ब्य प्रवर्तते ज्ञानं तदेकार्थालम्बनादुत्पन्नमन्यार्थालम्बनात् प्रलीयमानं नित्यमसत्तथा कर्मोदयादेकां व्यक्तिं प्रतिपन्नं पुनर्व्यक्त्यन्तरं प्रतिपद्यमानं क्षायिकमप्यसदनन्तद्रव्यक्षेत्रकालभावानाक्रान्तुमशक्तत्वात् सर्वगतं न स्यात् ।। ५० ।।

अथ यौगपद्यप्रवृत्त्यैव ज्ञानस्य सर्वगतत्वं सिद्धयतीति व्यवतिष्ठते —

तिक्कालणिच्चविसमं सयलं सव्वत्थसंभवं चित्तं ।
जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स माहप्पं ।। ५१ ।।

त्रैकाल्यनित्यविषमं सकलं सर्वत्रसंभवं चित्रम् ।
युगपज्जानाति जैनमहो हि ज्ञानस्य माहात्म्यम् ।। ५१ ।।

परिज्ञानसामर्थ्याभावात्सर्वगतं न भवति । अत एतत्स्थितं यद्ज्ञानं क्रमेणार्थान् प्रतीत्य जायते तेन सर्वज्ञो न भवति इति ।। ५० ।। अथ युगपत्परिच्छित्तिरूपज्ञानेनैव सर्वज्ञो भवतीत्यावेदयति — **जाणदि** जानाति । किं कर्तृ । **जोण्हं** जैनज्ञानम् । कथम् । **जुगवं** युगपदेकसमये । **अहो हि णाणस्स माहप्पं** अहो हि स्फुटं जैनज्ञानस्य माहात्म्यं पश्यताम् । किं जानाति । अर्थमित्यध्याहारः । कथंभूतम् । **तिक्कालणिच्चविसयं** त्रिकाल-विषयं त्रिकालगतं नित्यं सर्वकालम् । पुनरपि किंविशिष्टम् । **सयलं** समस्तम् । पुनरपि कथंभूतम् । **सव्वत्थ संभवं** सर्वत्र लोके संभवं समुत्पन्नं स्थितम् । पुनश्च किंरूपम् ।

भावार्थ :— क्रमशः प्रवर्तमान ज्ञान अनित्य है, क्षायोपशमिक है; ऐसा क्रमिक ज्ञानवाला पुरुष सर्वज्ञ नहीं हो सकता ।। ५० ।।

अब ऐसा निश्चित होता है कि युगपत् प्रवृत्तिके द्वारा ही ज्ञानका सर्वगतत्व सिद्ध होता है (अर्थात् अक्रमसे प्रवर्तमान ज्ञान ही सर्वगत हो सकता है) :—

गाथा ५१

अन्वयार्थ :— [त्रैकाल्यनित्यविषमं] तीनों कालमें सदा विषम (असमान जातिके), [सर्वत्र संभवं] सर्व क्षेत्रके [चित्रं] अनेक प्रकारके [सकलं] समस्त पदार्थोंको [जैनं] जिनदेवका ज्ञान [युगपत् जानाति] एक साथ जानता है [अहो हि] अहो ! [ज्ञानस्य माहात्म्यम्] ज्ञानका माहात्म्य !

टीका :— वास्तवमें क्षायिक ज्ञानका, सर्वोत्कृष्टताका स्थानभूत परम माहात्म्य है; और जो ज्ञान एक साथही समस्त पदार्थोंका अवलम्बन लेकर प्रवृत्ति करता है वह

नित्ये विषम, विधविध, सकल पदार्थगण सर्वत्रनो ।
जिनज्ञान जाणे युगपदे, महिमा अहो ए ज्ञाननो ! ।। ५१ ।।

क्षायिकं हि ज्ञानमतिशयास्पदीभूतपरममाहात्म्यं । यत्तु युगपदेव सर्वार्थानालम्ब्य प्रवर्तते ज्ञानं तट्टङ्कोत्कीर्णन्यायावस्थितसमस्तवस्तुज्ञेयाकारतयाधिरोपितनित्यत्वं प्रतिपन्नसमस्तव्यक्तित्वेनाभिव्यक्तस्वभावभासिक्षायिकभावं त्रैकाल्येन नित्यमेव विषमीकृतां सकलामपि सर्वार्थसंभूतिमनन्तजातिप्रापितवैचित्र्यां परिच्छिन्ददक्रमसमाक्रान्तानन्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया प्रकटीकृताद्भुतमाहात्म्यं सर्वगतमेव स्यात् ॥ ५१ ॥

अथ ज्ञानिनो ज्ञप्तिक्रियासद्भावेऽपि क्रियाफलभूतं बन्धं प्रतिषेधयन्नुपसंहरति –

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु ।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ॥ ५२ ॥

चित्तं नानाजातिभेदेन विचित्रमिति । तथा हि – युगपत्सकलग्राहकज्ञानेन सर्वज्ञो भवतीति ज्ञात्वा किं कर्तव्यम् । ज्योतिष्कमन्त्रवादरससिद्ध्यादीनि यानि खण्डविज्ञानानि मूढजीवानां चित्तचमत्कारकारणानि परमात्मभावनाविनाशकानि च तत्राग्रहं त्यक्त्वा जगत्त्रयकालत्रयसकलवस्तुयुगपत्प्रकाशकमविनश्वरमखण्डैकप्रतिभासरूपं सर्वज्ञशब्दवाच्यं यत्केवलज्ञानं तस्यैवोत्पत्तिकारणभूतं यत्समस्तरागादिविकल्पजालेन रहितं सहजशुद्धात्मनोऽभेदज्ञानं तत्र भावना कर्तव्या, इति तात्पर्यम् ॥ ५१ ॥ एवं केवल-

---

ज्ञान – अपनेमें समस्त वस्तुओंके ज्ञेयाकार [1]टंकोत्कीर्ण – न्यायसे स्थित होनेसे जिसने नित्यत्व प्राप्त किया है और समस्त व्यक्तिको प्राप्त कर लेनेसे जिसने स्वभावप्रकाशक क्षायिकभाव प्रगट किया है ऐसा-त्रिकालमें सदा विषम रहनेवाले (-असमान जातिरूपसे परिणमित होनेवाले) और अनन्त प्रकारोंके कारण विचित्रताको प्राप्त सम्पूर्ण सर्व पदार्थोंके समूहको जानता हुआ, अक्रमसे अनन्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावको प्राप्त होनेसे जिसने अद्भुत माहात्म्य प्रगट किया है ऐसा सर्वगत ही है ।

भावार्थ :– अक्रमसे प्रवर्तमान ज्ञान एक ज्ञेयसे दूसरेके प्रति नहीं बदलता इसलिये नित्य है, अपनी समस्त शक्तियोंके प्रगट हो जानेसे क्षायिक है, ऐसे अक्रमिक ज्ञानवाला पुरुष ही सर्वज्ञ हो सकता है । सर्वज्ञके इस ज्ञानका कोई परम अद्भुत माहात्म्य है ॥५१॥

अब, ज्ञानीके (-केवलज्ञानी आत्माके) ज्ञप्तिक्रियाका सद्भाव होने पर भी उसके क्रियाके फलरूप बन्धका निषेध करते हुए उपसंहार करते हैं (अर्थात् केवलज्ञानी आत्माके जाननेकी क्रिया होने पर भी बन्ध नहीं होता, ऐसा कहकर ज्ञान-अधिकार पूर्ण करते हैं) –

---

[1] टंकोत्कीर्ण न्याय = पत्थरमें टांकीसे उत्कीर्ण आकृतिकी भाँति ।

अथ ज्ञानादभिन्नस्य सौख्यस्य स्वरूपं प्रपञ्चयन् ज्ञानसौख्ययोः हेयोपादेयत्वं चिन्तयति –

अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु ।
णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं ।। ५३ ।।

अस्त्यमूर्तं मूर्तमतीन्द्रियमैन्द्रियं चार्थेषु ।
ज्ञानं च तथा सौख्यं यत्तेषु परं च तत् ज्ञेयम् ।। ५३ ।।

एवं रागद्वेषमोहरहितत्वात्केवलिनां बन्धो नास्तीति कथनरूपेण ज्ञानप्रपञ्चसमाप्तिमुख्यत्वेन चैकसूत्रेणाष्टमस्थलं गतम् ।

अथ ज्ञानप्रपञ्चव्याख्यानानन्तरं ज्ञानाधारसर्वज्ञं नमस्करोति –

तस्स णमाइं लोगो देवासुरमणुअरायसंबंधो ।
भत्तो करेदि णिच्चं उवजुत्तो तं तहा वि अहं ।। ॐ२ ।।

करेदि करोति । स कः । **लोगो** लोकः । कथंभूतः । **देवासुरमणुअरायसंबंधो** देवासुरमनुष्यराजसंबन्धः । पुनरपि कथंभूतः । **भत्तो** भक्तः । **णिच्चं** नित्यं सर्वकालम् । पुनरपि किंविशिष्टः । **उवजुत्तो** उपयुक्त उद्यतः । इत्थंभूतो लोकः कां करोति । **णमाइं** नमस्यां नमस्क्रियाम् । कस्य । **तस्स** तस्य पूर्वोक्तसर्वज्ञस्य । **तं तहा वि अहं** तं सर्वज्ञं तथा तेनैव प्रकारेणाहमपि ग्रन्थकर्ता नमस्करोमीति । अयमत्रार्थः– यथा देवेन्द्रचक्रवर्त्यादयोऽनन्ताक्षयसुखादिगुणास्पदं सर्वज्ञस्वरूपं नमस्कुर्वन्ति, तथैवाहमपि तत्पदाभिलाषी परमभक्त्या प्रणमामि ।। ॐ२ ।। एवमष्टाभिः स्थलैर्द्वात्रिंशद्गाथास्तदनन्तरं

(अब, पूर्वोक्त आशयको काव्यद्वारा कहकर, केवलज्ञानी आत्माकी महिमा बताकर यह ज्ञान-अधिकार पूर्ण किया जाता है ।)

अर्थः– जिसने कर्मोंको छेद डाला है ऐसा यह आत्मा भूत, भविष्यत और वर्तमान समस्त विश्वको (अर्थात् तीनों कालकी पर्यायोंसे युक्त समस्त पदार्थोंको) एक ही साथ जानता हुआ भी मोहके अभावके कारण पररूप परिणमित नहीं होता, इसलिये अब, जिसके समस्त ज्ञेयाकारोंको अत्यन्त विकसित ज्ञप्तिके विस्तारसे स्वयं पी गया है ऐसे तीनोंलोकके पदार्थोंको पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ वह ज्ञानमूर्ति मुक्त ही रहता है ।

इसप्रकार ज्ञान – अधिकार समाप्त हुआ ।

अर्थोनुं ज्ञान अमूर्त, मूर्त, अतीन्द्रिय ने ऐन्द्रिय छे ।
छे सुखपण एवुं ज, त्यां परधान जे ते ग्राह्य छे ।। ५३ ।।

अत्र ज्ञानं सौख्यं च मूर्तमिन्द्रियजं चैकमस्ति । इतरदमूर्तमतीन्द्रियं चास्ति । तत्र यदमूर्तमतीन्द्रियं च तत्प्रधानत्वादुपादेयत्वेन ज्ञातव्यम् । तत्राद्यं मूर्ताभिः क्षायोपशमिकीभिरुपयोगशक्तिभिस्तथाविधेभ्य इन्द्रियेभ्यः समुत्पद्यमानं परायत्तत्वात् कादाचित्कं, क्रमकृतप्रवृत्ति सप्रतिपक्षं सहानिवृद्धि च गौणमिति कृत्वा ज्ञानं च सौख्यं च हेयम् । इतर-

---

नमस्कारगाथा चेति समुदायेन त्रयस्त्रिंशद्गाथाभिर्ज्ञानप्रपञ्चनामा तृतीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः । अथ सुखप्रपञ्चाभिधानान्तराधिकारेऽष्टादश गाथा भवन्ति । अत्र पञ्चस्थलानि, तेषु प्रथमस्थले 'अत्थि अमुत्तं' इत्याद्यधिकारगाथासूत्रमेकं, तदनन्तरमतीन्द्रियज्ञानमुख्यत्वेन 'जं पेच्छदो' इत्यादि सूत्रमेकं, अथेन्द्रियज्ञानमुख्यत्वेन 'जीवो सयं अमुत्तो' इत्यादि गाथाचतुष्टयं, तदनन्तरमतीन्द्रियसुखमुख्यतया 'जादं सयं' इत्यादि गाथाचतुष्टयं. अथानन्तरमिन्द्रियसुखप्रतिपादनरूपेण गाथाष्टकम्, तत्राप्यष्टकमध्ये प्रथमत इन्द्रियसुखस्य दुःखत्वस्थापनार्थं 'मणुआसुरा' इत्यादि गाथाद्वयं, अथ मुक्तात्मनां देहाभावेऽपि सुखमस्तीति ज्ञापनार्थं देहः सुखकारणं न भवतीति कथनरूपेण 'पप्पा इट्ठे विसये' इत्यादि सूत्रद्वयं, तदनन्तरमिन्द्रियविषया अपि सुखकारणं न भवन्तीति कथनेन 'तिमिरहरा' इत्यादि गाथाद्वयम्, अतोऽपि सर्वज्ञनमस्कारमुख्यत्वेन 'तेजोदिट्ठि इत्यादि गाथाद्वयम् । एवं पञ्चमस्थले अन्तरस्थलचतुष्टयं भवतीति सुखप्रपञ्चाधिकारे समुदायपातनिका ।। अथातीन्द्रियसुखस्योपादेयभूतस्य स्वरूपं प्रपञ्चयन्नतीन्द्रियज्ञानमतीन्द्रियसुखं चोपादेयमिति, यत्पुनरिन्द्रियजं ज्ञानं सुखं च तद्धेयमिति प्रतिपादनरूपेण

अब, ज्ञानसे अभिन्न सुखका स्वरूप विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए ज्ञान और सुखकी हेयोपादेयताका (अर्थात् कौनसा ज्ञान तथा सुख हेय है और कौनसा उपादेय है वह) विचार करते हैं :—

गाथा ५३

अन्वयार्थ :— [अर्थेषु ज्ञानं] पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान [अमूर्तं मूर्तं] अमूर्त या मूर्त, [अतीन्द्रियं ऐन्द्रियं च अस्ति] अतीन्द्रिय या ऐन्द्रिय होता है; [च तथा सौख्यं] और इसीप्रकार (अमूर्त या मूर्त, अतीन्द्रिय या ऐन्द्रिय) सुख होता है। [तेषु च यत् परं] उनमें जो प्रधान — उत्कृष्ट है [तत् ज्ञेयं] वह उपादेयरूप जानना।

टीका :— यहाँ, (ज्ञान तथा सुख दो प्रकारका है —) एक ज्ञान तथा सुख मूर्त और [1]इन्द्रियज है; और दूसरा (ज्ञान तथा सुख) अमूर्त और अतीन्द्रिय है। उसमें जो अमूर्त और अतीन्द्रिय है वह प्रधान होनेसे उपादेयरूप जानना।

वहाँ, पहला ज्ञान तथा सुख मूर्तरूप ऐसी क्षायोपशमिक उपयोगशक्तियोंसे उस-उस प्रकारकी इन्द्रियोंके द्वारा उत्पन्न होता हुआ पराधीन होनेसे [2]कादाचित्क, क्रमशः

---

[1] इन्द्रियज = इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होनेवाला; ऐन्द्रिय। [2] कादाचित्क = कदाचित् — कभी कभी होनेवाला; अनित्य।

त्पुनरमूर्ताभिश्चैतन्यानुविधायिनीभिरेकाकिनीभिरेवात्मपरिणामशक्तिभिस्तथाविधेभ्योऽतीन्द्रियेभ्यः स्वाभाविकचिदाकारपरिणामेभ्यः समुत्पद्यमानमत्यन्तमात्मायत्तत्वान्नित्यं, युगपत्कृतप्रवृत्ति निःप्रतिपक्षमहानिवृद्धि च मुख्यमिति कृत्वा ज्ञानं सौख्यं चोपादेयम् ॥५३॥

अथातीन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमतीन्द्रियज्ञानमुपादेयमभिष्टौति –

जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं ।
सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं ॥ ५४ ॥

प्रथमतस्तावदधिकारस्थलगाथया स्थलचतुष्टयं सूचयति – अत्थि अस्ति विद्यते । किं कर्तृ । णाणं ज्ञानमिति भिन्नप्रक्रमो व्यवहितसम्बन्धः । किंविशिष्टम् अमुत्तं मुत्तं अमूर्तं मूर्तं च । पुनरपि किंविशिष्टम् । अदिंदियं इंदियं च यदमूर्तं तदतीन्द्रियं मूर्तं पुनरिन्द्रियजम् । इत्थंभूतं ज्ञानमस्ति । केषु विषयेषु । अत्थेसु ज्ञेयपदार्थेषु, तहा सोक्खं च तथैव ज्ञानवदमूर्तमतीन्द्रियं मूर्तमिन्द्रियजं च सुखमिति । जं तेसु परं च तं णेयं यत्तेषु पूर्वोक्तज्ञानसुखेषु मध्ये परमुत्कृष्टमतीन्द्रियं तदुपादेयमिति ज्ञातव्यम् । तदेव विव्रियते – अमूर्ताभिः क्षायिकीभिरतीन्द्रियाभिश्चिदानन्दैकलक्षणाभिः शुद्धात्मशक्तिभिरुत्पन्नत्वादतीन्द्रियज्ञानं सुखं चात्माधीनत्वेनाविनश्वरत्वादुपादेयमिति, पूर्वोक्तामूर्तशुद्धात्मशक्तिभ्यो विलक्षणाभिः क्षायोपशमिकेन्द्रियशक्तिभिरुत्पन्नत्वादिन्द्रियजं ज्ञानं सुखं च परायत्तत्वेन विनश्वरत्वाद्धेयमिति

[1]प्रवृत्त होनेवाला, [2]सप्रतिपक्ष और [3]सहानिवृद्धि है इसलिये गौण है ऐसा समझकर वह हेय है अर्थात् छोड़ने योग्य है; और दूसरा ज्ञान तथा सुख अमूर्तरूप ऐसी [4]चैतन्यानुविधायी एकाकी आत्मपरिणामशक्तियोंसे तथाविध अतीन्द्रिय स्वाभाविक-चिदाकार-परिणामोंके द्वारा उत्पन्न होता हुआ अत्यन्त आत्माधीन होनेसे नित्य युगपत् प्रवर्तमान, निःप्रतिपक्ष और हानिवृद्धिसे रहित है, इसलिये मुख्य है, ऐसा समझकर वह (ज्ञान और सुख) उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य है ॥ ५३ ॥

अब, अतीन्द्रिय सुखका साधनभूत (-कारणरूप) अतीन्द्रिय ज्ञान उपादेय है – इसप्रकार उसकी प्रशंसा करते हैं :–

[1] मूर्तिक इन्द्रियज ज्ञान क्रमसे प्रवृत्त होता है; युगपत् नहीं होता; तथा मूर्तिक इन्द्रियज सुख भी क्रमशः होता है, एक ही साथ सर्व इन्द्रियोंके द्वारा या सर्व प्रकारसे नहीं होता ।

[2] सप्रतिपक्ष=प्रतिपक्ष – विरोधी सहित । (मूर्त इन्द्रियज ज्ञान अपने प्रतिपक्ष अज्ञानसहित ही होता है, और मूर्त इन्द्रियज सुख उसके प्रतिपक्षभूत दुःख सहित ही होता है ।

[3] सहानिवृद्धि=हानिवृद्धि सहित ।

[4] चैतन्यानुविधायी=चैतन्यके अनुसार वर्तनेवाली; चैतन्यके अनुकूलरूपसे – विरुद्धरूपसे नहीं वर्तनेवाली ।

देखे अमूर्तिक, मूर्तमांय अतीन्द्रिने प्रच्छन्नने ।
ते सर्वने पर के स्वकीयने, ज्ञान ते प्रत्यक्ष छे ॥ ५४ ॥

यत्प्रेक्षमाणस्यामूर्तं मूर्तेष्वतीन्द्रियं च प्रच्छन्नम् ।
सकलं स्वकं च इतरत् तद्ज्ञानं भवति प्रत्यक्षम् ॥ ५४ ॥

अतीन्द्रियं हि ज्ञानं यदमूर्तं यन्मूर्तेष्वप्यतीन्द्रियं यत्प्रच्छन्नं च तत्सकलं स्वपरविकल्पांतःपाति प्रेक्षत एव । तस्य खल्वमूर्तेषु धर्माधर्मादिषु, मूर्तेष्वप्यतीन्द्रियेषु

तात्पर्यम् ॥ ५३ ॥ एवमधिकारगाथया प्रथमस्थलं गतम् । अथ पूर्वोक्तमुपादेयभूतमतीन्द्रियज्ञानं विशेषेण व्यक्तीकरोति – जं यदतीन्द्रियं ज्ञानं कर्तृ । पेच्छदो प्रेक्षमाणपुरुषस्य जानाति । किं किम् । अमुत्तं अमूर्तमतीन्द्रियनिरुपरागसदानन्दैकसुखस्वभावं यत्परमात्मद्रव्यं तत्प्रभृति समस्तामूर्तद्रव्यसमूहं मुत्तेसु अदिंदियं च मूर्तेषु पुद्गलद्रव्येषु यदतीन्द्रियं परमाण्वादि । पच्छण्णं कालाणुप्रभृतिद्रव्यरूपेण प्रच्छन्नं व्यवहितमन्तरितं, अलोकाकाशप्रदेशप्रभृति क्षेत्रप्रच्छन्नं, निर्विकारपरमानन्दैकसुखास्वादपरिणतिरूपपरमात्मनो वर्तमानसमयगतपरिणामास्तत्प्रभृतयो ये समस्तद्रव्याणां वर्तमानसमयगतपरिणामास्ते कालप्रच्छन्नाः, तस्यैव परमात्मनः सिद्धरूपशुद्धव्यञ्जनपर्यायः शेषद्रव्याणां च ये यथासंभवं व्यञ्जनपर्यायास्तेष्वन्तर्भूताः प्रतिसमयप्रवर्तमानषट्प्रकारप्रवृद्धिहानिरूपा अर्थपर्याया भावप्रच्छन्ना भण्यन्ते । सयलं तत्पूर्वोक्तं समस्तं ज्ञेयं द्विधा भवति । कथमिति चेत् । सगं च इदरं किमपि यथासंभवं स्वद्रव्यगतं इतरत्परद्रव्यगतं च । तदुभयं यतः कारणाज्जानाति तेन कारणेन तं

गाथा ५४

अन्वयार्थ :– [**प्रेक्षमाणस्य यत्**] देखनेवालेका जो ज्ञान [**अमूर्तं**] अमूर्तको, [**मूर्तेषु**] मूर्त पदार्थोंमें भी [**अतीन्द्रियं**] अतीन्द्रियको, [**च प्रच्छन्नं**] और प्रच्छन्नको, [**सकलं**] इन सबको – [**स्वकं च इतरत्**] स्व तथा परको–देखता है, [**तद् ज्ञानं**] वह ज्ञान [**प्रत्यक्षं भवति**] प्रत्यक्ष है ।

टीका :– जो अमूर्त है, जो मूर्त पदार्थोंमें भी अतीन्द्रिय है, और जो [1]प्रच्छन्न है, उन सबको – जो कि स्व और पर इन दो भेदोंमें समा जाता है उसे–अतीन्द्रिय ज्ञान अवश्य देखता है । अमूर्त धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय इत्यादि, मूर्त पदार्थोंमें भी अतीन्द्रिय परमाणु इत्यादि, तथा द्रव्यमें प्रच्छन्न काल इत्यादि (-द्रव्य अपेक्षासे गुप्त ऐसे जो काल धर्मास्तिकाय वगैरह), क्षेत्रमें प्रच्छन्न अलोकाकाशके प्रदेश इत्यादि, कालमें प्रच्छन्न असाम्प्रतिक (अतीत-अनागत) पर्यायें तथा भाव-प्रच्छन्न स्थूल पर्यायोंमें [2]अन्तर्लीन सूक्ष्म पर्यायें हैं, उन सबको – जो कि स्व और परके भेदसे विभक्त हैं उनको – वास्तवमें उस अतीन्द्रिय ज्ञानके दृष्टापन है; (अर्थात् उन सबको वह अतीन्द्रिय ज्ञान देखता है) क्योंकि वह (अतीन्द्रिय ज्ञान) प्रत्यक्ष है । जिसे अनन्त शुद्धिका सद्भाव

---

[1] प्रच्छन्न=गुप्त; आन्तरिक; ढका हुआ । [2] अन्तर्लीन=अन्दर लीन हुए, अन्तर्मग्न ।

परमाण्वादिषु, द्रव्यप्रच्छन्नेषु कालादिषु, क्षेत्रप्रच्छन्नेष्वलोकाकाशप्रदेशादिषु, कालप्रच्छन्नेष्वसांप्रतिकपर्यायेषु, भावप्रच्छन्नेषु स्थूलपर्यायान्तर्लीनसूक्ष्मपर्यायेषु सर्वेष्वपि स्वपरव्यवस्थाव्यवस्थितेष्वस्ति द्रष्टृत्वं, प्रत्यक्षत्वात्। प्रत्यक्षं हि ज्ञानमुद्भिन्नानन्तशुद्धिसन्निधानमनादिसिद्धचैतन्यसामान्यसंबन्धमेकमेवाक्षनामानमात्मानं प्रतिनियतमितरां सामग्रीममृगयमाणमनन्तशक्तिसद्भावतोऽनन्ततामुपगतं दहनस्येव दाह्याकाराणां ज्ञानस्य ज्ञेयाकाराणामनतिक्रमाद्यथोदितानुभावमनुभवत्तत् केन नाम निवार्येत। अतस्तदुपादेयम् ॥ ५४ ॥

अथेन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमिन्द्रियज्ञानं हेयं प्रणिन्दति —

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं।
ओगेण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तं ण जाणादि ॥ ५५ ॥

णाणं तत्पूर्वोक्तज्ञानं हवदि भवति। कथंभूतम्। पच्चक्खं प्रत्यक्षमिति। अत्राह शिष्यः— ज्ञानप्रपञ्चाधिकारः पूर्वमेव गतः; अस्मिन् सुखप्रपञ्चाधिकारे सुखमेव कथनीयमिति। परिहारमाह — यदतीन्द्रियं ज्ञानं पूर्वं भणितं तदेवाभेदनयेन सुखं भवतीति ज्ञापनार्थं, अथवा ज्ञानस्य मुख्यवृत्त्या तत्र हेयोपादेयचिन्ता नास्तीति ज्ञापनार्थं वा। एवमतीन्द्रियज्ञानमुपादेयमिति कथनमुख्यत्वेनैकगाथया द्वितीयस्थलं गतम् ॥ ५४ ॥

अथ हेयभूतस्येन्द्रियसुखस्य कारणत्वादल्पविषयत्वाच्चेन्द्रियज्ञानं हेयमित्युपदिशति —

प्रगट हुआ है, ऐसे चैतन्यसामान्यके साथ अनादिसिद्ध सम्बन्धवाले एक ही [3]'अक्ष' नामक आत्माके प्रति जो नियत है (अर्थात् जो ज्ञान आत्माके साथ ही लगा हुआ है — आत्माके द्वारा सीधा प्रवृत्ति करता है), जो (इन्द्रियादिक) अन्य सामग्रीको नहीं ढूंढता और जो अनन्तशक्तिके सद्भावके कारण अनन्तताको (-बेहदताको) प्राप्त है, ऐसे उस प्रत्यक्ष ज्ञानको-जैसे दाह्याकार दहनका अतिक्रमण नहीं करते उसीप्रकार ज्ञेयाकार ज्ञानका अतिक्रम (उल्लंघन) न करनेसे यथोक्त प्रभावका अनुभव करते हुए (-उपर्युक्त पदार्थोंको जानते हुए) कौन रोक सकता है ? (अर्थात् कोई नहीं रोक सकता।) इसलिये वह (अतीन्द्रिय ज्ञान) उपादेय है ॥ ५४ ॥

अब, इन्द्रियसुखका साधनभूत (-कारणरूप) इन्द्रियज्ञान हेय है — इसप्रकार उसकी निन्दा करते हैं —

---

[3] अक्ष = आत्माका नाम 'अक्ष' भी है। (इन्द्रियज्ञान अक्ष=अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा जानता है; अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान अक्ष अर्थात् आत्माके द्वारा ही जानता है।)

जीवः स्वयममूर्तो मूर्तिगतस्तेन मूर्तेन मूर्तम् ।
अवगृह्य योग्यं जानाति वा तन्न जानाति ॥ ५५ ॥

इन्द्रियज्ञानं हि मूर्तोपलम्भकं मूर्तोपलम्भ्यं च । तद्वान् जीवः स्वयममूर्तोऽपि पंचेन्द्रियात्मकं शरीरं मूर्तमुपागतस्तेन ज्ञप्तिनिष्पत्तौ बलाधाननिमित्ततयोपलम्भकेन मूर्तेन मूर्तं स्पर्शादिप्रधानं वस्तूपलम्भ्यतामुपागतं योग्यमवगृह्य कदाचित्तदुपर्युपरि शुद्धिसंभवादवगच्छति, कदाचित्तदसंभवान्नावगच्छति,परोक्षत्वात् । परोक्षं हि ज्ञानमतिदृढतराज्ञानतमोग्रन्थिगुण्ठनान्निमीलितस्यानादिसिद्धचैतन्यसामान्यसंबन्धस्याप्यात्मनः स्वयं परिच्छेत्तुमर्थमसमर्थस्योपात्तानुपात्तपरप्रत्ययसामग्रीमार्गणव्यग्रतयात्यंतविसंष्ठुलत्वमवलम्बमानमन-

---

जीवो सयं अमुत्तो जीवस्तावच्छक्तिरूपेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेनामूर्तातीन्द्रियज्ञानसुखस्वभावः, पश्चादनादिबन्धवशात् व्यवहारनयेन मुत्तिगदो मूर्तशरीरगतो मूर्तशरीरपरिणतो भवति । तेण मुत्तिणा तेन मूर्तशरीरेण मूर्तशरीराधारोत्पन्नमूर्तद्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियाधारेण मुत्तं मूर्तं वस्तु ओगेण्हित्ता अवग्रहादिकेन

गाथा ५५

अन्वयार्थ :– [स्वयं अमूर्तः] स्वयं अमूर्त ऐसा [जीवः] जीव [मूर्तिगतः] मूर्त शरीरको प्राप्त होता हुआ [तेन मूर्तेन] उस मूर्त शरीरके द्वारा [योग्यं मूर्तं] योग्य मूर्त पदार्थको [अवग्रह्य] [1]अवग्रह करके (-इन्द्रियग्रहणयोग्य मूर्त पदार्थका अवग्रह करके) [तत्] उसे [जानाति] जानता है [वा न जानाति] अथवा नहीं जानता (-कभी जानता है और कभी नहीं जानता) ।

टीका :– इन्द्रियज्ञानको [2]उपलम्भक भी मूर्त है और [3]उपलभ्य भी मूर्त है । वह इन्द्रियज्ञानवाला जीव स्वयं अमूर्त होने पर भी मूर्त-पंचेन्द्रियात्मक शरीरको प्राप्त होता हुआ, ज्ञप्ति उत्पन्न करनेमें बल-धारणका निमित्त होनेसे जो उपलम्भक है ऐसे उस मूर्त (शरीर) के द्वारा मूर्त ऐसी [4]स्पर्शादिप्रधान वस्तुको – जो कि योग्य हो

---

[1] अवग्रह=मतिज्ञानसे किसी पदार्थको जाननेका प्रारम्भ होने पर पहले ही अवग्रह होता है क्योंकि मतिज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा – इस क्रमसे जानता है ।

[2] उपलम्भक=बतानेवाला, जाननेमें निमित्तभूत । (इन्द्रियज्ञानको पदार्थोंके जाननेमें निमित्तभूत मूर्त पंचेन्द्रियात्मक शरीर है) । [3] उपलभ्य=जानने योग्य ।

[4] स्पर्शादिप्रधान=जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण मुख्य हैं, ऐसी ।

पोते अमूर्तिक जीव मूर्तशरीरगत ए मूर्त थी ।
पछी योग्य मूर्त अवग्रही जाणे कदीक जाणे नहीं ॥ ५५ ॥

न्तायाः शक्तेः परिस्खलनान्नितान्तविक्लवीभूतं महामोहमल्लस्य जीवदवस्थत्वात् परपरिणतिप्रवर्तिताभिप्रायमपि पदे पदे प्राप्तविप्रलम्भमनुपलम्भसंभावनामेव परमार्थतोऽर्हति । अतस्तद्धेयम् ॥ ५५ ॥

क्रमकरणव्यवधानरूपं कृत्वा । जोग्गं तत्स्पर्शादिमूर्तं वस्तु । कर्मभूतम् । इन्द्रियगहणजोग्गं जाणदि वा तण्ण जाणादि स्वावरणक्षयोपशमयोग्यं किमपि स्थूलं जानाति, विशेषक्षयोपशमाभावात् सूक्ष्मं न जानातीति । अयमत्र भावार्थः- इन्द्रियज्ञानं यद्यपि व्यवहारेण प्रत्यक्षं भण्यते, तथापि निश्चयेन केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमेव । परोक्षं तु यावतांशेन सूक्ष्मार्थं न जानाति तावतांशेन चित्तखेदकारणं भवति । खेदश्च दुःखं, ततो दुःखजनकत्वादिन्द्रियज्ञानं हेयमिति ॥ ५५ ॥ अथ चक्षुरादीन्द्रियज्ञानं

अर्थात् जो (इन्द्रियोंके द्वारा) उपलभ्य हो उसे — अवग्रह करके, कदाचित् उससे आगे-आगेकी शुद्धिके सद्भावके कारण उसे जानता है और कदाचित् अवग्रहसे आगे आगेकी शुद्धिके असद्भावके कारण नहीं जानता, क्योंकि वह (इन्द्रिय ज्ञान) परोक्ष है । परोक्षज्ञान, चैतन्यसामान्यके साथ (आत्माका) अनादिसिद्ध सम्बन्ध होने पर भी जो अति दृढ़तर अज्ञानरूप तमोग्रन्थि (अन्धकारसमूह) द्वारा आवृत हो गया है, ऐसा आत्मा पदार्थको स्वयं जाननेके लिये असमर्थ होनेसे [1]उपात्त और [2]अनुपात्त परपदार्थ-रूप सामग्रीको ढूँढ़नेकी व्यग्रतासे अत्यन्त चंचल-तरल-अस्थिर वर्तता हुआ, अनन्त-शक्तिसे च्युत होनेसे अत्यन्त [3]विक्लव वर्तता हुआ, महामोह-मल्लके जीवित होनेसे पर-परिणतिका (-परको परिणमित करनेका) अभिप्राय करनेपर भी पद पद पर ठगाता हुआ, परमार्थतः अज्ञानमें गिने जाने योग्य है । इसलिये वह हेय है ।

भावार्थ :— इन्द्रियज्ञान इन्द्रियोंके निमित्तसे मूर्त स्थूल इन्द्रियगोचर पदार्थोंको ही क्षायोपशमिक ज्ञानके अनुसार जान सकता है । परोक्षभूत वह इन्द्रिय ज्ञान इन्द्रिय, प्रकाश, आदि बाह्य सामग्रीको ढूँढ़नेकी व्यग्रताके (-अस्थिरताके) कारण अतिशय चंचल-क्षुब्ध है, अल्प शक्तिवान होनेसे खेद खिन्न है, परपदार्थोंको परिणमित करानेका अभिप्राय होने पर भी पद पद पर ठगा जाता है (क्योंकि पर पदार्थ आत्माके आधीन परिणमित नहीं होते) इसलिये परमार्थसे वह ज्ञान 'अज्ञान' नामके ही योग्य है । इसलिये वह हेय है ॥ ५५ ॥

अब, इन्द्रियाँ मात्र अपने विषयोंमें भी युगपत् प्रवृत्त नहीं होतीं, इसलिये इन्द्रिय-ज्ञान हेय ही है, ऐसा निश्चय करते हैं :—

---

[1] उपात्त=प्राप्त (इन्द्रिय, मन इत्यादि उपात्त पर पदार्थ हैं)
[2] अनुपात्त=अप्राप्त (प्रकाश इत्यादि अनुपात्त पर पदार्थ हैं)
[3] विक्लव=खिन्न; दुःखी, घबराया हुआ ।

अथेन्द्रियाणां स्वविषयमात्रेऽपि युगपत्प्रवृत्त्यसंभवाद्धेयमेवेन्द्रियज्ञानमित्यवधारयति—

फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पोग्गला होंति ।
अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति ॥ ५६ ॥

स्पर्शो रसश्च गन्धो वर्णः शब्दश्च पुद्गला भवन्ति ।
अक्षाणां तान्यक्षाणि युगपत्तान्नैव गृह्णन्ति ॥ ५६ ॥

रूपादिस्वविषयमपि युगपन्न जानाति तेन कारणेन हेयमिति निश्चिनोति – **फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पुग्गला होंति** स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः पुद्गला मूर्ता भवन्ति । ते च विषयाः । केषाम् । **अक्खाणं** स्पर्शनादीन्द्रियाणां । **ते अक्खा** तान्यक्षाणीन्द्रियाणि कर्तॄणि **जुगवं ते णेव गेण्हंति** युगपत्तान्

गाथा ५६

अन्वयार्थ :—[स्पर्शः] स्पर्श, [रसः च] रस, [गंधः] गंध, [वर्णः] वर्ण [शब्दः च] और शब्द [पुद्गलाः] पुद्गल हैं, वे [अक्षाणां भवन्ति] इन्द्रियोंके विषय हैं [तानि अक्षाणि] (परन्तु) वे इन्द्रियाँ [तान्] उन्हें (भी) [युगपत्] एक साथ [न एव गृह्णन्ति] ग्रहण नहीं करतीं (नहीं जान सकतीं) ।

टीका :— मुख्य स्पर्श, रस, गंध और वर्ण — यह पुद्गलके मुख्य गुण हैं । ऐसे स्पर्श-रस-गंध-वर्ण तथा शब्द — जो कि पुद्गल हैं वे — इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण होने योग्य (-ज्ञात होने योग्य), हैं । (किन्तु) इन्द्रियोंके द्वारा वे भी युगपद् (एक साथ) ग्रहण नहीं होते (-जाननेमें नहीं आते), क्योंकि क्षयोपशमकी उस प्रकारकी शक्ति नहीं है । इन्द्रियोंके जो क्षयोपशम नामकी अन्तरंग ज्ञातृशक्ति है वह कौवेकी आँखकी पुतलीकी भाँति क्रमिक प्रवृत्तिवाली होनेसे अनेकतः प्रकाशके लिये (-एक ही साथ अनेक विषयोंको जाननेके लिये) असमर्थ है, इसलिये द्रव्येन्द्रियोंके विद्यमान होने पर भी समस्त इन्द्रियोंके विषयोंका (-विषयभूत पदार्थोंका) ज्ञान एक ही साथ नहीं होता, क्योंकि इन्द्रियज्ञान परोक्ष है ।

रस, गंध, स्पर्श वळी वरण ने शब्द जे पौद्गलिक ते ।
छे इन्द्रिविषयो, तेमनेय न इन्द्रियो युगपद ग्रहे ॥ ५६ ॥

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा ।
उवलद्धं तेहि कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि ॥ ५७ ॥

परद्रव्यं तान्यक्षाणि नैव स्वभाव इत्यात्मनो भणितानि ।
उपलब्धं तैः कथं प्रत्यक्षमात्मनो भवति ॥ ५७ ॥

आत्मानमेव केवलं प्रति नियतं किल प्रत्यक्षं । इदं तु व्यतिरिक्तास्तित्वयोगितया परद्रव्यतामुपगतैरात्मनः स्वभावतां मनागप्यसंस्पृशद्भिरिन्द्रियैरुपलभ्योपजन्यमानं न नामात्मनः प्रत्यक्षं भवितुमर्हति ॥ ५७ ॥

प्रत्यक्षं न भवतीति व्यवस्थापयति—परदव्वं ते अक्खा तानि प्रसिद्धान्यक्षाणीन्द्रियाणि परद्रव्यं भवन्ति । कस्य । आत्मनः । णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा योऽसौ विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभाव आत्मनः संबन्धी तत्स्वभावानि निश्चयेन न भणितानीन्द्रियाणि । कस्मात् । भिन्नास्तित्वनिष्पन्नत्वात् । उवलद्धं तेहि उपलब्धं ज्ञातं यत्पञ्चेन्द्रियविषयभूतं वस्तु तैरिन्द्रियैः कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि तद्वस्तु कथं प्रत्यक्षं भवत्यात्मनो, न कथमपीति । तथैव च नानामनोरथव्याप्तिविषये प्रतिपाद्य-प्रतिपादकादिविकल्पजालरूपं यन्मनस्तदपीन्द्रियज्ञानवन्निश्चयेन परोक्षं भवतीति ज्ञात्वा किं कर्तव्यम् । सकलैकाखण्डप्रत्यक्षप्रतिभासमयपरमज्योतिःकारणभूते स्वशुद्धात्मस्वरूपभावनासमुत्पन्नपरमाह्लादैक-लक्षणसुखसंवित्त्याकारपरिणतिरूपे रागादिविकल्पोपाधिरहिते स्वसंवेदनज्ञाने भावना कर्तव्या

स्वभावः इति] उन्हें आत्मस्वभावरूप [न एव भणितानि] नहीं कहा है; [तैः] उनके द्वारा [उपलब्धं] ज्ञात [आत्मनः] आत्माका [प्रत्यक्षं] प्रत्यक्ष [कथं भवति] कैसे हो सकता है ?

टीका :— जो केवल आत्माके प्रति ही नियत हो वह (ज्ञान) वास्तवमें प्रत्यक्ष है। यह (इन्द्रियज्ञान) तो, जो भिन्न अस्तित्ववाली होनेसे परद्रव्यत्वको प्राप्त हुई हैं, और आत्मस्वभावत्वको किंचित्मात्र स्पर्श नहीं करतीं (आत्मस्वभावरूप किंचित्मात्र भी नहीं हैं) ऐसी इन्द्रियोंके द्वारा उपलब्धि करके (ऐसी इन्द्रियोंके निमित्तसे पदार्थोंको जानकर) उत्पन्न होता है, इसलिये वह (इन्द्रियज्ञान) आत्माके लिये प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

भावार्थ :— जो सीधा आत्माके द्वारा ही जानता है सो प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय-ज्ञान परद्रव्यरूप इन्द्रियोंके द्वारा जानता है इसलिये वह प्रत्यक्ष नहीं है ॥ ५७ ॥

ते इन्द्रियो परद्रव्य, जीवस्वभाव भाखी न तेमने ।
तेनाथी जे उपलब्ध ते प्रत्यक्ष कई रीत जीवने ? ॥ ५७ ॥

अथ परोक्षप्रत्यक्षलक्षणमुपलक्षयति —

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं त्ति भणिदमट्ठेसु ।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥ ५८ ॥

यत्परतो विज्ञानं तत्तु परोक्षमिति भणितमर्थेषु ।
यदि केवलेन ज्ञातं भवति हि जीवेन प्रत्यक्षम् ॥ ५८ ॥

इत्यभिप्रायः ॥ ५७ ॥ अथ पुनरपि प्रकारान्तरेण प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणं कथयति — जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्ख त्ति भणिदं यत्परतः सकाशाद्विज्ञानं परिज्ञानं भवति तत्पुनः परोक्षमिति भणितम् । केषु विषयेषु । अट्ठेसु ज्ञेयपदार्थेषु । जदि केवलेण णादं हवदि हि यदि केवलेनासहायेन ज्ञानं भवति हि स्फुटम् । केन कर्तृभूतेन । जीवेण जीवेन । तर्हि पच्चक्खं प्रत्यक्षं भवतीति । अतो विस्तरः—

अब, परोक्ष और प्रत्यक्षके लक्षण बतलाते हैं :—

गाथा ५८

अन्वयार्थः— [परतः] परके द्वारा होनेवाला [यत्] जो [अर्थेषु विज्ञानं] पदार्थ सम्बन्धी विज्ञान है [तत् तु] वह तो [परोक्षं इति भणितं] परोक्ष कहा गया है, [यदि] यदि [केवलेन जीवेण] मात्र जीवके द्वारा ही [ज्ञातं भवति हि] जाना जाये तो [प्रत्यक्षं] वह ज्ञान प्रत्यक्ष है ।

टीका :— निमित्तताको प्राप्त (निमित्तरूप बने हुए) ऐसे जो परद्रव्यभूत अंतःकरण (मन), इन्द्रिय, परोपदेश, [1]उपलब्धि, संस्कार या प्रकाशादिक हैं उनके द्वारा होनेवाला जो स्वविषयभूत पदार्थका ज्ञान, वह परके द्वारा [2]प्रादुर्भावको प्राप्त होनेसे 'परोक्ष'-के रूपमें जाना जाता है, और अंतःकरण, इन्द्रिय, परोपदेश, उपलब्धि [3]संस्कार या [4]प्रकाशादिक सब परद्रव्यकी अपेक्षा रखे विना एकमात्र आत्मस्वभावको ही कारण-रूपसे ग्रहण करके सर्व द्रव्य-पर्यायोंके समूहमें एक समय ही व्याप्त होकर प्रवर्तमान ज्ञान वह केवल आत्माके द्वारा ही उत्पन्न होनेसे 'प्रत्यक्ष' के रूपमें जाना जाता है ।

---

[1] उपलब्धि=ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमके निमित्तसे उत्पन्न पदार्थोंको जाननेकी शक्ति । (यह 'लब्ध' शक्ति जब 'उपयुक्त' होती है, तभी पदार्थ ज्ञात होता है ।)

[2] प्रादुर्भावको प्राप्त=प्रगट, उत्पन्न । [3]संस्कार=पूर्व ज्ञात पदार्थकी धारणा ।

[4] चक्षुइन्द्रिय द्वारा रूपी पदार्थको देखनेमें प्रकाश भी निमित्तरूप होता है ।

अर्थो तणुं जे ज्ञान परतः थाय तेह परोक्ष छे ।
जीवमात्रथी ज जणाय जो, तो ज्ञान ते प्रत्यक्ष छे ॥ ५८ ॥

यत्तु खलु परद्रव्यभूतादन्तःकरणादिन्द्रियात्परोपदेशादुपलब्धेः संस्कारादालोकादेर्वा निमित्ततामुपगतात् स्वविषयमुपगतस्यार्थस्य परिच्छेदनं तत् परतः प्रादुर्भवत्परोक्षमित्यालक्ष्यते । यत्पुनरन्तःकरणमिन्द्रियं परोपदेशमुपलब्धिसंस्कारमालोकादिकं वा समस्तमपि परद्रव्यमनपेक्ष्यात्मस्वभावमेवैकं कारणत्वेनोपादाय सर्वद्रव्यपर्यायजातमेकपद एवाभिव्याप्य प्रवर्तमानं परिच्छेदनं तत् केवलादेवात्मनः संभूतत्वात् प्रत्यक्षमित्यालक्ष्यते । इह हि सहजसौख्यसाधनीभूतमिदमेव महाप्रत्यक्षमभिप्रेतमिति ॥ ५८ ॥

अथैतदेव प्रत्यक्षं पारमार्थिकसौख्यत्वेनोपक्षिपति –

जादं सयं समंतं णाणमणंतत्थवित्थडं विमलं ।
रहिदं तु ओग्गहादिहिं सुहं ति एगंतियं भणिदं ॥ ५९ ॥

जातं स्वयं समंतं ज्ञानमनन्तार्थविस्तृतं विमलम् ।
रहितं त्ववग्रहादिभिः सुखमिति ऐकान्तिकं भणितम् ॥ ५९ ॥

इन्द्रियमनःपरोपदेशालोकादिबहिरङ्गनिमित्तभूतात्तथैव च ज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितार्थग्रहणशक्तिरूपाया उपलब्धेरर्थावधारणरूपसंस्काराच्चान्तरङ्गकारणभूतात्सकाशादुत्पद्यते यद्विज्ञानं तत्पराधीनत्वात्परोक्षमित्युच्यते । यदि पुनः पूर्वोक्तसमस्तपरद्रव्यमनपेक्ष्य केवलाच्छुद्धबुद्धैकस्वभावात्परमात्मनः सकाशात्समुत्पद्यते ततोऽक्षनामानमात्मानं प्रतीत्योत्पद्यमानत्वात्प्रत्यक्षं भवतीति सूत्राभिप्रायः ॥ ५८ ॥ एवं हेयभूतेन्द्रियज्ञानकथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन तृतीयस्थलं गतम् । अथाभेदनयेन पञ्चविशेषणविशिष्टं केवलज्ञानमेव सुखमिति प्रतिपादयति – जादं जातं उत्पन्नम् । किं कर्तृ । णाणं केवलज्ञानम् । कथं जातम् । सयं स्वयमेव । पुनरपि किंविशिष्टम् । समत्तं परिपूर्णम् । पुनरपि किंरूपम् ।

यहाँ (इस गाथामें) सहज सुखका साधनभूत ऐसा यही महाप्रत्यक्ष ज्ञान इच्छनीय माना गया है – उपादेय माना गया है (ऐसा आशय समझना) ॥ ५८ ॥

अब, इसी प्रत्यक्षज्ञानको पारमार्थिक सुखरूप बतलाते हैं :–

गाथा ५९

अन्वयार्थ :– [स्वयं जातं] अपने आप ही उत्पन्न [समंतं] समंत (सर्व प्रदेशोंसे जानता हुआ) [अनन्तार्थविस्तृतं] अनन्त पदार्थोंमें विस्तृत [विमलं] विमल [तु] और [अवग्रहादिभिः रहितं] अवग्रहादिसे रहित–[ज्ञानं] ऐसा ज्ञान [ऐकान्तिकं सुखं] ऐकान्तिक सुख है [इति भणितं] ऐसा (सर्वज्ञदेवने) कहा है ।

स्वयमेव जात, समंत, अर्थ अनन्तमां विस्तृत ने ।
अवग्रह-ईहादि रहित, निर्मल ज्ञान सुख एकान्त छे ॥ ५९ ॥

अथ केवलस्यापि परिणामद्वारेण खेदस्य संभवादैकान्तिकसुखत्वं नास्तीति प्रत्याचष्टे —

जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं परिणमं च सो चेव ।
खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा ॥ ६० ॥

यत्केवलमिति ज्ञानं तत्सौख्यं परिणामश्च स चैव ।
खेदस्तस्य न भणितो यस्मात् घातीनि क्षयं जातानि ॥ ६० ॥

अथानन्तपदार्थपरिच्छेदनात्केवलज्ञानेऽपि खेदोऽस्तीति पूर्वपक्षे सति परिहारमाह — जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं यत्केवलमिति ज्ञानं तत्सौख्यं भवति, तस्मात् खेदो तस्स ण भणिदो तस्य केवलज्ञानस्य खेदो दुःखं न भणितम् । तदपि कस्मात् । जम्हा घादी खयं जादा यस्मान्मोहादिघातिकर्माणि क्षयं गतानि । तर्हि तस्यानन्तपदार्थपरिच्छित्तिपरिणामो दुःखकारणं भविष्यति । नैवम् । परिणमं च सो चेव तस्य केवलज्ञानस्य संबन्धी परिणामश्च स एव सुखरूप एवेति । इदानीं विस्तरः— ज्ञानदर्शनावरणोदये सति युगपदर्थान् ज्ञातुमशक्यत्वात् क्रमकरणव्यवधानग्रहणे खेदो भवति, आवरणद्वयाभावे

अब, ऐसे अभिप्रायका खंडन करते हैं कि 'केवलज्ञानको भी परिणामके द्वारा [1]खेदका सम्भव होनेसे केवलज्ञान ऐकान्तिक सुख नहीं है :—

गाथा ६०

अन्वयार्थ :— [**यत्**] जो [**केवलं इति ज्ञानं**] 'केवल' नामका ज्ञान है [**तत् सौख्यं**] वह सुख है [**परिणामः च**] परिणाम भी [**सः च एव**] वही है [**तस्य खेदः न भणितः**] उसे खेद नहीं कहा है (अर्थात् केवलज्ञानमें सर्वज्ञदेवने खेद नहीं कहा) [**यस्मात्**] क्योंकि [**घातीनि**] घातिकर्म [**क्षयं जातानि**] क्षयको प्राप्त हुए हैं ।

टीका :— यहाँ (केवलज्ञानके सम्बन्धमें), खेद क्या, (२) परिणाम क्या तथा (३) केवलज्ञान और सुखका व्यतिरेक (-भेद) क्या, कि जिससे केवलज्ञानको ऐकान्तिक सुखत्व न हो ?

(१) खेदके आयतन (-स्थान) घातिकर्म हैं, केवल परिणाममात्र नहीं । घातिकर्म

---

[1] खेद=थकावट; संताप; दुःख ।

जे ज्ञान 'केवल' तेज सुख, परिणाम पण वळी तेज छे ।
भाख्यो न तेमां खेद जेथी घातिकर्म विनिष्ट छे ॥ ६० ॥

अत्र को हि नाम खेदः, कश्च परिणामः, कश्च केवलसुखयोर्व्यतिरेकः, यतः केवलस्यैकान्तिकसुखत्वं न स्यात् । खेदस्यायतनानि घातिकर्माणि, न नाम केवलं परिणाममात्रम् । घातिकर्माणि हि महामोहोत्पादकत्वादुन्मत्तकवदतस्मिंस्तद्बुद्धिमाधाय परिच्छेद्यमर्थं प्रत्यात्मानं यतः परिणामयन्ति, ततस्तानि तस्य प्रत्यर्थं परिणम्य श्राम्यतः खेदनिदानतां प्रतिपद्यन्ते । तदभावात्कुतो हि नाम केवले खेदस्योद्भेदः । यतश्च त्रिसमयावच्छिन्नसकलपदार्थपरिच्छेद्याकारवैश्वरूप्यप्रकाशनास्पदीभूतं चित्रभित्तिस्थानीयमनन्तस्वरूपं स्वयमेव परिणमत्केवलमेव परिणामः, ततः कुतोऽन्यः परिणामो यद्द्वारेण

नति युगपद्ग्रहणे केवलज्ञानस्य खेदो नास्तीति सूक्तमेव । तथैव तस्य भगवतो जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तपदार्थयुगपत्परिच्छित्तिसमर्थमखण्डैकरूपं प्रत्यक्षपरिच्छित्तिमयं स्वरूपं परिणमत्सत् केवलज्ञानमेव परिणामो, न च केवलज्ञानाद्भिन्नपरिणामोऽस्ति येन खेदो भविष्यति । अथवा परिणामविषये द्वितीयव्याख्यानं क्रियते – युगपदनन्तपदार्थपरिच्छित्तिपरिणामेऽपि वीर्यान्तरायनिरवशेषक्षयादनन्तवीर्यत्वात् खेदकारणं नास्ति, तथैव च शुद्धात्मसर्वप्रदेशेषु समरसीभावेन परिणममानानां सहजशुद्धानन्दैकलक्षणसुखरसास्वादपरिणतिरूपामात्मनः सकाशादभिन्नामनाकुलतां प्रति खेदो नास्ति ।

महा मोहके उत्पादक होनेसे धतूरेकी भाँति [1]अतत्‌में तत् बुद्धि धारण करवाकर आत्माको ज्ञेयपदार्थके प्रति परिणमन कराते हैं; इसलिये वे घातिकर्म, प्रत्येक पदार्थके प्रति परिणमित हो-होकर थकनेवाले आत्माके लिये खेदके कारण होते हैं। उनका (घातिकर्मोंका) अभाव होनेसे केवलज्ञानमें खेद कहाँसे प्रगट होगा? (२) और तीनकालरूप तीन भेद जिसमें किये जाते हैं ऐसे समस्त पदार्थोंकी ज्ञेयाकाररूप (विविधताको प्रकाशित करनेका स्थानभूत केवलज्ञान, चित्रित दीवारकी भाँति, स्वयं) ही अनन्तस्वरूप स्वयमेव परिणमित होनेसे केवलज्ञान ही परिणाम है। इसलिये अन्य परिणाम कहाँ है कि जिनसे खेदकी उत्पत्ति हो? (३) और, केवलज्ञान समस्त स्वभावप्रतिघातके[2] अभावके कारण निरंकुश अनन्त शक्तिके उल्लसित होनेसे समस्त त्रैकालिक लोकालोकके-आकारमें व्याप्त होकर [3]कूटस्थतया [illegible] है, इसलिये आत्मासे अभिन्न ऐसा सुख-लक्षणभूत अनाकुलताको धारण [illegible] ही सुख है, इसलिये केवलज्ञान और सुखका व्यतिरेक कहाँ है?

---

[1] अततूमें तत्बुद्धि = वस्तु जिस स्वरूप न हो उस स्वरूप होनेकी मान्यता, [illegible] कहीं चेतनकी मान्यता) [illegible]

[2] प्रतिघात = विघ्न; रुकावट; हनन, घात।

[3] कूटस्थ = सदा एकरूप रहनेवाला; अचल [illegible]

स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकं हि सौख्यम् । आत्मनो हि दृशिज्ञप्ती स्वभावः तयोर्लोकालोकविस्तृतत्वेनार्थान्तिगतत्वेन च स्वच्छन्दविजृम्भितत्वाद्भवति प्रतिघाताभावः । ततस्तद्धेतुकं सौख्यमभेदविवक्षायां केवलस्य स्वरूपम् । किंच केवलं सौख्यमेव; सर्वानिष्टप्रहाणात्, सर्वेष्टोपलम्भाच्च । यतो हि केवलावस्थायां सुखप्रतिपत्तिविपक्षभूतस्य दुःखस्य साधनतामुपगतमज्ञानमखिलमेव प्रणश्यति, सुखस्य साधनीभूतं तु परिपूर्णं ज्ञानमुपजायेत, ततः केवलमेव सौख्यमित्यलं प्रपञ्चेन ॥ ६१ ॥

अथ केवलिनामेव पारमार्थिकसुखमिति श्रद्धापयति –

णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगदघादीणं ।
सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति ॥ ६२ ॥

तयोः प्रतिघात आवरणद्वयं, तस्याभावः केवलिनां, ततः कारणात्स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकमक्षयानन्तसुखं भवति । यतश्च परमानन्दैकलक्षणसुखप्रतिपक्षभूतमाकुलत्वोत्पादकमनिष्टं दुःखमज्ञानं च नष्टं, यतश्च पूर्वोक्तलक्षणसुखाविनाभूतं त्रैलोक्योदरविवरवर्तिसमस्तपदार्थयुगपत्प्रकाशकमिष्टं ज्ञानं च लब्धं, ततो ज्ञायते केवलिनां ज्ञानमेव सुखमित्यभिप्रायः ॥ ६१ ॥ अथ पारमार्थिकसुखं केवलिनामेव,

---

केवलज्ञान सुख ही है, क्योंकि सर्व अनिष्टोंका नाश हो चुका है और सम्पूर्ण इष्टकी प्राप्ति हो चुकी है । केवल-अवस्थामें, सुखोपलब्धिके विपक्षभूत दुःखोंके साधनभूत अज्ञानका सम्पूर्णतया नाश हो जाता है और सुखका साधनभूत परिपूर्ण ज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिये केवल ही सुख है । अधिक विस्तारसे बस होओ ॥ ६१ ॥

अब, ऐसी श्रद्धा कराते हैं कि केवलज्ञानियोंको ही पारमार्थिक सुख होता है :–

गाथा ६२

अन्वयार्थ :– '[विगतघातिनां] जिनके घातिकर्म नष्ट होगये हैं उनका [सौख्यं] सुख [सुखेषु परमं] (सर्व) सुखोंमें परम अर्थात् उत्कृष्ट है' [इति श्रुत्वा] ऐसा वचन सुनकर [न श्रद्दधति] जो श्रद्धा नहीं करते [ते अभव्याः] वे अभव्य हैं; [भव्याः वा] और भव्य [तत्] उसे [प्रतीच्छन्ति] स्वीकार (-आदर) करते हैं – उसकी श्रद्धा करते हैं ।

सुणी 'घातिकर्मविहीननुं सुख सौ सुखे उत्कृष्ट छे' ।
श्रद्धे न तेह अभव्य छे, ने भव्य ते संमत करे ॥ ६२ ॥

न श्रद्दधति सौख्यं सुखेषु परममिति विगतघातिनाम् ।
श्रुत्वा ते अभव्या भव्या वा तत्प्रतीच्छन्ति ॥ ६२ ॥

इह खलु स्वभावप्रतिघातादाकुलत्वाच्च मोहनीयादिकर्मजालशालिनां सुखाभासेऽप्यपारमार्थिकी सुखमिति रूढिः । केवलिनां तु भगवतां प्रक्षीणघातिकर्मणां स्वभावप्रतिघाताभावादनाकुलत्वाच्च यथोदितस्य हेतोर्लक्षणस्य च सद्भावात्पारमार्थिकं सुखमिति श्रद्धेयम् । न किलैवं येषां श्रद्धानमस्ति ते खलु मोक्षसुखसुधापानदूरवर्तिनो मृगतृष्णाम्भो-

---

संसारिणां ये मन्यन्ते तेऽभव्या इति निरूपयति — णो सद्दहंति नैव श्रद्दधति न मन्यन्ते । किम् । सोक्खं निर्विकारपरमाह्लादैकसुखम् । कथंभूतं न मन्यन्ते । सुहेसु परमं ति सुखेषु मध्ये तदेव परमसुखम् । केषां संबन्धि यत्सुखम् । विगदघादीणं विगतघातिकर्मणां केवलिनाम् । किं कृत्वापि न मन्यन्ते । सुणिदूण 'जादं सयं समत्तं' इत्यादिपूर्वोक्तगाथात्रयकथितप्रकारेण श्रुत्वापि । ते अभव्वा ते अभव्याः । ते हि जीवा वर्तमानकाले सम्यक्त्वरूपभव्यत्वव्यक्त्यभावादभव्या भण्यन्ते, न पुनः सर्वथा । भव्वा वा तं पडिच्छंति ये वर्तमानकाले सम्यक्त्वरूपभव्यत्वव्यक्तिपरिणतास्तिष्ठन्ति ते तदनन्तसुखमिदानीं मन्यन्ते । ये च सम्यक्त्वरूपभव्यत्वव्यक्त्या भाविकाले परिणमिष्यन्ति ते च दूरभव्या अग्रे श्रद्धानं कुर्युरिति । अयमत्रार्थः — मारणार्थं तलवरगृहीततस्करस्य मरणमिव यद्यपीन्द्रियसुखमिष्टं न भवति, तथापि तलवरस्थानीयचारित्रमोहोदयेन मोहितः सन्निरुपरागस्वात्मोत्थसुखमल-

---

टीका :— इस लोकमें मोहनीयआदिकर्मजालवालोंके स्वभावप्रतिघातके कारण और आकुलताके कारण सुखाभास होने पर भी उस सुखाभासको 'सुख' कहनेकी अपारमार्थिक रूढि है; और जिनके घातिकर्म नष्ट हो चुके हैं ऐसे केवलीभगवानके, स्वभावप्रतिघातके अभावके कारण और अनाकुलताके कारण सुखके यथोक्त [1]कारणका और [2]लक्षणका सद्भाव होनेसे पारमार्थिक सुख है — ऐसी श्रद्धा करने योग्य है। जिन्हें ऐसी श्रद्धा नहीं है वे — मोक्षसुखके सुधापानसे दूर रहनेवाले अभव्य — मृगतृष्णाके जलसमूहको ही देखते (-अनुभव करते) हैं; और जो उस वचनको इसीसमय स्वीकार (-श्रद्धा) करते हैं वे शिवश्री के (-मोक्षलक्ष्मी के) भाजन — आसन्नभव्य हैं, और जो आगे जाकर स्वीकार करेंगे वे दूरभव्य हैं।

भावार्थ :— 'केवलीभगवानके ही पारमार्थिक सुख है' ऐसा वचन सुनकर जो कभी इसका स्वीकार — आदर — श्रद्धा नहीं करते वे कभी मोक्ष प्राप्त नहीं करते; जो उपरोक्त वचन सुनकर अंतरंगसे उसकी श्रद्धा करते हैं वे ही मोक्षको प्राप्त करते हैं।

---

[1] सुखका कारण स्वभाव प्रतिघातका अभाव है।

[2] सुखका लक्षण अनाकुलता है।

भारमेवाभव्याः पश्यन्ति । ये पुनरिदमिदानीमेव [illegible] ते [illegible] आसन्न-
समासन्नभव्याः भवन्ति । ये तु दूर [illegible] ॥ ६२ ॥

अथ परोक्षज्ञानिनामपारमार्थिकमिन्द्रियसुखं विचारयति

मणुआसुरामरिंदा अहिद्दुदा इंदियेहिं सहजेहिं ।
असहंता तं दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु ॥ ६३ ॥

मनुजासुरामरेन्द्राः अभिद्रुता इन्द्रियैः सहजैः ।
असहमानास्तद्दुःखं रमन्ते विषयेषु रम्येषु ॥ ६३ ॥

भमानः सन् सरागसम्यग्दृष्टिर्भवति [illegible] ।
शुद्धोपयोगिनस्तेषां, मत्स्यानां [illegible]
दुःखं प्रतिभाति । तथा चोक्तम् – "[illegible]
दहति झषाणां किमङ्ग पुनरङ्गमङ्गाराः" ॥ ६२ ॥ [illegible]
मुख्यतया गाथाचतुष्टयेन चतुर्थस्थलं गतम् । अथ [illegible]

जो वर्तमानमें श्रद्धा करते हैं वे आसन्नभव्य हैं और जो भविष्यमें श्रद्धा करेंगे वे दूरभव्य हैं ॥ ६२ ॥

अब, परोक्षज्ञानवालोंके अपारमार्थिक इन्द्रियसुखका विचार करते हैं :–

गाथा ६३

अन्वयार्थ :– [मनुजासुरामरेन्द्राः] मनुष्येंद्र (चक्रवर्ती) असुरेन्द्र और सुरेन्द्र [सहजैः इन्द्रियैः] स्वाभाविक (परोक्षज्ञानवालोंको जो स्वाभाविक है ऐसी) इन्द्रियोंसे [अभिद्रुताः] पीड़ित वर्तते हुए [तद् दुःखं] उस दुःखको [असहमानाः] सहन न कर सकनेसे [रम्येषु विषयेषु] रम्य विषयोंमें [रमन्ते] रमण करते हैं ।

टीका :– प्रत्यक्ष ज्ञानके अभावके कारण परोक्ष ज्ञानका आश्रय लेनेवाले इन प्राणियोंको उसकी (-परोक्ष ज्ञानकी) सामग्रीरूप इन्द्रियोंके प्रति निजरससे ही (-स्वभावसे ही) मैत्री प्रवर्तती है । अब इन्द्रियोंके प्रति मैत्रीको प्राप्त उन प्राणियोंको, उदयप्राप्त महामोहरूपी कालाग्निने ग्रास बना लिया है, इसलिये तप्त लोहेके गोलेकी

सुर-असुर-नरपति पीड़ित वर्ते सहज इन्द्रियो वड़े ।
नव सही सके ते दुःख तेथी रम्य विषयोमां रमे ॥ ६३ ॥

अमीषां प्राणिनां हि प्रत्यक्षज्ञानाभावात्परोक्षज्ञानमुपसर्पतां तत्सामग्रीभूतेषु स्वरसत एवेन्द्रियेषु मैत्री प्रवर्तते । अथ तेषां तेषु मैत्रीमुपगतानामुदीर्णमहामोहकालानलकवलितानां तप्तायोगोलानामिवात्यन्तमुपात्ततृष्णानां तद्दुःखवेगमसहमानानां व्याधिसात्म्यतामुपगतेषु रम्येषु विषयेषु रतिरुपजायते । ततो व्याधिस्थानीयत्वादिन्द्रियाणां व्याधिसात्म्यसमत्वाद्विषयाणां च न छद्मस्थानां पारमार्थिकं सौख्यम् ॥ ६३ ॥

अथ यावदिन्द्रियाणि तावत्स्वभावादेव दुःखमेवं वितर्कयति –

जेसिं विसएसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं ।
जइ तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥ ६४ ॥

येषां विषयेषु रतिस्तेषां दुःखं विजानीहि स्वाभावम् ।
यदि तन्न हि स्वभावो व्यापारो नास्ति विषयार्थम् ॥ ६४ ॥

मणुआसुरामरिंदा मनुजासुरामरेन्द्राः । कथंभूताः । अहिद्दुदा इंदियेहिं सहजेहिं अभिद्रुताः कदर्थिताः दुःखिताः । कैः । इन्द्रियैः सहजैः । असहंता तं दुक्खं तद्दुःखोद्रेकमसहमानाः सन्तः । रमंते विसएसु रम्मेसु रमन्ति विषयेषु रम्याभासेषु इति । अथ विस्तरः– मनुजादयो जीवा अमूर्तातीन्द्रियज्ञानसुखास्वादमलभमानाः सन्तः मूर्तेन्द्रियज्ञानसुखनिमित्तं तन्निमित्तपञ्चेन्द्रियेषु मैत्रीं कुर्वन्ति । ततश्च तप्तलोहगोलकानामुदकाकर्षणमिव विषयेषु तीव्रतृष्णा जायते । तां तृष्णामसहमाना विषयाननुभवन्ति इति । ततो ज्ञायते पञ्चेन्द्रियाणि व्याधिस्थानीयानि, विषयाश्च तत्प्रतीकारौषधस्थानीया इति संसारिणां वास्तवं सुखं नास्ति ॥ ६३ ॥ अथ यावदिन्द्रियव्यापारस्तावद्दुःखमेवेति कथयति – जेसिं विसयेसु रदी

भाँति (–जैसे गरम किया हुआ लोहेका गोला पानीको शीघ्र ही सोख लेता है) अत्यन्त तृष्णा उत्पन्न हुई है; उस दुःखके वेगको सहन न कर सकनेसे उन्हें व्याधिके प्रतिकारके समान (–रोगमें थोड़ासा आराम जैसा अनुभव करानेवाले उपचारके समान) रम्य विषयोंमें रति उत्पन्न होती है। इसलिये इन्द्रियाँ व्याधि समान होनेसे और विषय व्याधिके प्रतिकार समान होनेसे छद्मस्थोंके पारमार्थिक सुख नहीं है ॥ ६३ ॥

अब, जहाँ तक इन्द्रियाँ हैं वहाँ तक [illegible] निश्चित करते हैं :–

गाथा ६४

अन्वयार्थ :– [येषां] जिन्हें [विषयेषु रतिः] [illegible] [तेषां] [illegible]

विषयो विषे रति जेमने, दुःख छे स्वाभाविक तेमने;
जो ते न होय स्वभाव तो व्यापार नहि विषयो विषे ॥ ६४ ॥

अथ मुक्तात्मसुखप्रसिद्धये शरीरस्य सुखसाधनतां प्रतिहन्ति —

पप्पा इट्ठे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण ।
परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो ॥ ६५ ॥

प्राप्येष्टान् विषयान् स्पर्शैः समाश्रितान् स्वभावेन ।
परिणममान आत्मा स्वयमेव सुखं न भवति देहः ॥ ६५ ॥

॥ ६४ ॥ एवं परमार्थेनेन्द्रियसुखस्य दुःखस्थापनार्थं गाथाद्वयं गतम् । अथ मुक्तात्मनां शरीराभावेऽपि सुखमस्तीति ज्ञापनार्थं शरीरं सुखकारणं न स्यादिति व्यक्तीकरोति – पप्पा प्राप्य । कान् । इट्ठे विसये इष्टपञ्चेन्द्रियविषयान् । कथंभूतान् । फासेहिं समस्सिदे स्पर्शनादीन्द्रियरहितशुद्धात्मतत्त्वविलक्षणैः स्पर्शनादिभिरिन्द्रियैः समाश्रितान् सम्यक् प्राप्यान् ग्राह्यान्, इत्थंभूतान् विषयान् प्राप्य । स कः । अप्पा आत्मा कर्ता । किंविशिष्टः । सहावेण परिणममाणो अनन्तसुखोपादानभूतशुद्धात्मस्वभावविपरीतेनाशुद्धसुखोपादानभूतेनाशुद्धात्मस्वभावेन परिणममानः । इत्थंभूतः सन् सयमेव सुहं स्वयमेवेन्द्रियसुखं भवति परिणमति । ण हवदि देहो देहः पुनरचेतनत्वात्सुखं न भवतीति । अयमत्रार्थः –

कानमें फिर बकरेका मूत्र डालता दिखाई नहीं देता और जिसका घाव भर जाता है वह फिर लेप करता दिखाई नहीं देता – इसीप्रकार उनके विषय व्यापार देखनेमें नहीं आना चाहिये; किन्तु उनके वह (विषयप्रवृत्ति) तो देखी जाती है । इससे (सिद्ध हुआ कि) जिनके इन्द्रियाँ जीवित हैं ऐसे परोक्षज्ञानियोंके दुःख स्वाभाविक ही है ।

भावार्थ :– परोक्षज्ञानियोंके स्वभावसे ही दुःख है, क्योंकि उनके विषयोंमें रति वर्तती है; कभी-कभी तो वे, असह्य तृष्णाकी दाहसे (-तीव्र इच्छारूपी दुःखके कारण) मरने तककी परवाह न करके क्षणिक इन्द्रियविषयोंमें कूद पड़ते हैं । यदि उन्हें स्वभावसे ही दुःख न हो तो विषयोंमें रति ही न होनी चाहिये । जिसके शरीरका दाह-दुःख नष्ट होगया हो वह बाह्य शीतोपचारमें रति क्यों करेगा ? इससे सिद्ध हुआ कि परोक्षज्ञानियोंके दुःख स्वाभाविक ही है ॥ ६४ ॥

अब, मुक्त आत्माके सुखकी प्रसिद्धिके लिये [illegible] खंडन करते हैं । (सिद्ध भगवानके शरीरके [illegible] स्पष्ट समझानेके लिये, संसारावस्थामें भी शरीर [illegible], ऐसा निश्चित करते हैं) :–

इन्द्रियसमाश्रित इष्ट विषयो [illegible]
जीव प्रणमतो स्वयमेव [illegible] ॥ ६५ ॥

अथैतदेव दृढयति –

एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि सग्गे वा ।
विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा ॥ ६६ ॥

एकान्तेन हि देहः सुखं न देहिनः करोति स्वर्गे वा ।
विषयवशेन तु सौख्यं दुःखं वा भवति स्वयमात्मा ॥ ६६ ॥

अयमत्र सिद्धांतो यद्दिव्यवैक्रियिकत्वेऽपि शरीरं न खलु सुखाय कल्प्येतेतीष्टानामनिष्टानां वा विषयाणां वशेन सुखं वा दुःखं वा स्वयमेवात्मा स्यात् ॥ ६६ ॥

ननु, देवशरीरं दिव्यं तत्किल सुखकारणं भविष्यतीत्याशङ्कां निराकरोति – एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि एकान्तेन हि स्फुटं देहः कर्ता सुखं न करोति । कस्य । देहिनः संसारिजीवस्य । क्व । सग्गे वा आस्तां तावन्मनुष्याणां मनुष्यदेहः सुखं न करोति, स्वर्गे वा योऽसौ दिव्यो देवदेहः सोऽप्युपचारं विहाय सुखं न करोति । विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा किंतु निश्चयेन निर्विषयामूर्तस्वाभाविकसदानन्दैकसुखस्वभावोऽपि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशाद्विषयाधीनत्वेन परिणम्य सांसारिकसुखं दुःखं वा स्वयमात्मैव भवति, न च देह इत्यभिप्रायः ॥ ६६ ॥ एवं मुक्तात्मनां

है । उसमें शरीर कारण नहीं है; क्योंकि सुखरूप परिणति और शरीर सर्वथा भिन्न होनेके कारण सुख और शरीरमें निश्चयसे किञ्चित्‌मात्र भी कार्यकारणता नहीं है ॥ ६५॥

अब, इसी बातको दृढ़ करते हैं :–

गाथा ६६

अन्वयार्थ :– [एकान्तेन हि] एकांतसे अर्थात् नियमसे [स्वर्गे वा] स्वर्गमें भी [देहः] शरीर [देहिनः] शरीरीको (-आत्माको) [सुखं न करोति] सुख नहीं देता [विषयवशेन तु] परन्तु विषयोंके वशसे [सौख्यं दुःखं वा] सुख अथवा दुःखरूप [स्वयं आत्मा भवति] स्वयं आत्मा होता है ।

टीका :– यहाँ यह सिद्धांत है कि—भले ही दिव्य वैक्रियिकता प्राप्त हो तथापि 'शरीर सुख नहीं दे सकता'; इसलिये, आत्मा स्वयं ही इष्ट अथवा अनिष्ट विषयोंके वशसे सुख अथवा दुःखरूप स्वयं ही होता है ।

अेकान्तथी स्वर्गेय देह करे नहीं सुख देहीने ;
पण विषयवश स्वयमेव आत्मा सुख वा दुःख थाय छे ॥ ६६ ॥

अथात्मनः स्वयमेव सुखपरिणामशक्तियोगित्वाद्विषयाणामकिंचित्करत्वं द्योतयति –

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं ।
तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति ॥ ६७ ॥

तिमिरहरा यदि दृष्टिर्जनस्य दीपेन नास्ति कर्तव्यम् ।
तथा सौख्यं स्वयमात्मा विषयाः किं तत्र कुर्वन्ति ॥ ६७ ॥

यथा हि केषांचिन्नक्तंचराणां चक्षुषः स्वयमेव तिमिरविकरणशक्तियोगित्वान्न तदपाकरणप्रवणेन प्रदीपप्रकाशादिना कार्यं, एवमस्यात्मनः संसारे मुक्तौ वा स्वयमेव

देहाभावेऽपि सुखमस्तीति परिज्ञानार्थं संसारिणामपि देहः सुखकारणं न भवतीतिकथनरूपेण गाथाद्वयं गतम् । अथात्मनः स्वयमेव सुखस्वभावत्वान्निश्चयेन यथा देहः सुखकारणं न भवति तथा विषया अपीति प्रतिपादयति – जइ यदि दिट्ठी नक्तंचरजनस्य दृष्टिः तिमिरहरा अन्धकारहरा भवति जणस्स जनस्य दीवेण णत्थि कायव्वं दीपेन नास्ति कर्तव्यं । तस्य प्रदीपादीनां यथा प्रयोजनं नास्ति तह

भावार्थ :– शरीर सुख-दुःख नहीं देता । देवोंका उत्तम वैक्रियिक शरीर सुखका कारण नहीं है और नारकियोंका शरीर दुःखका कारण नहीं है । आत्मा स्वयं ही इष्ट-अनिष्ट विषयोंके वश होकर सुख-दुःखकी कल्पनारूपमें परिणमित होता है ॥ ६६ ॥

अब, आत्मा स्वयं ही सुखपरिणामकी शक्तिवाला होनेसे विषयोंकी अकिंचित्करता बतलाते हैं :–

गाथा ६७

अन्वयार्थः – [**यदि**] यदि [**जनस्य दृष्टिः**] प्राणीकी दृष्टि [**तिमिरहरा**] तिमिरनाशक हो तो [**दीपेन नास्ति कर्तव्यं**] दीपकसे कोई प्रयोजन नहीं है, अर्थात् दीपक कुछ नहीं कर सकता, [**तथा**] उसीप्रकार जहाँ [**आत्मा**] आत्मा [**स्वयं**] स्वयं [**सौख्यं**] सुखरूप परिणमन करता है [**तत्र**] वहाँ [**विषयाः**] विषय [**किं कुर्वन्ति**] क्या कर सकते हैं ? ।

टीका :– जैसे किन्हीं निशाचरोंके (उल्लू, बिल्ली, भूत इत्यादि) नेत्र स्वयमेव अन्धकारको नष्ट करनेकी शक्तिवाले होते हैं, इसलिये उन्हें अंधकार नाशक स्वभाव-वाले दीपक-प्रकाशादिसे कोई प्रयोजन नहीं होता, (उन्हें दीपक-प्रकाश कुछ नहीं

जो दृष्टि प्राणीनी तिमिरहर, तो कार्य छे नहि दीपथी ।
ज्यां जीव स्वयं सुख परिणमे, विषयो करे छे शुं तहीं ? ॥ ६७ ॥

सुखतया परिणममानस्य सुखसाधनधिया अबुधैर्मुधाध्यास्यमाना अपि विषयाः किं हि नाम कुर्युः ॥ ६७ ॥

अथात्मनः सुखस्वभावत्वं दृष्टान्तेन दृढयति —

सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि ।
सिद्धो वि तहा णाणं सुहं च लोगे तहा देवो ॥ ६८ ॥

स्वयमेव यथादित्यस्तेजः उष्णश्च देवता नभसि ।
सिद्धोऽपि तथा ज्ञानं सुखं च लोके तथा देवः ॥ ६८ ॥

सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति तथा निर्विषयामूर्तसर्वप्रदेशाह्लादकसहजानन्दैकलक्षण-सुखस्वभावो निश्चयेनात्मैव, तत्र मुक्तौ संसारे वा विषयाः किं कुर्वन्ति, न किमपीति भावः ॥ ६७ ॥ अथात्मनः सुखस्वभावत्वं ज्ञानस्वभावत्वं च पुनरपि दृष्टान्तेन दृढयति — सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि कारणान्तरं निरपेक्ष्य स्वयमेव यथादित्यः स्वपरप्रकाशरूपं तेजो भवति, तथैव च स्वयमेवोष्णो भवति, तथा चाज्ञानिजनानां देवता भवति । क्व स्थितः । नभसि आकाशे । सिद्धो

करना,) इसीप्रकार — यद्यपि अज्ञानी 'विषय सुखके साधन हैं' ऐसी बुद्धिके द्वारा व्यर्थ ही विषयोंका अध्यास (-आश्रय) करते हैं तथापि — संसारमें या मुक्तिमें स्वयमेव सुख-रूप परिणमित इस आत्माका विषय क्या कर सकते हैं ?

भावार्थ :— संसारमें या मोक्षमें आत्मा अपने आप ही सुखरूप परिणमित होता है; उसमें विषय अकिंचित्कर हैं अर्थात् कुछ नहीं कर सकते। अज्ञानी विषयोंको सुखका कारण मानकर व्यर्थ ही उनका अवलंबन लेते हैं ॥ ६७ ॥

अब, आत्माका सुखस्वभावत्व दृष्टांत देकर दृढ़ करते हैं —

गाथा ६८

अन्वयार्थ :— [यथा] जैसे [नभसि] आकाशमें [आदित्यः] सूर्य [स्वयमेव] अपने आप ही [तेजः] तेज, [उष्णः] उष्ण [च] और [देवः] देव है, [तथा] उसीप्रकार [लोके] लोकमें [सिद्धः अपि] सिद्ध भगवान भी (स्वयमेव) [ज्ञानं] ज्ञान [सुखं च] सुख [तथा देवः] और देव है।

ज्यम आभमां स्वयमेव भास्कर उष्ण, देव, प्रकाश है ।
स्वयमेव लोके सिद्ध पण त्यम ज्ञान, सुख ने देव है ॥ ६८ ॥

अथ शुभपरिणामाधिकारप्रारम्भः।

अथेन्द्रियसुखस्वरूपविचारमुपक्रममाणस्तत्साधनस्वरूपमुपन्यस्यति –

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा ॥ ६९ ॥

देवतायतिगुरुपूजासु चैव दाने वा सुशीलेषु।
उपवासादिषु रक्तः शुभोपयोगात्मक आत्मा ॥ ६९ ॥

सर्वथानन्तज्ञानादिगुणस्तवनेन स्तुत्यं च यद्दिव्यमात्मस्वरूपं तत्स्वभावत्वात्तथैव देवश्चेति। ततो ज्ञायते मुक्तात्मनां विषयैरपि प्रयोजनं नास्तीति ॥ ६८ ॥ एवं स्वभावेनैव सुखस्वभावत्वाद्विषया अपि मुक्तात्मनां सुखकारणं न भवन्तीतिकथनरूपेण गाथाद्वयं गतम्।

अथेदानीं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवाः पूर्वोक्तलक्षणानन्तसुखाधारभूतं सर्वज्ञं वस्तुस्तवेन नमस्कुर्वन्ति-

---

स्वरूपवान होनेसे देव है। इसलिये इस आत्माको सुखसाधनाभास (जो सुखके साधन नहीं है परन्तु सुखके साधन होनेका आभासमात्र जिनमें होता है ऐसे) विषयोंसे बस हो।

भावार्थ :– सिद्ध भगवान किसी बाह्य कारणकी अपेक्षाके बिना अपने आप ही स्वपरप्रकाशक ज्ञानरूप हैं, अनन्त आत्मिक आनन्दरूप हैं और अचिंत्य दिव्यतारूप हैं। सिद्ध भगवानकी भाँति ही सर्व जीवोंका स्वभाव है; इसलिये सुखार्थी जीवोंको विषयालम्बी भाव छोड़कर निरालम्बी परमानन्दस्वभावरूप परिणमित होना चाहिये।

–: इसप्रकार आनन्द-अधिकार पूर्ण हुआ :–

—० अब, यहाँ शुभ परिणामका अधिकार प्रारम्भ होता है ०—

अब, इन्द्रियसुखस्वरूप सम्बन्धी विचारको लेकर उसके साधनका (-शुभोपयोगका) स्वरूप कहते हैं :–

गुरु-देव-यतिपूजा विषें, दानी दान में सुशीलमें ;
जीव रत उपवासादिमें, शुभ-उपयोग स्वरूप है ॥ ६९ ॥

अथ शुभोपयोगसाध्यत्वेनेन्द्रियसुखमाख्याति –

समाप्तः ॥ इत ऊर्ध्वं पञ्चविंशतिगाथापर्यन्तं ज्ञानकण्डिकाचतुष्टयाभिधानोऽधिकारः प्रारभ्यते । तत्र पञ्चविंशतिगाथामध्ये प्रथमं तावच्छुभाशुभविषये मूढत्वनिराकरणार्थं 'देवदजदिगुरु' इत्यादि दशगाथापर्यन्तं प्रथमज्ञानकण्डिका कथ्यते । तदनन्तरमाप्तात्मस्वरूपपरिज्ञानविषये मूढत्वनिराकरणार्थं 'चत्ता पावारंभं' इत्यादि सप्तगाथापर्यन्तं द्वितीयज्ञानकण्डिका. अथानन्तरं द्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानविषये मूढत्वनिराकरणार्थं 'दव्वादीएसु' इत्यादि गाथाषट्कपर्यन्तं तृतीयज्ञानकण्डिका । तदनन्तरं स्वपरतत्त्वपरिज्ञानविषये मूढत्वनिराकरणार्थं 'णाणप्पगं' इत्यादि गाथाद्वयेन चतुर्थज्ञानकण्डिका । इति ज्ञानकण्डिकाचतुष्टयाभिधानाधिकारे समुदायपातनिका । अथेदानीं प्रथमज्ञानकण्डिकायां स्वतन्त्रव्याख्यानेन गाथाचतुष्टयं, तदनन्तरं पुण्यं जीवस्य विषयतृष्णामुत्पादयतीति कथनरूपेण गाथाचतुष्टयं, तदनन्तरमुपसंहाररूपेण गाथाद्वयं. इति स्थलत्रयपर्यन्तं क्रमेण व्याख्यानं क्रियते । तद्यथा – अथ यद्यपि पूर्वं गाथाषट्केनेन्द्रियसुखस्वरूपं भणितं तथापि पुनरपि तदेव विस्तरेण कथयन् सन् तत्साधकं शुभोपयोगं प्रतिपादयति, अथवा द्वितीयपातनिका – पीठिकायां शुभोपयोगस्वरूपं सूचितं तस्येदानीमिन्द्रियसुखविशेषविचारप्रस्तावे तत्साधकत्वेन विशेषविवरणं करोति– **देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु** देवतायतिगुरुपूजासु चैव दाने वा सुशीलेषु **उववासादिसु रत्तो** तथैवोपवासादिषु च रक्त आसक्तः अप्पा जीवः **सुहोवओगप्पगो** शुभोपयोगात्मको भण्यते इति । तथा हि – देवता निर्दोषिपरमात्मा, इन्द्रियजयेन शुद्धात्मस्वरूपप्रयत्नपरो यतिः, स्वयं भेदाभेदरत्नत्रयाराधकस्तदर्थिनां भव्यानां जिनदीक्षादायको गुरुः, पूर्वोक्तदेवतायतिगुरूणां तत्प्रतिबिम्बादीनां च यथासंभवं द्रव्यभावरूपा पूजा, आहारादिचतुर्विधदानं च आचारादिकथितशीलव्रतानि तथैवोपवासादिजिनगुणसंपत्त्यादिविधिविशेषाश्च । एतेषु शुभानुष्ठानेषु योऽसौ रतः द्वेषरूपे विषयानुरागरूपे चाशुभानुष्ठाने विरतः, स जीवः शुभोपयोगी भवतीति सूत्रार्थः ॥६९॥ अथ पूर्वोक्तशुभोपयोगेन साध्यमिन्द्रियसुखं कथयति – **सुहेण जुत्तो आदा** [illegible]

भावार्थ :– सर्व दोष रहित परमात्मा वह देव है, [illegible] आराधक तथा उस आराधनाके अर्थी अन्य भव्य जीवोंको [illegible] इन्द्रियजय करके शुद्धात्मस्वरूपमें प्रयत्नपरायण वे यति हैं। [illegible] उनकी प्रतिमाकी पूजामें, आहारादिक [illegible] शीलव्रतोंमें तथा उपवासादिक तपमें प्रीतिमान [illegible] द्वेषरूप और विषयानुरागरूप अशुभोपयोगसे [illegible] है वह शुभोपयोगी है ॥ ६९ ॥

अब, इन्द्रियसुखको शुभोपयोगके साध्यके [illegible] इन्द्रियसुखका [illegible] कहते हैं :–

सौख्यं स्वभावसिद्धं नास्ति सुराणामपि सिद्धमुपदेशे ।
ते देहवेदनार्ता रमन्ते विषयेषु रम्येषु ॥ ७१ ॥

इन्द्रियसुखभाजनेषु हि प्रधाना दिवौकसः । तेषामपि स्वाभाविकं न खलु सुखमस्ति, प्रत्युत तेषां स्वाभाविकं दुःखमेवावलोक्यते, यतस्ते पञ्चेन्द्रियात्मकशरीरपिशाचपीडया परवशा भृगुप्रपातस्थानीयान्मनोज्ञविषयानभिपतन्ति ॥ ७१ ॥

चिदानन्दैकस्वभावेनोपादानकारणभूतेन सिद्धमुत्पन्नं यत्स्वाभाविकसुखं तत्स्वभावसिद्धं भण्यते । तच्च णत्थि सुराणं पि आस्तां मनुष्यादीनां सुखं देवेन्द्रादीनामपि नास्ति सिद्धमुवदेसे इति सिद्धमुपदिष्टमुपदेशे परमागमे । ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु तदभावात्ते देवादयो देहवेदनार्ताः पीडिताः कदर्थिताः सन्तो रमन्ते विषयेषु रम्याभासेष्विति । अथ विस्तरः—अधोभागे सप्तनरकस्थानीयमहाजगरप्रसारितमुखे, कोणचतुष्के तु क्रोधमानमायालोभस्थानीयसर्पचतुष्कप्रसारितवदने देहस्थानीयमहान्धकूपे पतितः सन् कश्चित् पुरुषविशेषः, संसारस्थानीयमहारण्ये मिथ्यात्वादिकुमार्गे नष्टः सन् मृत्युस्थानीय[illegible] शुक्लकृष्णपक्षस्थानीयशुक्लकृष्णमूषकद्वयछेद्यमानमूले [illegible] हस्तिना हन्यमाने सति विषयसुखस्थानीय मधुबिन्दुसुखेन यथा सुखं मन्यते, तथा संसारसुखम् । पूर्वोक्तमोक्षसुखं तु तद्विपरीतमिति तात्पर्यम् ॥ ७१ ॥ अथ पूर्वोक्तप्रकारेण [illegible]

अथैवमिन्द्रियसुखस्य दुःखतायां युक्त्यावतारितायामिन्द्रियसुखसाधनीभूतपुण्य-निर्वर्तकशुभोपयोगस्य दुःखसाधनीभूतपापनिर्वर्तकाशुभोपयोगविशेषादविशेषत्वमवतारयति-

णरणारयतिरियसुरा भजन्ति जदि देहसंभवं दुक्खं।
किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं ॥ ७२ ॥

नरनारकतिर्यक्सुरा भजन्ति यदि देहसंभवं दुःखं।
कथं स शुभो वाऽशुभ उपयोगो भवति जीवानाम् ॥ ७२ ॥

निश्चयेन दुःखत्वं ज्ञात्वा तत्साधकशुभोपयोगस्याप्यशुभोपयोगेन सह समानत्वं व्यवस्थापयति– णरणारयतिरियसुरा भजंति जदि देहसंभवं दुक्खं सहजातीन्द्रियामूर्तसदानन्दैकलक्षणं वास्तवसुखमलभमानाः सन्तो नरनारकतिर्यक्सुरा यदि चेदविशेषेण पूर्वोक्तपरमार्थसुखाद्विलक्षणं पञ्चेन्द्रियात्मकशरीरोत्पन्नं निश्चयनयेन दुःखमेव भजन्ते सेवन्ते, किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं

इसप्रकार युक्तिपूर्वक इन्द्रियसुखको दुःखरूप प्रगट करके, अब इन्द्रियसुखके साधनभूत पुण्यको उत्पन्न करनेवाले शुभोपयोगकी, दुःखके साधनभूत पापको उत्पन्न करनेवाले अशुभोपयोगसे अविशेषता प्रगट करते हैं :–

गाथा ७२

अन्वयार्थ :– [नरनारकतिर्यक्सुराः] मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव (-सभी) [यदि] यदि [देहसंभवं] देहोत्पन्न [दुःखं] दुःखको [भजंति] अनुभव करते हैं, [जीवानां] तो जीवोंका [सः उपयोगः] वह (शुद्धोपयोगसे विलक्षण-अशुद्ध) उपयोग [शुभः वा अशुभः] शुभ और अशुभ – दो प्रकारका [कथं भवति] कैसे है ? (अर्थात् नहीं है)

टीका :– यदि शुभोपयोगजन्य उदयगत पुण्यकी सम्पत्तिवाले देवादिक (अर्थात् शुभोपयोगजन्य पुण्यके उदयसे प्राप्त होनेवाली ऋद्धिवाले देव इत्यादि) और अशुभोपयोगजन्य उदयगत पापकी आपदावाले नारकादिक – यह दोनों स्वाभाविक सुखके अभावके कारण अविशेषरूपसे (-बिना अन्तरके) पचेन्द्रियात्मक शरीर सम्बंधी दुःखका ही अनुभव करते हैं, तब फिर परमार्थसे शुभ और अशुभ उपयोगकी पृथक्त्वव्यवस्था नहीं रहती।

तिर्यंच–नारक–सुर–नरो जो देहगत दुख अनुभवे।
तो जीवनो उपयोग ए शुभ ने अशुभ कई रीत छे ? ॥ ७२ ॥

यदि शुभोपयोगजन्यसमुदीर्णपुण्यसंपदस्त्रिदशादयोऽशुभोपयोगजन्यपर्यागतपातकापदो वा नारकादयश्च, उभयेऽपि स्वाभाविकसुखाभावादविशेषेण पञ्चेन्द्रियात्मकशरीरप्रत्ययं दुःखमेवानुभवन्ति । ततः परमार्थतः शुभाशुभोपयोगयोः पृथक्त्वव्यवस्था नावतिष्ठते ॥ ७२ ॥

अथ शुभोपयोगजन्यं फलवत्पुण्यं विशेषेण दूषणार्थमभ्युपगम्योत्थापयति –

कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं ।
देहादीणं विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा ॥ ७३ ॥

कुलिशायुधचक्रधराः शुभोपयोगात्मकैः भोगैः ।
देहादीनां वृद्धिं कुर्वन्ति सुखिता इवाभिरताः ॥ ७३ ॥

यतो हि शक्राश्चक्रिणश्च स्वेच्छोपगतैर्भोगैः शरीरादीन् पुष्णन्तस्तेषु दुष्टशोणित इव जलौकसोऽत्यन्तमासक्ताः सुखिता इव प्रतिभासन्ते, ततः शुभोपयोगजन्यानि फलवन्ति पुण्यान्यवलोक्यन्ते ।। ७३ ।।

अथैवमभ्युपगतानां पुण्यानां दुःखबीजहेतुत्वमुद्भावयति –

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि ।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं ।। ७४ ।।

यदि सन्ति हि पुण्यानि च परिणामसमुद्भवानि विविधानि ।
जनयन्ति विषयतृष्णां जीवानां देवतान्तानाम् ।। ७४ ।।

तृप्तिसमुत्पादकं विषयतृष्णाविच्छित्तिकारकं च स्वाभाविकसुखं तदलभमाना दुष्टशोणिते जलयूका इवासक्ताः सुखाभासेन देहादीनां वृद्धिं कुर्वन्ति । ततो ज्ञायते तेषां स्वाभाविकं सुखं नास्तीति ।। ७३ ।। अथ पुण्यानि जीवस्य विषयतृष्णामुत्पादयन्तीति प्रतिपादयति – **जदि संति हि पुण्णाणि य** यदि चेन्निश्चयेन पुण्यपापरहितपरमात्मनो विपरीतानि पुण्यानि सन्ति । पुनरपि किंविशिष्टानि । **परिणामसमुब्भवाणि** निर्विकारस्वसंवित्तिविलक्षणशुभपरिणामसमुद्भवानि **विविहाणि** स्वकीयानन्तभेदेन बहुविधानि । तदा तानि किं कुर्वन्ति । **जणयंति विसयतण्हं** जनयन्ति । काम् । विषयतृष्णाम् ।

गाथा ७३

अन्वयार्थ :– [कुलिशायुधचक्रधराः] वज्रधर और चक्रधर (-इन्द्र और चक्रवर्ती) [शुभोपयोगात्मकैः भोगैः] शुभोपयोगमूलक (पुण्योंके फलरूप) भोगोंके द्वारा [देहादीनां] देहादिकी [वृद्धिं कुर्वन्ति] पुष्टि करते हैं और [अभिरताः] (इसप्रकार) भोगोंमें रत वर्तते हुए [सुखिताः इव] सुखी जैसे भासित होते हैं । (इसलिये पुण्य विद्यमान अवश्य है)

टीका :– शक्रेन्द्र और चक्रवर्ती अपनी इच्छानुसार प्राप्त भोगोंके द्वारा शरीरादिको पुष्ट करते हुए – जैसे गोंच (जोंक) दूषित रक्तमें अत्यन्त आसक्त वर्तती हुई सुखी जैसी भासित होती है, उसीप्रकार – उन भोगोंमें अत्यन्त आसक्त वर्तते हुए सुखी जैसे भासित होते हैं; इसलिये शुभोपयोगजन्य फलवाले पुण्य दिखाई देते हैं (अर्थात् शुभोपयोगजन्य फलवाले पुण्योंका अस्तित्व दिखाई देता है)

परिणामजन्य अनेक विध जो पुण्यनुं अस्तित्व छे ।
तो पुण्य ए देवान्त जीवने विषयतृष्णोद्भव करे ।। ७४ ।।

यदि नामैवं शुभोपयोगपरिणामकृतसमुत्पत्तीन्यनेकप्रकाराणि पुण्यानि विद्यंत इत्यभ्युपगम्यते, तदा तानि सुधाशनानप्यवधिं कृत्वा समस्तसंसारिणां विषयतृष्णामवश्यमेव समुत्पादयन्ति । न खलु तृष्णामन्तरेण दुष्टशोणित इव जलूकानां समस्तसंसारिणां विषयेषु प्रवृत्तिरवलोक्यते । अवलोक्यते च सा । ततोऽस्तु पुण्यानां तृष्णायतनत्वमबाधितमेव ॥ ७४ ॥

केवलम् । जीवाणं देवदंताणं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] दुःखसंतापितजीवाः सन्ति । इत्यत्र भावार्थः — यदि तथाविधा विषयतृष्णा नास्ति तर्हि दुष्टशोणिते जलूका इव कथं ते विषयेषु प्रवृत्तिं कुर्वन्ति । कुर्वन्ति चेत् पुण्यानि तृष्णोत्पादकत्वेन दुःखकारणानि इति ज्ञायन्ते ॥ ७४ ॥ अथ पुण्यानि दुःखकारणानीति पूर्वोक्तमेवार्थं विशेषेण समर्थयति —

अथ ते पुनस्त्रिदशावसानाः कृत्स्नसंसारिणः समुदीर्णतृष्णाः पुण्यनिर्वर्तिताभिरपि तृष्णाभिर्दुःखबीजतयाऽत्यन्तदुःखिताः सन्तो मृगतृष्णाभ्य इवाम्भांसि विषयेभ्यः सौख्यान्यभिलषन्ति । तद्दुःखसंतापवेगमसहमाना अनुभवन्ति च विषयान् जलायुका इव, तावद्यावत् क्षयं यान्ति । यथा हि जलायुकास्तृष्णाबीजेन विजयमानेन दुःखाङ्कुरेण क्रमतः समाक्रम्यमाणा दुष्टकीलालमभिलषन्त्यस्तदेवानुभवन्त्यश्चाप्रलयात् क्लिश्यन्ते, एवममी अपि पुण्यशालिनः पापशालिन इव तृष्णाबीजेन विजयमानेन दुःखाङ्कुरेण क्रमतः समाक्रम्यमाणा विषयानभिलषन्तस्तानेवानुभवन्तश्चाप्रलयात् क्लिश्यन्ते । अतः पुण्यानि सुखाभासस्य दुःखस्यैव साधनानि स्युः ॥ ७५ ॥

[illegible] । अयमत्रार्थः—यथा [illegible] ॥ ७५ ॥ [illegible]

[illegible] विषयोंको तबतक भोगते हैं, जब तक कि विनाशको [मरणको] प्राप्त नहीं होते । जैसे जोंक (जोंक) तृष्णा जिसका बीज है ऐसे विजयको प्राप्त होती हुई [illegible] आक्रान्त होनेसे दूषित रक्तको चाहती और उसीको भोगती हुई [illegible] पाती है, उसीप्रकार यह पुण्यशाली जीव भी, पापशाली जीवोंकी भाँति [illegible] बीज है ऐसे विजय प्राप्त दुःखांकुरोंके द्वारा [illegible] हुए और उन्हींको भोगते हुए विनाशपर्यंत [illegible]

अथ पुनरपि पुण्यजन्यस्येन्द्रियसुखस्य बहुधा दुःखत्वमुद्योतयति –

सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इन्दिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥ ७६ ॥

सपरं बाधासहितं विच्छिन्नं बन्धकारणं विषमम् ।
यदिन्द्रियैर्लब्धं तत्सौख्यं दुःखमेव तथा ॥ ७६ ॥

बहुधा दुःखत्वं प्रकाशयति – सपरं सह परद्रव्यापेक्षया वर्तते सपरं भवतीन्द्रियसुखं, पारमार्थिकसुखं तु परद्रव्यनिरपेक्षत्वादात्माधीनं भवति । बाधासहियं तीव्रक्षुधातृष्णाद्यनेकबाधासहितत्वाद्बाधासहितमिन्द्रियसुखं, निजात्मसुखं तु पूर्वोक्तसमस्तबाधारहितत्वादव्याबाधम् । विच्छिण्णं प्रतिपक्षभूतासातोदयेन सहितत्वाद्विच्छिन्नं सान्तरितं भवतीन्द्रियसुखं, अतीन्द्रियसुखं तु प्रतिपक्षभूतासातोदयाभावान्निरन्तरम् । बंधकारणं दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षाप्रभृत्यनेकापध्यानवशेन भाविनरकादिदुःखोत्पादककर्मबन्धोत्पादकत्वाद्बन्धकारणमिन्द्रियसुखं, अतीन्द्रियसुखं तु सर्वापध्यानरहितत्वादबन्धकारणम् ।

अब, पुनः पुण्यजन्य इन्द्रियसुखको अनेक प्रकारसे दुःखरूप प्रकाशित करते हैं :–

गाथा ७६

अन्वयार्थ :– [**यत्**] जो [**इंद्रियैः लब्धं**] इंद्रियोंसे प्राप्त होता है [**तत् सौख्यं**] वह सुख [**सपरं**] परसम्बन्धयुक्त, [**बाधासहितं**] बाधासहित [**विच्छिन्नं**] विच्छिन्न [**बंधकारणं**] बंधका कारण [**विषमं**] और विषम है; [**तथा**] इसप्रकार [**दुःखम् एव**] वह दुःख ही है ।

टीका :– परसम्बन्धयुक्त होनेसे, बाधा सहित होनेसे, विच्छन्न होनेसे, बन्धका कारण होनेसे, और विषम होनेसे, इन्द्रियसुख – पुण्यजन्य होनेपर भी – दुःख ही है ।

इन्द्रियसुख (१) 'परके सम्बन्धवाला' होता हुआ पराश्रयताके कारण पराधीन है, (२) 'बाधासहित' होता हुआ खाने, पीने और मैथुनकी इच्छा इत्यादि तृष्णाकी व्यक्तियोंसे (तृष्णाकी प्रगटताओंसे) युक्त होनेसे अत्यन्त आकुल है, (३) 'विच्छिन्न' होता हुआ असातावेदनीयका उदय जिसे [१]च्युत कर देता है ऐसे सातावेदनीयके उदयसे

---

[१] च्युत करना=हटा देना; पदभ्रष्ट करना; (सातावेदनीयका उदय उसकी स्थिति अनुसार रहकर हट जाता है और असाता वेदनीयका उदय आता है)

परयुक्त, बाधासहित, खंडित, बंधकारण, विषम छे ।
जे इन्द्रियोथी लब्ध ते सुख ए रीते दुःख ज खरे ॥ ७६ ॥

सपरत्वात् बाधासहितत्वात् विच्छिन्नत्वात् बंधकारणत्वात् विषमत्वाच्च पुण्यजन्यमपीन्द्रियसुखं दुःखमेव स्यात् । सपरं हि सत् परप्रत्ययत्वात् पराधीनतया, बाधासहितं हि सदशनायोदन्यावृषस्यादिभिस्तृष्णाव्यक्तिभिरुपेतत्वात् अत्यन्ताकुलतया, विच्छिन्नं हि सदसद्वेद्योदयप्रच्यावितसद्वेद्योदयप्रवृत्ततयाऽनुभवत्वादुद्भूतविपक्षतया, बंधकारणं हि सद्विषयोपभोगमार्गानुलग्नरागादिदोषसेनानुसारसंगच्छमानघनकर्मपांसुपटलत्वादुदर्कदुःसहतया, विषमं हि सदभिवृद्धिपरिहाणिपरिणतत्वादत्यन्तविसंष्ठुलतया च दुःखमेव भवति । अथैवं पुण्यमपि पापवद्दुःखसाधनमायातम् ॥ ७६ ॥

अथ पुण्यपापयोरविशेषत्वं निश्चिन्वन्नुपसंहरति —

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं ।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥ ७७ ॥

[illegible]

प्रवर्तमान होता हुआ अनुभवमें आता है, इसलिये विपक्षकी उत्पत्तिवाला है, [illegible] 'बंधका कारण' होता हुआ विषयोपभोगके [illegible] अनुसार कर्मरजके [illegible] और (५) 'विषम' होता हुआ हानि-वृद्धिमें [illegible] (दुःखरूप) [illegible] है ।

[illegible]

भावार्थ [illegible]

[illegible]

न हि मन्यते य एवं नास्ति विशेष इति पुण्यपापयोः ।
हिण्डति घोरमपारं संसारं मोहसंछन्नः ॥ ७७ ॥

एवमुक्तक्रमेण शुभाशुभोपयोगद्वैतमिव सुखदुःखद्वैतमिव च न खलु परमार्थतः पुण्यपापद्वैतमवतिष्ठते, उभयत्राप्यनात्मधर्मत्वाविशेषत्वात् । यस्तु पुनरनयोः कल्याण-

---

पुण्यानि जीवस्य तृष्णोत्पादकत्वेन दुःखकारणानि भवन्तीति कथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाचतुष्टयं गतम् । अथ निश्चयेन पुण्यपापयोर्विशेषो नास्तीति कथयन् पुण्यपापयोर्व्याख्यानमुपसंहरति – ण हि मण्णदि जो एवं न हि मन्यते य एवम् । किम् । णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं पुण्यपापयोर्निश्चयेन विशेषो नास्ति । स किं करोति । हिंडदि घोरमपारं संसारं हिण्डति भ्रमति । कम् । संसारम् । कथंभूतम् । घोरम् अपारं चाभव्यापेक्षया । कथंभूतः । मोहसंछण्णो मोहप्रच्छादित इति । तथा हि –

गाथा ७७

अन्वयार्थ :– [**एवं**] इसप्रकार [**पुण्यपापयोः**] पुण्य और पापमें [**विशेषः नास्ति**] अन्तर नहीं है [**इति**] ऐसा [**यः**] जो [**न हि मन्यते**] नहीं मानता, [**मोहसंछन्नः**] वह मोहाच्छादित होता हुआ [**घोरं अपारं संसारं**] घोर अपार संसारमें [**हिण्डति**] परिभ्रमण करता है ।

टीका :– यों पूर्वोक्त प्रकारसे, शुभाशुभ उपयोगके द्वैतकी भाँति और सुखदुःखके द्वैतकी भाँति, परमार्थसे पुण्यपापका द्वैत नहीं टिकता – नहीं रहता, क्योंकि दोनोंमें अनात्मधर्मत्व अविशेष अर्थात् समान है । (परमार्थसे जैसे शुभोपयोग और अशुभोपयोग-रूप द्वैत विद्यमान नहीं है, जैसे [1] सुख और दुःखरूप द्वैत विद्यमान नहीं है, उसीप्रकार पुण्य और पापरूप द्वैतका भी अस्तित्व नहीं है; क्योंकि पुण्य और पाप दोनों आत्माके धर्म न होनेसे निश्चयसे समान ही हैं ।) ऐसा होने पर भी, जो जीव उन दोनोंमें – सुवर्ण और लोहेकी बेड़ीकी भाँति – [2]अहंकारिक अन्तर मानता हुआ, अहमिन्द्रपदादि-सम्पदाओंके कारणभूत धर्मानुराग पर अत्यन्त निर्भररूपसे (-गाढ़रूपसे) अवलम्बित है, वह जीव वास्तवमें चित्तभूमिके उपरक्त होनेसे (-चित्तकी भूमि कर्मोपाधिके निमित्तसे रंगी हुई – मलिन विकृत होनेसे) जिसने शुद्धोपयोग शक्तिका तिरस्कार किया है, ऐसा

---

[1] सुख=इन्द्रियसुख [2] पुण्य और पापमें अन्तर होनेका मत अहंकारजन्य (अविद्याजन्य, अज्ञानजन्य है) ।

नहि मानतो—अे रीत पुण्ये पापमां न विशेष छे ।
ते मोहथी आच्छन्न घोर अपार संसारे भमे ॥ ७७ ॥

कालायसनिगडयोरिवाहङ्कारिकं विशेषमभिमन्यमानोऽहमिन्द्रपदादिसंपदां निदानमिति निर्भरतरं धर्मानुरागमवलम्बते स खलूपरक्तचित्तभित्तितया तिरस्कृतशुद्धोपयोगशक्तिरासंसारं शारीरं दुःखमेवानुभवति ॥ ७७ ॥

अथैवमवधारितशुभाशुभोपयोगाविशेषः समस्तमपि रागद्वेषद्वैतमपहासयन्नशेषदुःखक्षयाय सुनिश्चितमनाः शुद्धोपयोगमधिवसति –

एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा ।
उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं ॥ ७८ ॥

एवं विदितार्थो यो द्रव्येषु न रागमेति द्वेषं वा ।
उपयोगविशुद्धः स क्षपयति देहोद्भवं दुःखम् ॥ ७८ ॥

यो हि नाम शुभानामशुभानां च भावानामविशेषदर्शनेन सम्यक्परिच्छिन्नवस्तुस्वरूपः स्वपरविभागावस्थितेषु समग्रेषु ससमग्रपर्यायेषु द्रव्येषु रागं द्वेषं चाशेषमेव परिवर्जयति स किलैकान्तेनोपयोगविशुद्धतया परित्यक्तपरद्रव्यालम्बनोऽग्निरिवायःपिण्डादननुष्ठितायःसारः प्रचण्डघनघातस्थानीयं शारीरं दुःखं क्षपयति। ततो ममायमेवैकः शरणं शुद्धोपयोगः ॥ ७८ ॥

वा निजशुद्धात्मद्रव्यादन्येषु शुभाशुभसर्वद्रव्येषु रागं द्वेषं वा न गच्छति उवओगविसुद्धो सो रागादिरहितशुद्धात्मानुभूतिलक्षणेन शुद्धोपयोगेन विशुद्धः सन् सः खवेदि देहुब्भवं दुक्खं तप्तलोहपिण्डस्थानीयदेहादुद्भवं अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखाद्विलक्षणं परमाकुलत्वोत्पादकं लोहपिण्डरहितोऽग्निरिव घनघातपरंपरास्थानीयदेहरहितो भूत्वा शारीरं दुःखं क्षपयतीत्यभिप्रायः ॥ ७८ ॥

गाथा ७८

अन्वयार्थ :– [**एवं**] इसप्रकार [**विदितार्थः**] वस्तुस्वरूपको जानकर [**यः**] जो [**द्रव्येषु**] द्रव्योंके प्रति [**रागं द्वेषं वा**] राग या द्वेषको [**न एति**] प्राप्त नहीं होता, [**सः**] वह [**उपयोगविशुद्धः**] उपयोगविशुद्ध होता हुआ [**देहोद्भवं दुःखं**] देहोत्पन्न दुःखका [**क्षपयति**] क्षय करता है।

टीका :– जो जीव शुभ और अशुभ भावोंके अविशेषदर्शनसे (-समानताकी श्रद्धासे) वस्तुस्वरूपको सम्यक्प्रकारसे जानता है, स्व और पर ऐसे दो विभागोंमें रहनेवाली, समस्त पर्यायों सहित समस्त द्रव्योंके प्रति राग और द्वेषको निरवशेषरूपसे छोड़ता है, वह जीव, एकान्तसे उपयोगविशुद्ध (-सर्वथा शुद्धोपयोगी) होनेसे जिसने परद्रव्यका आलम्बन छोड़ दिया है ऐसा वर्तता हुआ – लोहेके गोलेमेंसे लोहेके [1]सारका अनुसरण न करनेवाली अग्निकी भाँति – प्रचंड घनके आघात समान शारीरिक दुःखका क्षय करता है। (जैसे अग्नि लोहेके तप्त गोलेमेंसे लोहेके सत्वको धारण नहीं करती इसलिये अग्नि पर प्रचंड घनके प्रहार नहीं होते, उसीप्रकार परद्रव्यका आलम्बन न करनेवाले आत्माको शारीरिक दुःखका वेदन नहीं होता।) इसलिए यही एक शुद्धोपयोग मेरी शरण है ॥ ७८ ॥

अब, सर्व सावद्ययोगको छोड़कर चारित्र अङ्गीकार किया होनेपर भी यदि मैं शुभोपयोगपरिणतिके वश होकर मोहादिका [2]उन्मूलन न करूँ, तो मुझे शुद्ध आत्माकी

---

[1] सार=सत्व, घनता, कठिनता।

[2] उन्मूलन=जड़मूलसे निकाल देना; निकन्दन।

अथ यदि सर्वसावद्ययोगमतीत्य चरित्रमुपस्थितोऽपि शुभोपयोगानुवृत्तिवशतया मोहादीन्नोन्मूलयामि, ततः कुतो मे शुद्धात्मलाभ इति सर्वारम्भेणोत्तिष्ठते —

चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्मि ।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ॥ ७९ ॥

त्यक्त्वा पापारम्भं समुत्थितो वा शुभे चरित्रे ।
न जहाति यदि मोहादीन्न लभते स आत्मकं शुद्धम् ॥ ७९ ॥

यो हि नामार्हन्तं द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः परिच्छिनत्ति स खल्वात्मानं परिच्छिनत्ति, उभयोरपि निश्चयेनाविशेषात्। अर्हतोऽपि पाककाष्ठागतकार्तस्वरस्येव परिस्पष्टमात्मरूपं, ततस्तत्परिच्छेदे सर्वात्मपरिच्छेदः। तत्रान्वयो द्रव्यं, अन्वयविशेषणं गुणः, अन्वयव्यतिरेकाः पर्यायाः। तत्र भगवत्यर्हति सर्वतो विशुद्धे त्रिभूमिकमपि स्वमनसा समयमुत्पश्यति। यश्चेतनोऽयमित्यन्वयस्तद्द्रव्यं, यच्चान्वयाश्रितं चैतन्यमिति विशेषणं स गुणः, ये चैकसमयमात्रावधृतकालपरिमाणतया परस्परपरावृत्ता अन्वयव्यतिरेकास्ते पर्यायाश्चिद्विवर्तनग्रन्थय इति यावत्। अथैवमस्य त्रिकालमप्येककालमाकलयतो मुक्ताफलानीव

भूतममूर्तमसंख्यातप्रदेशं शुद्धचैतन्यान्वयरूपं द्रव्यं चेति। इत्थंभूतं द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपं पूर्वमर्हदभिधाने परमात्मनि ज्ञात्वा पश्चान्निश्चयनयेन तदेवागमसारपदभूतयाऽध्यात्मभाषया निजशुद्धात्मभावनाभिमुखरूपेण सविकल्पस्वसंवेदनज्ञानेन तथैवागमभाषयाधःप्रवृत्तिकरणापूर्वकरणानिवृत्तिकरणसंज्ञदर्शनमोहक्षपणसमर्थपरिणामविशेषबलेन पश्चादात्मनि योजयति। तदनन्तरमविकल्पस्वरूपे प्राप्ते,

---

अन्वयके आश्रित रहनेवाला 'चैतन्य' विशेषण वह गुण है, और एक समय मात्रकी मर्यादावाला कालपरिमाण होनेसे परस्पर अप्रवृत्त [1]अन्वयव्यतिरेक वे पर्यायें हैं—जो कि चिद्विवर्तनकी [-आत्माके परिणमनकी] ग्रन्थियाँ [गांठें] हैं।

अब, इसप्रकार त्रैकालिकको भी [-त्रैकालिक आत्माको भी] एक कालमें समझ लेनेवाला वह जीव, जैसे मोतियोंको झूलते हुए हारमें अन्तर्गत माना जाता है, उसीप्रकार चिद्विवर्तोंका चेतनमें ही संक्षेपण [अंतर्गत] करके, तथा [2]विशेषणविशेष्यताकी वासनाका [3]अन्तर्धान होनेसे—जैसे सफेदीको हारमें [4]अन्तर्हित किया जाता है, उसीप्रकार—चैतन्यको चेतनमें ही अन्तर्हित करके, जैसे मात्र [5]हारको जाना जाता है, उसीप्रकार केवल आत्माको जानने पर, उसके उत्तरोत्तर क्षणमें कर्ता-कर्म-क्रियाका विभाग क्षयको प्राप्त होता जाता है इसलिये निष्क्रिय चिन्मात्र भावको प्राप्त होता है;

---

[1] अन्वयव्यतिरेक=एक दूसरेमें नहीं प्रवर्तते ऐसे जो अन्वयके व्यतिरेक।

[2] विशेषण गुण है और विशेष्य वो द्रव्य है।

[3] अंतर्धान=अदृश्य होजाना।

[4] अंतर्हित=गुप्त; अदृश्य।

[5] हारको खरीदनेवाला मनुष्य हारको खरीदते समय हार, उसकी सफेदी और उसके मोतियों इत्यादिकी परीक्षा करता है, किन्तु बादमें सफेदी और मोतियोंको हारमें ही समाविष्ट करके उनका लक्ष छोड़कर वह मात्र हारको ही जानता है। यदि ऐसा न करे तो हारके पहिनने पर भी उसकी सफेदी आदिके विकल्प बने रहनेसे हारको पहननेके सुखका वेदन नहीं कर सकेगा।

प्रलम्बे प्रालम्बे चिद्विवर्तांश्चेतन एव संक्षिप्य विशेषणविशेष्यत्ववासनान्तर्धानाद्धवलिमानमिव प्रालम्बे चेतन एव चैतन्यमन्तर्हितं विधाय केवलं प्रालम्बमिव केवलमात्मानं परिच्छिन्दतस्तदुत्तरोत्तरक्षणक्षीयमाणकर्तृकर्मक्रियाविभागतया निष्क्रियं चिन्मात्रं भावमधिगतस्य जातस्य मणेरिवाकम्पप्रवृत्तनिर्मलालोकस्यावश्यमेव निराश्रयतया मोहतमः प्रलीयते। यद्येवं लब्धो मया मोहवाहिनीविजयोपायः ॥ ८० ॥

अथैवं प्राप्तचिन्तामणेरपि मे प्रमादो दस्युरिति जागर्ति –

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥ ८१ ॥

जीवो व्यपगतमोह उपलब्धवांस्तत्त्वमात्मनः सम्यक् ।
जहाति यदि रागद्वेषौ स आत्मानं लभते शुद्धम् ॥ ८१ ॥

एवमुपवर्णितस्वरूपेणोपायेन मोहमपसार्यापि सम्यगात्मतत्त्वमुपलभ्यापि यदि नाम रागद्वेषौ निर्मूलयति तदा शुद्धमात्मानमनुभवति । यदि पुनः पुनरपि तानुवर्तते तदा

चारित्रमोहसंज्ञश्चौरोऽस्तीति मत्वाऽऽप्ताराधनायां सावधानो भूत्वा शुद्धात्मचिन्तामणेः रक्षणार्थं जागर्तीति कथयति – जीवो जीवः कर्ता । किंविशिष्टः । ववगदमोहो शुद्धात्मतत्त्वरुचिप्रतिबन्धकविनाशितदर्शनमोहः । पुनरपि किंविशिष्टः । उवलद्धो उपलब्धवान् ज्ञातवान् । किम् । तच्चं परमानन्दैकस्वभावात्मतत्त्वम् । कस्य संबन्धि । अप्पणो निजशुद्धात्मनः । कथम् । सम्मं सम्यक् संशयादिरहितत्वेन जहदि जदि रागदोसे शुद्धात्मानुभूतिलक्षणवीतरागचारित्रप्रतिबन्धकौ चारित्रमोहसंज्ञौ रागद्वेषौ यदि त्यजति सो अप्पाणं लहदि सुद्धं स एवमभेदरत्नत्रयपरिणतो जीवः शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मानं लभते

अब, इसप्रकार मैंने चिंतामणि-रत्न प्राप्त कर लिया है तथापि प्रमाद चोर विद्यमान है, ऐसा विचार कर जागृत रहता है :–

गाथा ८१

अन्वयार्थ :– [**व्यपगतमोहः**] जिसने मोहको दूर किया है और [**सम्यक् आत्मनः तत्त्वं**] आत्माके सम्यक् तत्वको (-सच्चे स्वरूपको) [**उपलब्धवान्**] प्राप्त किया है ऐसा [**जीवः**] जीव [**यदि**] यदि [**रागद्वेषौ**] रागद्वेषको [**जहाति**] छोड़ता है, [**सः**] तो वह [**शुद्धं आत्मानं**] शुद्ध आत्माको [**लभते**] प्राप्त करता है ।

टीका :– इसप्रकार जिस उपायका स्वरूप वर्णन किया है, उस उपायके द्वारा मोहको दूर करके भी सम्यक् आत्मतत्वको (यथार्थ स्वरूपको) प्राप्त करके भी यदि जीव रागद्वेषको निर्मूल करता है, तो शुद्ध आत्माका अनुभव करता है । (किन्तु) यदि पुनः-पुनः उनका अनुसरण करता है, – रागद्वेषरूप परिणमन करता है, तो प्रमादके अधीन होनेसे शुद्धात्मतत्वके अनुभवरूप चिंतामणि-रत्नके चुराये जानेसे अन्तरंगमें खेदको प्राप्त होता है । इसलिये मुझे रागद्वेषको दूर करनेके लिये अत्यन्त जागृत रहना चाहिये ।

भावार्थ :– ८० वीं गाथामें बताये गये उपायसे दर्शनमोहको दूर करके, अर्थात् सम्यक्दर्शन प्राप्त करके जो जीव शुद्धात्मानुभूतिस्वरूप वीतरागचारित्रके प्रतिबन्धक राग-

---

जीव मोहने करी दूर, आत्मस्वरूप सम्यक् पामीने ।
जो रागद्वेष परिहरे तो पामतो शुद्धात्मने ॥ ८१ ॥

प्रमादतन्त्रतया लुण्ठितशुद्धात्मतत्त्वोपलम्भचिन्तारत्नोऽन्तस्ताम्यति । अतो मया रागद्वेष-निषेधायात्यन्तं जागरितव्यम् ॥ ८१ ॥

अथायमेवैको भगवद्भिः स्वयमनुभूयोपदर्शितो निःश्रेयसस्य पारमार्थिकः पन्था इति मतिं व्यवस्थापयति –

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा ।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥ ८२ ॥

सर्वेऽपि चार्हन्तस्तेन विधानेन क्षपितकर्मांशाः ।
कृत्वा तथोपदेशं निर्वृतास्ते नमस्तेभ्यः ॥ ८२ ॥

यतः खल्वतीतकालानुभूतक्रमप्रवृत्तयः समस्ता अपि भगवन्तस्तीर्थकराः, प्रकारान्तरस्यासंभवादसंभावितद्वैतेनामुनैवैकेन प्रकारेण क्षपणं कर्मांशानां स्वयमनुभूय, परमाप्ततया

इत्युपदेशं कृत्वा **णिव्वादा** निर्वृता अक्षयानन्तसुखेन तृप्ता जाताः, ते ते भगवन्तः । **णमो तेसिं** एवं मोक्षमार्गनिश्चयं कृत्वा श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवास्तस्मै निजशुद्धात्मानुभूतिस्वरूपमोक्षमार्गाय तदुपदेशकेभ्योऽर्हद्भ्यश्च तदुभयस्वरूपाभिलाषिणः सन्तो 'नमोस्तु तेभ्य' इत्यनेन पदेन नमस्कारं कुर्वन्तीत्यभिप्रायः ।। ८२ ।। अथ रत्नत्रयाराधका एव पुरुषा दानपूजागुणप्रशंसानमस्काराहा भवन्ति नान्या इति कथयति –

दंसणसुद्धा पुरिसा णाणपहाणा समग्गचरियत्था ।
पूजासक्कारारिहा दाणस्स य हि ते णमो तेसिं ।। *७ ।।

दंसणसुद्धा निजशुद्धात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वसाधकेन मूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलरहितेन तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणेन दर्शनेन शुद्धा दर्शनशुद्धाः । **पुरिसा** पुरुषा जीवाः । पुनरपि कथंभूताः । **णाणपहाणा** निरुपरागस्वसंवेदनज्ञानसाधकेन वीतरागसर्वज्ञप्रणीतपरमागमाभ्यासलक्षणज्ञानेन प्रधानाः समर्थाः प्रौढा ज्ञानप्रधानाः । पुनश्च कथंभूताः । **समग्गचरियत्था** निर्विकारनिश्चलात्मानुभूतिलक्षणनिश्चयचारित्रसाधकेनाचारादिशास्त्रकथितमूलोत्तरगुणानुष्ठानादिरूपेण चारित्रेण समग्राः परिपूर्णाः समग्रचारित्रस्थाः **पूजासक्कारारिहा** द्रव्यभावलक्षणपूजा गुणप्रशंसा सत्कारस्तयोरर्हा योग्या भवन्ति । **दाणस्स य हि** दानस्य च हि स्फुटं ते ते पूर्वोक्तरत्नत्रयाधाराः । **णमो तेसिं** नमस्तेभ्य इति नमस्कारस्यापि त एव योग्याः ।। *७ ।। एवमाप्तात्मस्वरूपविषये मूढत्वनिरासार्थं गाथासप्तकेन द्वितीयज्ञानकण्डिका गता । अथ शुद्धात्मोपलम्भप्रतिपक्षभूतमोहस्य स्वरूपं भेदांश्च प्रतिपादयति –

गाथा ८२

अन्वयार्थ :– [**सर्वे अपि च**] सभी [**अर्हन्तः**] अरहन्त भगवान [**तेन विधानेन**] उसी विधिसे [**क्षपितकर्मांशाः**] कर्मांशोंका क्षय करके [**तथा**] तथा उसीप्रकारसे [**उपदेशं कृत्वा**] उपदेश करके [**निर्वृताः ते**] मोक्षको प्राप्त हुए हैं [**नमः तेभ्यः**] उन्हें नमस्कार हो ।

टीका :– अतीत कालमें क्रमशः हुए समस्त तीर्थंकर भगवान, [1]प्रकारान्तरका असंभव होनेसे जिसमें द्वैत संभव नहीं है, ऐसे इसी एकप्रकारसे कर्मांशों (ज्ञानावरणादि कर्म भेदों) का क्षय स्वयं अनुभव करके (तथा) [2]परमाप्तताके कारण

---

[1] प्रकारान्तर=अन्य प्रकार (कर्मक्षय एक ही प्रकारसे होता है, अन्य-प्रकारसे नहीं होता, इसलिये उस कर्मक्षयके प्रकारमें द्वैत अर्थात् दो-रूपता नहीं है) ।

[2] परमाप्त=परम आप्त; परम विश्वासपात्र (तीर्थंकर भगवान सर्वज्ञ और वीतराग होनेसे परम आप्त हैं, यथार्थ उपदेष्टा हैं)

परेषामप्यायत्यामिदानींत्वे वा मुमुक्षूणां तथैव तदुपदिश्य निःश्रेयसमध्याश्रिताः, ततो नान्यद्वर्त्म निर्वाणस्येत्यवधार्यते। अलमथवा प्रलपितेन। व्यवस्थिता मतिर्मम। नमो भगवद्भ्यः॥ ८२॥

अथ शुद्धात्मलाभपरिपन्थिनो मोहस्य स्वभावं भूमिकाश्च विभावयति –

दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहो त्ति।
खुब्भदि तेणुच्छण्णो पप्पा रागं व दोसं वा॥ ८३॥

द्रव्यादिकेषु मूढो भावो जीवस्य भवति मोह इति।
क्षुभ्यति तेनावच्छन्नः प्राप्य रागं वा द्वेषं वा॥ ८३॥

यो हि द्रव्यगुणपर्यायेषु पूर्वमुपवर्णितेषु पीतोन्मत्तकस्येव जीवस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणो मूढो भावः स खलु मोहः । तेनावच्छन्नात्मरूपः सन्नयमात्मा परद्रव्यमात्मद्रव्यत्वेन परगुणमात्मगुणतया परपर्यायानात्मपर्यायभावेन प्रतिपद्यमानः प्ररूढदृढतरसंस्कारतया परद्रव्यमेवाहरहरुपाददानो, दग्धेन्द्रियाणां रुचिवशेनाद्वैतेऽपि प्रवर्तितद्वैतो रुचितारुचितेषु विषयेषु रागद्वेषावुपश्लिष्य, प्रचुरतराम्भोभाररयाहतः सेतुबन्ध इव द्वेधा विदार्यमाणो नितरां क्षोभमुपैति । अतो मोहरागद्वेषभेदात्त्रिभूमिको मोहः ॥ ८३ ॥

वच्छन्नो झम्पितः सन्नक्षुभितात्मतत्त्वविपरीतेन क्षोभेण क्षोभं स्वरूपचलनं विपर्ययं गच्छति । किं कृत्वा । प्राप्य रागं च दोषं वा निर्विकारशुद्धात्मनो विपरीतमिष्टानिष्टेन्द्रियविषयेषु हर्षविषादरूपं चारित्रमोहसंज्ञं रागद्वेषं वा प्राप्य चेति । अनेन किमुक्तं भवति । मोहो दर्शनमोहो रागद्वेषद्वयं चारित्रमोहश्चेति त्रिभूमिको मोह इति ॥ ८३ ॥ अथ दुःखहेतुभूतबन्धस्य कारणभूता रागद्वेषमोहा

गाथा ८३

अन्वयार्थ :– **[जीवस्य]** जीवके **[द्रव्यादिकेषु मूढः भावः]** द्रव्यादि सम्बन्धी मूढ़ भाव (-द्रव्यगुणपर्यायसम्बन्धी जो मूढ़तारूप परिणाम) **[मोहः इति भवति]** वह मोह है **[तेन अवच्छन्नः]** उससे आच्छादित वर्तता हुआ जीव **[रागं वा द्वेषं वा प्राप्य]** राग अथवा द्वेषको प्राप्त करके **[क्षुभ्यति]** क्षुब्ध होता है ।

टीका :– धतूरा खाये हुए मनुष्यकी भाँति, जीवके जो पूर्व वर्णित द्रव्य-गुण-पर्याय हैं उनमें होनेवाला [1]तत्व-अप्रतिपत्तिलक्षण मूढ़ भाव वह वास्तवमें मोह है। उस मोहसे निजरूप आच्छादित होनेसे यह आत्मा परद्रव्यको स्वद्रव्यरूपसे, परगुणको स्वगुणरूपसे, और परपर्यायोंको स्वपर्यायरूप समझकर – अंगीकार करके, अति रूढ़ – दृढ़तर संस्कारके कारण परद्रव्यको ही सदा ग्रहण करता हुआ, [2]दग्ध इन्द्रियोंकी रुचिके वशसे [3]अद्वैतमें भी द्वैत प्रवृत्ति करता हुआ, रुचिकर-अरुचिकर विषयोंमें रागद्वेष करके अति प्रचुर जलसमूहके वेगसे प्रहारको प्राप्त सेतुबन्ध (पुल) की भाँति दो भागोंमें

---

[1] तत्व अप्रतिपत्तिलक्षण=तत्वकी अप्रतिपत्ति (-अप्राप्ति, अज्ञान, अनिर्णय) जिसका लक्षण है ऐसा।

[2] दग्ध=जली हुई; हल्की; शापित । ('दग्ध' तिरस्कारवाचक शब्द है)

[3] इन्द्रियविषयोंमें – पदार्थोंमें 'यह अच्छे हैं और यह बुरे' इसप्रकारका द्वैत नहीं है; तथापि वहाँ भी मोहाच्छादित जीव अच्छे – बुरेका द्वैत उत्पन्न कर लेते हैं ।

अथानिष्टकार्यकारणत्वमभिधाय त्रिभूमिकस्यापि मोहस्य क्षयमासूत्रयति —

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स ।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा ॥ ८४ ॥

मोहेन वा रागेण वा द्वेषेण वा परिणतस्य जीवस्य ।
जायते विविधो बन्धस्तस्मात्ते संक्षपयितव्याः ॥ ८४ ॥

एवमस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिनिमीलितस्य, मोहेन वा रागेण वा द्वेषेण वा परिणतस्य, तृणपटलावच्छन्नगर्तसंगतस्य करेणुकुट्टनीगात्रासक्तस्य प्रतिद्विरददर्शनोद्धतप्रविधावितस्य च सिन्धुरस्येव, भवति नाम नानाविधो बन्धः । ततोऽमी अनिष्टकार्यकारिणो मुमुक्षुणा मोहरागद्वेषाः सम्यग्निर्मूलकाषं कषित्वा क्षपणीयाः ॥ ८४ ॥

अथामी अमीभिर्लिङ्गैरुपलभ्योद्भवन्त एव निशुम्भनीया इति विभावयति –

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु ।
विसएसु य प्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ॥ ८५ ॥

सर्वप्रकारोपादेयभूतस्वाभाविकसुखविपरीतस्य नारकादिदुःखस्य कारणभूतो विविधबन्धो जायते । तम्हा ते संखवइदव्वा यतो रागद्वेषमोहपरिणतस्य जीवस्येत्थंभूतो बन्धो भवति ततो रागादिरहित-शुद्धात्मध्यानेन ते रागद्वेषमोहा सम्यक् क्षपयितव्या इति तात्पर्यम् ॥ ८४ ॥ अथ स्वकीयस्वकीयलिङ्गैः रागद्वेषमोहान् ज्ञात्वा यथासंभवं त एव विनाशयितव्या इत्युपदिशति – **अट्ठे अजधागहणं** शुद्धात्मा-दिपदार्थे यथास्वरूपस्थितेऽपि विपरीताभिनिवेशरूपेणायथाग्रहणं **करुणाभावो य** शुद्धात्मोपलब्धिलक्ष-णपरमोपेक्षासंयमाद्विपरीतः करुणाभावो दयापरिणामश्च अथवा व्यवहारेण करुणाया अभावः ।

भावार्थ :– (१) हाथीको पकड़नेके लिये धरतीमें खड्डा बनाकर उसे घाससे ढक दिया जाता है, वहाँ खड्डा होनेके अज्ञानके कारण उस खड्डे पर जानेसे हाथी गिर पड़ता है और वह इसप्रकार पकड़ा जाता है । (२) हाथीको पकड़नेके लिये सिखाई हुई हथिनी भेजी जाती है; उसके शारीरिक रागमें फँसनेसे हाथी पकड़ा जाता है (३) हाथी पकड़नेकी तीसरी रीति यह है कि उस हाथीके सामने दूसरा पालित हाथी भेजा जाता है; उसके पीछे वह हाथी उत्तेजित होकर लड़नेके लिये दौड़ता है और इसप्रकार वह पकड़नेवालोंके जालमें फँस जाता है ।

उपर्युक्त प्रकारसे जैसे हाथी (१) अज्ञानसे, (२) रागसे या (३) द्वेषसे अनेक प्रकारके बन्धनको प्राप्त होता है उसीप्रकार जीव (१) मोहसे, (२) रागसे या (३) द्वेषसे अनेक प्रकारके बन्धनको प्राप्त होता है, इसलिये मोक्षार्थीको मोह-राग-द्वेषका भलीभाँति-सम्पूर्णतया मूलसे ही क्षय कर देना चाहिये ॥ ८४ ॥

अर्थो तणुं अयथाग्रहण, करुणा मनुजतिर्यचमां ।
विषयो तणो वणी संग, – लिंगो जाणवां आ मोहनां ॥ ८५ ॥

अर्थे अयथाग्रहणं करुणाभावश्च तिर्यङ्मनुजेषु ।
विषयेषु च प्रसङ्गो मोहस्यैतानि लिङ्गानि ॥ ८५ ॥

अर्थानामयथातथ्यप्रतिपत्त्या तिर्यङ्मनुष्येषु प्रेक्षार्हेष्वपि कारुण्यबुद्ध्या च मोहम-भीष्टविषयप्रसंगेन रागमनभीष्टविषयाप्रीत्या द्वेषमिति त्रिभिर्लिङ्गैरधिगम्य झगिति संभवन्नपि त्रिभूमिकोऽपि मोहो निहन्तव्यः ॥ ८५ ॥

परिज्ञानाभावे मोहो भवतीति यदुक्तं पूर्वं तदर्थमागमाभ्यासं कारयति । अथवा द्रव्यगुणपर्यायत्वैरर्हत्परिज्ञानादात्मपरिज्ञानं भवतीति यदुक्तं तदात्मपरिज्ञानमिममागमाभ्यासमपेक्षत इति पातनिकाद्वयं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति — जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा जिनशास्त्रात्सकाशाच्छुद्धात्मादिपदार्थान् प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्बुध्यमानस्य जानतो जीवस्य नियमान्निश्चयात् । किं फलं भवति । खीयदि मोहोवचयो दुरभिनिवेशसंस्कारकारी मोहोपचयः क्षीयते प्रलीयते

वे दर्शनमोहके चिह्न हैं, इष्ट विषयोंमें प्रीति रागका चिह्न है और अनिष्ट विषयोंमें अप्रीति द्वेषका चिह्न है । इन चिह्नोंसे तीनों प्रकारके मोहको पहिचानकर मुमुक्षुओंको उसे तत्काल ही नष्ट कर देना चाहिये ।। ८५ ।।

अब मोहक्षय करनेका उपायान्तर (दूसरा उपाय) विचारते हैं :—

गाथा ८६

अन्वयार्थ :— [**जिनशास्त्रात्**] जिनशास्त्र द्वारा [**प्रत्यक्षादिभिः**] प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे [**अर्थान्**] पदार्थोंको [**बुध्यमानस्य**] जाननेवालेके [**नियमात्**] नियमसे [**मोहोपचयः**] [1]मोहोपचय [**क्षीयते**] क्षय हो जाता है [**तस्मात्**] इसलिये [**शास्त्रं**] शास्त्रका [**समध्येतव्यम्**] सम्यक् प्रकारसे अध्ययन करना चाहिये ।

टीका :— द्रव्य-गुण-पर्यायस्वभावसे अरहंतके ज्ञान द्वारा आत्माका उस प्रकारका ज्ञान मोहक्षयके उपायके रूपमें पहले (८० वीं गाथामें) प्रतिपादित किया गया था, वह वास्तवमें इस (निम्नलिखित) उपायान्तरकी अपेक्षा रखता है । (वह उपायान्तर क्या है सो कहा जाता है:—)

[1] मोहोपचय=मोहका उपचय । (उपचय=संचय; समूह)

शास्त्रो वडे प्रत्यक्ष आदिथी जाणतो जे अर्थ ने ।
तसु मोह पामे नाश निश्चय; शास्त्र समध्ययनीय छे ।। ८६ ।।

यत्किल द्रव्यगुणपर्यायस्वभावेनार्हतो ज्ञानादात्मनस्तथाज्ञानं मोहक्षपणोपायत्वेन प्राक् प्रतिपन्नम्, तत् खलूपायान्तरमिदमपेक्षते। इदं हि विहितप्रथमभूमिकासंक्रमणस्य सर्वज्ञोपज्ञतया सर्वतोऽप्यबाधितं शाब्दं प्रमाणमाक्रम्य क्रीडतस्तत्संस्कारस्फुटीकृतविशिष्टसंवेदनशक्तिसंपदः सहृदयहृदयानन्दोद्भेददायिना प्रत्यक्षेणान्येन वा तदविरोधिना प्रमाणजातेन तत्त्वतः समस्तमपि वस्तुजातं परिच्छिन्दतः क्षीयत एवातत्त्वाभिनिवेशसंस्कारकारी मोहोपचयः। अतो हि मोहक्षपणे परमं शब्दब्रह्मोपासनं भावज्ञानावष्टम्भदृढीकृतपरिणामेन सम्यगधीयमानमुपायान्तरम् ॥ ८६ ॥

अथ कथं जैनेन्द्रे शब्दब्रह्मणि किलार्थानां व्यवस्थितिरिति वितर्कयति –

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया ।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्व त्ति उवदेसो ।। ८७ ।।

पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया द्रव्याणि गुणास्तेषां द्रव्याणां पर्यायाश्च त्रयोऽप्यर्थसंज्ञया भणिताः कथिता अर्थसंज्ञा भवन्तीत्यर्थः । **तेसु** तेषु त्रिषु द्रव्यगुणपर्यायेषु मध्ये **गुणपज्जयाणं अप्पा** गुणपर्यायाणां संबंधी आत्मा स्वभावः । कः इति पृष्टे । **दव्व त्ति उवदेसो** द्रव्यमेव स्वभाव इत्युपदेशः, अथवा द्रव्यस्य कः स्वभाव इति पृष्टे गुणपर्यायाणामात्मा एव स्वभाव इति । अथ विस्तरः– अनन्तज्ञान-सुखादिगुणान् तथैवामूर्तत्वातीन्द्रियत्वसिद्धत्वादिपर्यायांश्च इयर्ति गच्छति परिणमत्याश्रयति येन कारणेन तस्मादर्थो भण्यते । किम् । शुद्धात्मद्रव्यम् । तच्छुद्धात्मद्रव्यमाधारभूतमियृति गच्छन्ति

अब, जिनेन्द्रके शब्द ब्रह्ममें अर्थोंकी व्यवस्था (-पदार्थोंकी स्थिति) किस प्रकार है सो विचार करते हैं :–

गाथा ८७

अन्वयार्थ :– [**द्रव्याणि**] द्रव्य, [**गुणाः**] गुण [**तेषां पर्यायाः**] और उनकी पर्यायें [**अर्थसंज्ञया**] 'अर्थ' नामसे [**भणिताः**] कही गई हैं । [**तेषु**] उनमें, [**गुणपर्यायाणाम् आत्मा द्रव्यम्**] गुण-पर्यायोंका आत्मा द्रव्य है (गुण और पर्यायोंका स्वरूप-सत्व द्रव्य ही है, वे भिन्न वस्तु नहीं हैं) [**इति उपदेशः**] इसप्रकार (जिनेन्द्रका) उपदेश है ।

टीका :– द्रव्य, गुण और पर्यायोंमें अभिधेयभेद होने पर भी अभिधानका अभेद होनेसे वे 'अर्थ' हैं [अर्थात् द्रव्यों, गुणों और पर्यायोंमें वाच्यका भेद होनेपर भी वाचकमें भेद न देखें तो 'अर्थ' ऐसे एक ही वाचक (-शब्द) से ये तीनों पहिचाने जाते हैं] । उसमें (इन द्रव्यों, गुणों और पर्यायोंमेंसे), जो गुणोंको और पर्यायोंको प्राप्त करते हैं – पहुँचते हैं अथवा जो गुणों और पर्यायोंके द्वारा प्राप्त किये जाते हैं – पहुँचे जाते हैं ऐसे [1]'अर्थ' वे द्रव्य हैं, जो द्रव्योंको आश्रयके रूपमें प्राप्त करते हैं – पहुँचते हैं – अथवा जो आश्रयभूत द्रव्योंके द्वारा प्राप्त किये जाते हैं – पहुँचे जाते हैं ऐसे 'अर्थ' वे गुण हैं, जो

---

[1] 'ऋ' धातुमेंसे 'अर्थ' शब्द बना है । 'ऋ' अर्थात् पाना, प्राप्त करना, पहुँचना, जाना । 'अर्थ' अर्थात् (१) जो पावे – प्राप्त करे – पहुँचे, अथवा (२) जिसे पाया जाये – प्राप्त किया जाये – पहुँचा जाये ।

द्रव्यो, गुणो ने पर्ययो सौ 'अर्थ' संज्ञा थी कह्यां ।
गुण-पर्ययोनो आतमा छे द्रव्य जिन-उपदेशमां ।। ८७ ।।

द्रव्याणि गुणास्तेषां पर्याया अर्थसंज्ञया भणिताः ।
तेषु गुणपर्यायाणामात्मा द्रव्यमित्युपदेशः ॥ ८७ ॥

द्रव्याणि च गुणाश्च पर्यायाश्च अभिधेयभेदेऽप्यभिधानाभेदेन अर्थाः । तत्र गुणपर्यायानियूति गुणपर्यायैरर्यन्त इति वा अर्था द्रव्याणि, द्रव्याण्याश्रयत्वेनेयूति द्रव्यैराश्रयभूतैरर्यन्त इति वा अर्था गुणाः, द्रव्याणि क्रमपरिणामेनेयूति द्रव्यैः क्रमपरिणामेनार्यन्त इति

वा अर्थाः पर्यायाः । यथा हि सुवर्णं पीततादीन् गुणान् कुण्डलादींश्च पर्यायानियर्ति तैरर्यमाणं वा अर्थो द्रव्यस्थानीयं, यथा च सुवर्णमाश्रयत्वेनेयृतितेनाश्रयभूतेनार्यमाणा वा अर्थाः पीततादयो गुणाः, यथा च सुवर्णं क्रमपरिणामेनेयृति तेन क्रमपरिणामेनार्यमाणा वा अर्थाः कुण्डलादयः पर्यायाः । एवमन्यत्रापि । यथा चैतेपु सुवर्णपीततादिगुणकुण्डलादिपर्यायेपु पीततादिगुणकुण्डलादिपर्यायाणां सुवर्णादपृथग्भावात्सुवर्णमेवात्मा तथा च तेपु द्रव्यगुणपर्यायेषु गुणपर्यायाणां द्रव्यादपृथग्भावाद्द्रव्यमेवात्मा ॥ ८७ ॥

अथैवं मोहक्षपणोपायभूतजिनेश्वरोपदेशलाभेऽपि पुरुपकारोऽर्थक्रियाकारीति पौरुपं व्यापारयति –

द्रव्यस्य कः स्वभाव इति पृष्टे पूर्वोक्तगुणपर्याया एव । एवं शेपद्रव्यगुणपर्यायाणामप्यर्थसंज्ञा वोद्धव्येत्यर्थः ॥ ८७ ॥ अथ दुर्लभजैनोपदेशं लब्ध्वापि य एव मोहरागद्वेपान्निहन्ति स एवाशेप-

---

और जैसे इन सुवर्ण, पीलापन इत्यादि गुण और कुण्डल इत्यादि पर्यायोंमें (-इन तीनोंमें, पीलापन इत्यादि गुणोंका और कुण्डल इत्यादि पर्यायोंका) सुवर्णसे अपृथक्त्व होनेसे उनका (-पीलापन इत्यादि गुणोंका और कुण्डल इत्यादि पर्यायोंका) सुवर्ण ही आत्मा है, उसीप्रकार उन द्रव्य गुण पर्यायोंमें गुण – पर्यायोंका द्रव्यसे अपृथक्त्व होनेसे उनका द्रव्य ही आत्मा है (अर्थात् द्रव्य ही गुण और पर्यायोंका आत्मा-स्वरूप-सर्वस्व-सत्व है) ।

भावार्थ :– ८६ वीं गाथामें कहा है कि जिनशास्त्रोंका सम्यक् अभ्यास मोहक्षयका उपाय है । यहाँ सँक्षेपमें यह बताया है कि उन जिनशास्त्रोंमें पदार्थोंकी व्यवस्था किसप्रकार कही गई है । जिनेन्द्रदेवने कहा है कि – अर्थ (पदार्थ) अर्थात् द्रव्य, गुण, और पर्याय । इसके अतिरिक्त विश्व में दूसरा कुछ नहीं है, और इन तीनोंमें गुण और पर्यायोंका आत्मा (-उसका सर्वस्व) द्रव्य ही है । ऐसा होनेसे किसी द्रव्यके गुण और पर्याय अन्य द्रव्यके गुण और पर्यायरूप किंचित् मात्र नहीं होते, समस्त द्रव्य अपने-अपने गुण और पर्यायोंमें रहते हैं । – ऐसी पदार्थोंकी स्थिति मोहक्षयके निमित्तभूत पवित्र जिनशास्त्रोंमें कही है ॥ ८७ ॥

अव इसप्रकार मोहक्षयके उपायभूत जिनेश्वरके उपदेशकी प्राप्ति होनेपर भी पुरुपार्थ [१]अर्थक्रियाकारी है इसलिये पुरुषार्थ करता है :–

[१] अर्थक्रियाकारी=प्रयोजनभूत क्रियाका (सर्वदुःखपरिमोक्षका) करनेवाला ।

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥ ८८ ॥

यो मोहरागद्वेषान्निहन्ति उपलभ्य जैनमुपदेशम् ।
स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥ ८८ ॥

इह हि द्राघीयसि सदाजवंजवपथे कथमप्यमुं समुपलभ्यापि जैनेश्वरं निशिततरवारिधारापथस्थानीयमुपदेशं य एव मोहरागद्वेषाणामुपरि दृढतरं निपातयति स एव निखिलदुःखपरिमोक्षं क्षिप्रमेवाप्नोति, नापरो व्यापारः करवालपाणिरिव । अत एव सर्वारम्भेण मोहक्षपणाय पुरुषकारे निषीदामि ॥ ८८ ॥

[illegible]

अथ स्वपरविवेकसिद्धेरेव मोहक्षपणं भवतीति स्वपरविभागसिद्धये प्रयतते –

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं ।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि ॥ ८९ ॥

ज्ञानात्मकमात्मानं परं च द्रव्यत्वेनाभिसंबद्धम् ।
जानाति यदि निश्चयतो यः स मोहक्षयं करोति ॥ ८९ ॥

त्पर्यः ॥ ८८ ॥ एवं द्रव्यगुणपर्यायविपये मूढत्वनिराकरणार्थं गाथाषट्केन तृतीयज्ञानकण्डिका गता । अथ स्वपरात्मनोर्भेदज्ञानात् मोहक्षयो भवतीति प्रज्ञापयति – **णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं**

पर अतिदृढ़ता पूर्वक उसका प्रहार करता है वही सर्व दुःखोंसे मुक्त होता है अन्यथा नहीं) इसीलिये सम्पूर्ण आरम्भसे (प्रयत्नपूर्वक) मोहका क्षय करनेके लिये मैं पुरुषार्थका आश्रय ग्रहण करता हूँ ॥ ८८ ॥

अब, स्व-परके विवेककी (-भेदज्ञानकी) सिद्धिसे ही मोहका क्षय हो सकता है, इसलिये स्व-परके विभागकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करते हैं :–

गाथा ८९

अन्वयार्थ :– [यः] जो [निश्चयतः] निश्चयसे [ज्ञानात्मकं आत्मानं] ज्ञानात्मक ऐसे अपनेको [च] और [परं] परको [द्रव्यत्वेन अभिसंबद्धम्] निज निज द्रव्यत्वसे संबद्ध (-संयुक्त) [यदि जानाति] जानता है, [सः] वह [मोह क्षयं करोति] मोहका क्षय करता है ।

टीका :– जो निश्चयसे अपनेको स्वकीय (अपने) चैतन्यात्मक द्रव्यत्वसे संबद्ध (-संयुक्त) और परको परकीय (दूसरेके) ¹यथोचित द्रव्यत्वसे संबद्ध ही जानता है, वही (जीव), जिसने कि सम्यक्‌रूपसे स्व-परके विवेकको प्राप्त किया है, सम्पूर्ण मोहका क्षय करता है । इसलिये मैं स्व-परके विवेकके लिये प्रयत्नशील हूँ ॥ ८९ ॥

¹ यथोचित=यथायोग्य – चेतन या अचेतन (पुद्गलादि द्रव्य परकीय अचेतन द्रव्यत्वसे और अन्य आत्मा परकीय चेतन द्रव्यत्वसे संयुक्त है)

जे ज्ञानरूप निज आत्मने, परने वळी निश्चय वडे ।
द्रव्यत्वथी संबद्ध जाणे, मोहनो क्षय ते करे ॥ ८९ ॥

य एव स्वकीयेन चैतन्यात्मकेन द्रव्यत्वेनाभिसंबद्धमात्मानं परं च परकीयेन यथोचितेन द्रव्यत्वेनाभिसंबद्धमेव निश्चयतः परिच्छिनत्ति, स एव सम्यगवाप्तस्वपरविवेकः सकलं मोहं क्षपयति । अतः स्वपरविवेकाय प्रयतोऽस्मि ॥ ८९ ॥

अथ सर्वथा स्वपरविवेकसिद्धिरागमतो विधातव्येत्युपसंहरति —

तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु ।
अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा ॥ ९० ॥

तस्माज्जिनमार्गाद्गुणैरात्मानं परं च द्रव्येषु ।
अभिगच्छतु निर्मोहमिच्छति यद्यात्मन आत्मा ॥ ९० ॥

यो हि नामैतानि सादृश्यास्तित्वेन सामान्यमनुव्रजन्त्यपि स्वरूपास्तित्वेनाश्लिष्टविशेषाणि द्रव्याणि स्वपरावच्छेदेनापरिच्छिन्दन्नश्रद्दधानो वा एवमेव श्रामण्येनात्मानं दमयति स खलु न नाम श्रमणः । यतस्ततोऽपरिच्छिन्नरेणुकनककणिकाविशेषाद्धूलिधावकात्कनकलाभ इव निरुपरागात्मतत्त्वोपलम्भलक्षणो धर्मोपलम्भो न संभूतिमनुभवति ॥ ९१ ॥

श्रमणो न भवति, तस्माच्छुद्धोपयोगलक्षणधर्मोऽपि न संभवतीति निश्चिनोति – **सत्तासंबद्धे** महासत्तासंबन्धेन सहितान् **एदे** एतान् पूर्वोक्तशुद्धजीवादिपदार्थान् । पुनरपि किंविशिष्टान् । **सविसेसे** विशेषसत्तावान्तरसत्ता स्वकीयस्वकीयस्वरूपसत्ता तया सहितान् **जो हि णेव सामण्णे सद्दहदि** यः कर्ता द्रव्यश्रामण्ये स्थितोऽपि न श्रद्धत्ते हि स्फुटं **ण सो समणो** निजशुद्धात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वपूर्वकपरमसामायिकसंयमलक्षणश्रामण्याभावात्स श्रमणो न भवति । इत्थंभूतभावश्रामण्याभावात् **तत्तो धम्मो ण संभवदि** तस्मात्पूर्वोक्तद्रव्यश्रमणात्सकाशान्निरुपरागशुद्धात्मानुभूतिलक्षणधर्मोऽपि न संभवतीति सूत्रार्थः ॥ ९१ ॥ अथ 'उवसंपयामि सम्मं' इत्यादि नमस्कारगाथायां यत्प्रतिज्ञातं, तदनन्तरं

इसप्रकार जिसने स्व-परका विवेक निश्चित किया है ऐसे इस आत्माको विकारकारी मोहांकुरका प्रादुर्भाव नहीं होता ।

भावार्थ :– स्व-परके विवेकसे मोहका नाश किया जा सकता है । वह स्व-परका विवेक, जिनागमके द्वारा स्व-परके लक्षणोंको यथार्थतया जानकर किया जा सकता है ॥ ९० ॥

अब, न्यायपूर्वक ऐसा विचार करते हैं कि – जिनेन्द्रोक्त अर्थोंके श्रद्धान बिना धर्म लाभ (शुद्धात्मअनुभवरूप धर्मप्राप्ति) नहीं होता –

गाथा ९१

अन्वयार्थ :– [**यः हि**] जो (जीव) [**श्रामण्ये**] श्रमणावस्थामें [**एतान् सत्तासंबद्धान् सविशेषान्**] इन [1]सत्तासंयुक्त [2]सविशेष पदार्थोंकी [**न एव श्रद्दधाति**] श्रद्धा नहीं करता, [**सः**] वह [**श्रमणः न**] श्रमण नहीं है; [**ततः धर्मः न संभवति**] उससे धर्मका उद्भव नहीं होता (अर्थात् उस श्रमणाभासके धर्म नहीं होता ।)

---

[1] सत्तासंयुक्त=अस्तित्ववाले ।

[2] सविशेष=विशेषसहित; भेदवाले; भिन्न-भिन्न ।

तक्कालं तम्मयं ति पण्णत्तं, तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो' इति यदात्मनो धर्मत्वमासूत्रयितुमुपक्रान्तं, यत्प्रसिद्धये च 'धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपओगजुदो पावदि णिव्वाणसुहं' इति निर्वाणसुखसाधनशुद्धोपयोगोऽधिकर्तुमारब्धः, शुभाशुभोपयोगौ च विरोधिनौ निर्ध्वस्तौ, शुद्धोपयोगस्वरूपं चोपवर्णितं, तत्प्रसादजौ चात्मनो ज्ञानानन्दौ सहजौ समुद्योतयता संवेदनस्वरूपं सुखस्वरूपं च प्रपञ्चितम्, तदधुना कथं कथमपि शुद्धोपयोगप्रसादेन प्रसाध्य परमनिस्पृहामात्मतृप्तां पारमेश्वरीप्रवृत्तिमभ्युपगतः कृतकृत्यतामवाप्य नितान्तमनाकुलो भूत्वा प्रलीनभेदवासनोन्मेषः स्वयं साक्षाद्धर्म एवास्मीत्यवतिष्ठते –

श्रमणाद्धर्मोऽपि न भवति । नहि कथं श्रमणो भवति, इति पृष्टे प्रत्युत्तरं [illegible] आगामिकारगुप-

---

तक्कालं तम्मयं ति पण्णत्तं, तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो' इसप्रकार (८ वीं गाथामें) जो आत्माका धर्मत्व कहना प्रारम्भ किया और [1]जिसकी सिद्धिके लिये '[2]धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपओगजुदो, पावदि णिव्वाणसुहं' इसप्रकार (११ वीं गाथामें) निर्वाणसुखके साधनभूत शुद्धोपयोगका अधिकार प्रारम्भ किया, विरोधी शुभाशुभ उपयोगको नष्ट किया (-हेय बताया), शुद्धोपयोगका स्वरूप वर्णन किया, शुद्धोपयोगके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाले ऐसे आत्माके सहज ज्ञान और आनन्दको समझाते हुये ज्ञानके स्वरूपका और सुखके स्वरूपका विस्तार किया, उसे (-आत्माके धर्मत्वको) अब किसी भी प्रकार शुद्धोपयोगके प्रसादसे [3]सिद्ध करके, [4]परम निस्पृह, आत्मतृप्त (ऐसी) पारमेश्वरी प्रवृत्तिको प्राप्त होते हुये, कृतकृत्यताको प्राप्त करके अत्यन्त अनाकुल होकर, जिनके [5]भेदवासना की प्रगटताका प्रलय हुआ है, ऐसे होते हुये, (आचार्य भगवान) 'मैं स्वयं साक्षात् धर्म ही हूँ' इसप्रकार रहते हैं, (-ऐसे भावमें निश्चल स्थित होते हैं) :–

---

१ जिसकी सिद्धिके लिये=आत्मा को धर्मरूप बनवाने का जो कार्य साधना के लिए ।

२ अर्थ – धर्मपरिणत स्वरूपवाला आत्मा यदि शुद्ध उपयोगमें युक्त हो तो मोक्षके सुखको पाता है ।

३ सिद्ध करके=साधकर । (आत्माको धर्मरूप रचने का जो कार्य साधना था उस कार्य को, महापुरुषार्थ करके शुद्धोपयोग द्वारा आचार्य भगवान ने सिद्ध किया ।)।

४ परकी स्पृहासे रहित और आत्मामें ही तृप्त, निश्चयरत्नत्रयमें लीनतारूप प्रवृत्ति ।

५ भेदवासना=भेदरूप वृत्ति; विकल्प–परिणाम ।

शब्दब्रह्मणे। स्वस्ति तन्मूलायात्मतत्त्वोपलम्भाय च, यत्प्रसादादुद्ग्रन्थितो झगित्येवासंसारबद्धो मोहग्रन्थिः। स्वस्ति च परमवीतरागचारित्रात्मने शुद्धोपयोगाय, यत्प्रसादादयमात्मा स्वयमेव धर्मो भूतः ॥ ९२॥

❀ मन्दाक्रांता छन्द ❀

आत्मा धर्मः स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं
नित्यानन्दप्रसरसरसे ज्ञानतत्त्वे निलीय।

उद्यतः। पुनरपि कथंभूतः। महप्पा मोक्षलक्षणमहार्थसाधकत्वेन महात्मा धम्मो त्ति विसेसिदो समणो जीवितमरणलाभालाभादिसमताभावनापरिणतात्मा स श्रमण एवाभेदनयेन धर्म इति विशेषितो मोहक्षोभविहीनात्मपरिणामरूपो निश्चयधर्मो भणित इत्यर्थः ॥ ९२ ॥ अथैवंभूतनिश्चयरत्नत्रयपरिणतमहातपोधनस्य योऽसौ भक्तिं करोति तस्य फलं दर्शयति –

जो तं दिट्ठा तुट्ठो अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कारं।
वंदणणमंसणादिहिं तत्तो सो धम्ममादियदि ॥ ❀८ ॥

जो तं दिट्ठा तुट्ठो यो भव्यवरपुण्डरीको निरुपरागशुद्धात्मोपलम्भलक्षणनिश्चयधर्मपरिणतं पूर्वसूत्रोक्तं मुनीश्वरं दृष्ट्वा तुष्टो निर्भरगुणानुरागेण संतुष्टः सन्। किं करोति। **अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कारं** अभ्युत्थानं कृत्वा मोक्षसाधकसम्यक्त्वादिगुणानां सत्कारं प्रशंसां करोति **वंदणणमंसणादिहिं तत्तो सो धम्ममादियदि** 'तवसिद्धे णयसिद्धे' इत्यादि वन्दना भण्यते, नमोऽस्त्विति नमस्कारो भण्यते, तत्प्रभृतिभक्तिविशेषैः तस्माद्यतिवरात्स भव्यः पुण्यमादत्ते पुण्यं गृह्णाति इत्यर्थः ॥ ❀८ ॥ अथ तेन पुण्येन भवान्तरे किं फलं भवतीति प्रतिपादयति–

तेण णरा व तिरिच्छा देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा।
विहविस्सरियेहिं सया संपुण्णमणोरहा होंति ॥ ❀९ ॥

इसलिये वीतरागचारित्ररूपसे प्रगटताको प्राप्त (-वीतरागचारित्ररूप पर्यायमें परिणत) मेरा यह आत्मा स्वयं धर्म होकर, समस्त विघ्नोंका नाश हो जानेसे सदा निष्कंप ही रहता है। अधिक विस्तारसे बस होओ ! जयवंत वर्तो [1]स्याद्वादमुद्रित जैनेन्द्र शब्दब्रह्म; जयवंत वर्तो [2]शब्दब्रह्ममूलक आत्मतत्त्वोपलब्धि – कि जिसके प्रसादसे, अनादि संसारसे बंधी हुई मोहग्रंथि तत्काल ही छूट गई है; और जयवंत वर्तो परम वीतरागचारित्रस्वरूप शुद्धोपयोग कि जिसके प्रसादसे यह आत्मा स्वयमेव धर्म हुआ है ॥ ९२॥

[1] स्याद्वादमुद्रित जैनेन्द्र शब्दब्रह्म=स्याद्वादकी छापवाला जिनेन्द्रका द्रव्यश्रुत।
[2] शब्दब्रह्ममूलक=शब्दब्रह्म जिसका मूल कारण है।

इति प्रवचनसारवृत्तौ तत्त्वदीपिकायां श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां ज्ञानतत्त्व**प्रज्ञापनो नाम प्रथमः** श्रुतस्कन्धः समाप्तः ॥

इति **श्री जयसेनाचार्य**कृतायां तात्पर्यवृत्तौ पूर्वोक्तक्रमेण 'एस सुरासुरमणुसिंद' इतीमां गाथामादिं कृत्वा द्वासप्ततिगाथाभिः शुद्धोपयोगाधिकारः, तदनन्तरं 'देवदजदिगुरुपूजासु' इत्यादि पञ्चविंशतिगाथाभिर्ज्ञानकण्डिकाचतुष्टयाभिधानो द्वितीयोऽधिकारः, ततश्च 'सत्तासंबद्धेदे' इत्यादि सम्यक्त्वकथनरूपेण प्रथमा गाथा, रत्नत्रयाधारपुरुषस्य धर्मः संभवतीति 'जो णिहदमोहदिट्ठी' इत्यादि द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वयम्, तस्य निश्चयधर्मसंज्ञतपोधनस्य योऽसौ भक्तिं करोति तत्फलकथनेन 'जो तं दिट्ठा' इत्यादि गाथाद्वयम् । इत्यधिकारद्वयेन पृथग्भूतगाथाचतुष्टयसहितेनैकोत्तरशतगाथाभिर्ज्ञानतत्त्वप्रतिपादकनामा प्रथमो महाधिकारः समाप्तः ॥ १ ॥

इस प्रकार (श्रीमद्‌भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्रीप्रवचनसार शास्त्रकी श्रीमद्अमृतचंद्राचार्यदेवविरचित तत्त्वदीपिका नामक टीकामें ज्ञानतत्त्व – **प्रज्ञापन** नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ ।

इति प्रवचनसारवृत्तौ तत्त्वदीपिकायां **श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापनो** नाम प्रथमः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ।।

इति **श्री जयसेनाचार्य**कृतायां तात्पर्यवृत्तौ पूर्वोक्तप्रकारेण 'एस सुरासुरमणुसिंदवंदियं' इतीमां गाथामादिं कृत्वा द्वासप्ततिगाथाभिः शुद्धोपयोगाधिकारः, तदनन्तरं 'देवदजदिगुरुपूजासु' इत्यादि पञ्चविंशतिगाथाभिर्ज्ञानकण्डिकाचतुष्टयाभिधानो द्वितीयोऽधिकारः, ततश्च 'सत्तासंवद्धेदे' इत्यादि सम्यक्त्वकथनरूपेण प्रथमा गाथा, रत्नत्रयाधारपुरुषस्य धर्मः संभवतीति 'जो णिहदमोहदिट्ठी' इत्यादि द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वयम्, तस्य निश्चयधर्मसंज्ञतपोधनस्य योऽसौ भक्तिं करोति तत्फलकथनेन 'जो तं दिट्ठा' इत्यादि गाथाद्वयम् । इत्यधिकारद्वयेन पृथग्भूतगाथाचतुष्टयसहितेनैकोत्तरशतगाथाभिः ज्ञानतत्त्वप्रतिपादकनामा प्रथमो महाधिकारः समाप्तः ।। १ ।।

इस प्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्रीप्रवचनसार शास्त्रकी श्रीमद्अमृतचंद्राचार्यदेवविरचित तत्त्वदीपिका नामक टीकामें **ज्ञानतत्व – प्रज्ञापन** नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ ।

अथानुषङ्गिकीमिमामेव [illegible] उपसंहरति –

जे पज्जएसु णिरदा जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा ।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा ॥९४॥

प्रादुः ॥ ९३ ॥ अथ [illegible] ये पर्यायेषु निरता जीवा
पर्यायेषु निरताः जीवाः परसमयिका इति निर्दिष्टाः [illegible] ॥ ९४ ॥

पुद्गलात्मक देव, मनुष्य इत्यादि असमानजातीय द्रव्यपर्याय है। और जैसे सभी पटमें अपने स्थूल अगुरुलघुगुण द्वारा कालक्रमसे प्रवर्तमान अनेक प्रकाररूपसे परिणमित होनेके कारण अनेकत्वकी प्रतिपत्ति गुणात्मक स्वभावपर्याय है, उसीप्रकार समस्त द्रव्योंमें अपने-अपने सूक्ष्म अगुरुलघुगुण द्वारा प्रतिसमय प्रगट होनेवाली षट्स्थानपतित हानिवृद्धिरूप अनेकत्वकी अनुभूति वह गुणात्मक स्वभावपर्याय है; और जैसे पटमें, रूपादिकके स्व-परके कारण प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्थामें होनेवाले तारतम्यके कारण देखनेमें आनेवाले स्वभावविशेषरूप अनेकत्वकी आपत्ति वह गुणात्मक विभावपर्याय है, उसीप्रकार समस्त द्रव्योंमें, रूपादिके या ज्ञानादिके स्व-परके कारण प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्थामें होनेवाले तारतम्यके कारण देखनेमें आनेवाले स्वभावविशेषरूप अनेकत्वकी आपत्ति वह गुणात्मक विभावपर्याय है।

वास्तवमें यह, सर्व पदार्थोंके द्रव्यगुणपर्यायस्वभावकी प्रकाशक [1]पारमेश्वरी व्यवस्था भली-उत्तम-पूर्ण-योग्य है, दूसरी कोई नहीं; क्योंकि बहुतसे (जीव) पर्यायमात्रका ही अवलम्बन करके, तत्त्वकी अप्रतिपत्ति जिसका लक्षण है ऐसे मोहको प्राप्त होते हुये परसमय होते हैं।

भावार्थ :– पदार्थ द्रव्यस्वरूप है। द्रव्य अनन्तगुणमय है। द्रव्यों और गुणोंसे पर्यायें होती हैं। पर्यायोंके दो प्रकार हैं :– १–द्रव्यपर्याय, २–गुणपर्याय। इनमेंसे द्रव्य-पर्यायके दो भेद हैं :– १–समानजातीय – जैसे द्वि-अणुक, त्रि-अणुक इत्यादि स्कन्ध; २–असमानजातीय – जैसे मनुष्य देव इत्यादि। गुणपर्यायके भी दो भेद हैं :– १–स्वभाव-पर्याय – जैसे सिद्धके गुणपर्याय २–विभावपर्याय – जैसे स्वपरहेतुक मतिज्ञानपर्याय।

[1] परमेश्वरकी कही हुई।

पर्यायमां रत जीव जे ते 'परसमय' निर्दिष्ट छे।
आतमस्वभावे स्थित जे ते 'स्वक-समय' ज्ञातव्य छे ॥ ९४ ॥

मासूत्रयन्ति, ते खलु सहजविजृम्भितानेकान्तदृष्टिप्रक्षपितसमस्तैकान्तदृष्टिपरिग्रहग्रहा मनुष्यादिगतिषु तद्विग्रहेषु चाविहिताहंकारममकारा अनेकापवरकसंचारितरत्नप्रदीपमिवैकरूपमेवात्मानमुपलभमाना अविचलितचेतनाविलासमात्रमात्मव्यवहारमुररीकृत्य क्रोडीकृतसमस्तक्रियाकुटुम्बकं मनुष्यव्यवहारमनाश्रयन्तो विश्रान्तरागद्वेषोन्मेषतया परममौदा-

तेऽच्युता ये ते [illegible] । आदसहावम्मि ठिदा ये पुनरात्मन्दम्ने [illegible]

है ऐसे—'यह मैं मनुष्य ही हूँ, मेरा ही यह मनुष्य शरीर है' इसप्रकार अहंकार-ममकारसे ठगाये जाते हुये, अविचलितचेतनाविलासमात्र [1]आत्मव्यवहारसे च्युत होकर, जिसमें समस्त क्रियाकलापको छातीसे लगाया जाता है ऐसे [2]मनुष्यव्यवहारका आश्रय करके रागी-द्वेषी होते हुए परद्रव्यरूप कर्मके साथ संगतताके कारण (-परद्रव्यरूप कर्मके साथ युक्त होजानेसे) वास्तवमें [3]परसमय होते हैं अर्थात् परसमयरूप परिणमित होते हैं ।

और जो [4]असंकीर्ण द्रव्य गुण-पर्यायोंसे सुस्थित भगवान आत्माके स्वभावका—जो कि सकल विद्याओंका एक मूल है उसका—आश्रय करके यथोक्त आत्मस्वभावकी संभावनामें समर्थ होनेसे पर्यायमात्र प्रतिके बलको दूर करके आत्माके स्वभावमें ही स्थिति करते हैं (-लीन होते हैं), वे—जिन्होंने सहज-विकसित अनेकान्तदृष्टि से समस्त एकान्तदृष्टिके [5]परिग्रहके आग्रह प्रक्षीण कर दिये हैं, ऐसे—मनुष्यादि गतियोंमें और उन गतियोंके शरीरोंमें अहंकार-ममकार न करके अनेक कक्षों (कमरों) में [6]संचारित रत्नदीपककी भाँति एकरूप ही आत्माको उपलब्ध (अनुभव) करते हुये, अविचलित-

---

[1] आत्मव्यवहार=आत्मारूप वर्तन, आत्मारूप कार्य, आत्मारूप व्यापार ।

[2] मनुष्यव्यवहार=मनुष्यरूप वर्तन (मैं मनुष्य ही हूँ । ऐसी मान्यतापूर्वक वर्तन) ।

[3] जो जीव परके साथ एकत्वकी मान्यतापूर्वक युक्त होता है, उसे परसमय कहते हैं ।

[4] असंकीर्ण=एकमेक नहीं ऐसे; स्पष्टतया भिन्न [भगवान् आत्मस्वभाव स्पष्ट भिन्न-परके साथ एकमेक नहीं ऐसे-द्रव्यगुणपर्यायोंसे सुस्थित है] ।

[5] परिग्रह=स्वीकार; अंगीकार ।

[6] संचारित=लेजाये गये । (जैसे भिन्न-भिन्न कमरोंमें लेजाया गया रत्नदीपक एकरूप ही है, वह किंचित्‌मात्र भी कमरेके रूपमें नहीं होता, और न कमरेकी क्रिया करता है, उसीप्रकार भिन्न-भिन्न शरीरोंमें प्रविष्ट होनेवाला आत्मा एकरूप ही है, वह किंचित्‌मात्र भी शरीररूप नहीं होता और न शरीरकी क्रिया करता है – इसप्रकार ज्ञानी जानता है ।)

अपरित्यक्तस्वभावेनोत्पादव्ययध्रुवत्वसंबद्धम् ।
गुणवच्च सपर्यायं यत्तद्द्रव्यमिति ब्रुवन्ति ॥९५॥

इह खलु यदनारब्धस्वभावभेदमुत्पादव्ययध्रौव्यत्रयेण गुणपर्यायद्वयेन च यल्लक्ष्यते तद्द्रव्यम् । तत्र हि द्रव्यस्य स्वभावोऽस्तित्वसामान्यान्वयः, अस्तित्वं हि वक्ष्यति द्विविधं, स्वरूपास्तित्वं सादृश्यास्तित्वं चेति । तत्रोत्पादः प्रादुर्भावः, व्ययः प्रच्यवनं, ध्रौव्यमवस्थितिः । गुणा विस्तारविशेषाः, ते द्विविधाः सामान्यविशेषात्मकत्वात् । तत्रास्तित्वं नास्तित्वमेकत्वमन्यत्वं द्रव्यत्वं पर्यायत्वं सर्वगतत्वमसर्वगतत्वं सप्रदेशत्वमप्रदेशत्वं मूर्तत्वममूर्तत्वं सक्रियत्वमक्रियत्वं चेतनत्वमचेतनत्वं कर्तृत्वमकर्तृत्वं भोक्तृत्वमभोक्तृत्वमगुरुलघुत्वं चेत्यादयः सामान्यगुणाः । अवगाहहेतुत्वं गतिनिमित्तता स्थितिकारणत्वं वर्तनायतनत्वं रूपादिमत्ता चेतनत्वमित्यादयो विशेषगुणाः । पर्याया आयतविशेषाः, ते

लक्षणत्रयं सूचयति—अपरिच्चत्तसहावेण अपरित्यक्तस्वभावमस्तित्वेन सहाभिन्नं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं उत्पादव्ययध्रौव्यैः सह संयुक्तं गुणवं च सपज्जायं गुणवत्पर्यायसहितं च जं यदित्थंभूतं सत्तादिलक्षणत्रयसंयुक्तं तं दव्वं ति वुच्चंति तद्द्रव्यमिति ब्रुवन्ति सर्वज्ञाः । इदं द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यैर्गुणपर्यायैश्च

गाथा ९५

अन्वयार्थ :—[अपरित्यक्तस्वभावेन] स्वभावको छोड़े विना [यत्] जो [उत्पादव्ययध्रुवत्वसंबद्धम्] उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसंयुक्त है [च] तथा [गुणवत् सपर्यायं] गुणयुक्त और पर्यायसहित है, [तत्] उसे [द्रव्यम् इति] 'द्रव्य' [ब्रुवन्ति] कहते हैं ।

टीका :—यहाँ (इस विश्वमें) जो, स्वभावभेद किये बिना, [1]उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्रयसे और [2]गुणपर्यायद्वयसे [3]लक्षित होता है, वह द्रव्य है । इनमेंसे (स्वभाव, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, गुण और पर्यायमेंसे) द्रव्यका स्वभाव वह [4]अस्तित्वसामान्यरूप

---

[1] उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्रय=उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य – यह त्रिपुटी (तीनोंका समूह) ।

[2] गुणपर्यायद्वय=गुण और पर्याय – यह युगल (दोनोंका समूह)

[3] लक्षित होता है=लक्ष्यरूप होता है, पहिचाना जाता है । [(१) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तथा (२) गुणपर्याय वे लक्षण हैं और द्रव्य वह लक्ष्य है ।]

[4] अस्तित्वसामान्यरूप अन्वय='है, है, है' ऐसा एकरूप भाव द्रव्यका स्वभाव है । (अन्वय=एकरूपता सदृशभाव ।)

छोड्या विना ज स्वभावने उत्पाद-व्यय-ध्रुव युक्त छे ।
वळी गुण ने पर्यय सहित जे, 'द्रव्य' भाख्युं तेहने ॥ ९५ ॥

अपरित्यक्तस्वभावेनोत्पादव्ययध्रुवत्वसंबद्धम् ।
गुणवच्च सपर्यायं यत्तद्द्रव्यमिति ब्रुवन्ति ॥९५॥

इह खलु यदनारब्धस्वभावभेदमुत्पादव्ययध्रौव्यत्रयेण गुणपर्यायद्वयेन च यल्लक्ष्यते तद्द्रव्यम् । तत्र हि द्रव्यस्य स्वभावोऽस्तित्वसामान्यान्वयः, अस्तित्वं हि वक्ष्यति द्विविधं, स्वरूपास्तित्वं सादृश्यास्तित्वं चेति । तत्रोत्पादः प्रादुर्भावः, व्ययः प्रच्यवनं, ध्रौव्यमवस्थितिः । गुणा विस्तारविशेषाः, ते द्विविधाः सामान्यविशेषात्मकत्वात् । तत्रास्तित्वं नास्तित्वमेकत्वमन्यत्वं द्रव्यत्वं पर्यायत्वं सर्वगतत्वमसर्वगतत्वं सप्रदेशत्वमप्रदेशत्वं मूर्तत्वममूर्तत्वं सक्रियत्वमक्रियत्वं चेतनत्वमचेतनत्वं कर्तृत्वमकर्तृत्वं भोक्तृत्वमभोक्तृत्वमगुरुलघुत्वं चेत्यादयः सामान्यगुणाः । अवगाहहेतुत्वं गतिनिमित्तता स्थितिकारणत्वं वर्तनायतनत्वं रूपादिमत्ता चेतनत्वमित्यादयो विशेषगुणाः । पर्याया आयतविशेषाः, ते

लक्षणत्रयं सूचयति—अपरिच्चत्तसहावेण अपरित्यक्तस्वभावमस्तित्वेन सहाभिन्नं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं उत्पादव्ययध्रौव्यैः सह संयुक्तं गुणवं च सपज्जायं गुणवत्पर्यायसहितं च जं यदित्थंभूतं सत्तादिलक्षणत्रयसंयुक्तं तं दव्वं ति वुच्चंति तद्द्रव्यमिति ब्रुवन्ति सर्वज्ञाः । इदं द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यैर्गुणपर्यायैश्च

गाथा ९५

अन्वयार्थ :— [अपरित्यक्तस्वभावेन] स्वभावको छोड़े विना [यत्] जो [उत्पादव्ययध्रुवत्वसंबद्धम्] उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसंयुक्त है [च] तथा [गुणवत् सपर्यायं] गुणयुक्त और पर्यायसहित है, [तत्] उसे [द्रव्यम् इति] 'द्रव्य' [ब्रुवन्ति] कहते हैं ।

टीका :— यहाँ (इस विश्वमें) जो, स्वभावभेद किये विना, [1]उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्रयसे और [2]गुणपर्यायद्वयसे [3]लक्षित होता है, वह द्रव्य है । इनमेंसे (स्वभाव, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, गुण और पर्यायमेंसे) द्रव्यका स्वभाव वह [4]अस्तित्वसामान्यरूप

[1] उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्रय=उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य – यह त्रिपुटी (तीनोंका समूह) ।
[2] गुणपर्यायद्वय=गुण और पर्याय – यह युगल (दोनोंका समूह)
[3] लक्षित होता है=लक्ष्यरूप होता है, पहिचाना जाता है । [(१) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तथा (२) गुणपर्याय वे लक्षण हैं और द्रव्य वह लक्ष्य है ।]
[4] अस्तित्वसामान्यरूप अन्वय='है, है, है' ऐसा एकरूप भाव द्रव्यका स्वभाव है । (अन्वय=एकरूपता सदृश्यभाव ।)

छोड्या विना ज स्वभावने उत्पाद-व्यय-ध्रुव युक्त छे ।
वली गुण ने पर्यय सहित जे, 'द्रव्य' भाख्युं तेहने ॥ ९५ ॥

पात्तमलिनावस्थं प्रक्षालितममलावस्थयोत्पद्यमानं तेनोत्पादेन लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथा द्रव्यमपि समुपात्तप्राक्तनावस्थं समुचितबहिरङ्गसाधनसन्निधिसद्भावे विचित्रबहुतरावस्थानं स्वरूपकर्तृकरणसामर्थ्यस्वभावेनांतरङ्गसाधनतामुपागतेनानुग्रहीतमुत्तरावस्थयोत्पद्यमानं तेनोत्पादेन लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । यथा च तदेवोत्तरीयममलावस्थयोत्पद्यमानं मलिनावस्थया व्ययमानं तेन व्ययेन लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथा तदेव द्रव्यमप्युत्तरावस्थयोत्पद्यमानं प्राक्तनावस्थया व्ययमानं तेन व्ययेन लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । यथैव च तदेवोत्तरीयमेककालमलावस्थयोत्पद्यमानं मलिनावस्थया व्ययमानमवस्थायिन्योत्तरीयत्वावस्थया ध्रौव्यमालम्बमानं ध्रौव्येण लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वम-

तैः सह सत्ताभेदं न करोति , स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथाविधत्वं कोऽर्थः । उत्पादव्ययध्रौव्यगुणपर्यायस्वरूपेण परिणमति । तथा सर्वद्रव्याणि स्वकीयस्वकीययथोचितोत्पादव्ययध्रौव्यैस्तथैव गुणपर्यायैश्च सह यद्यपि संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभिर्भेदं कुर्वन्ति तथापि सत्तास्वरूपेण भेदं न कुर्वन्ति, स्वभावत एव तथाविधत्वमवलम्बन्ते । तथाविधत्वं कोऽर्थः । उत्पादव्ययादिस्वरूपेण परिणमन्ति ।

स्वरूपकर्ता और स्वरूपकरणके सामर्थ्यरूप स्वभावसे अनुगृहीत होने पर, उत्तर अवस्थासे उत्पन्न होता हुआ वह उत्पादसे लक्षित होता है; किन्तु उसका उस उत्पादके साथ स्वरूपभेद नहीं है, स्वरूपसे ही वैसा है । और जैसे वही वस्त्र निर्मल अवस्थासे उत्पन्न होता हुआ और मलिन अवस्थासे व्ययको प्राप्त होता हुआ उस व्ययसे लक्षित होता है, परन्तु उसका उस व्ययके साथ स्वरूपभेद नहीं है, स्वरूपसे ही वैसा है; उसीप्रकार वही द्रव्य भी उत्तर अवस्थासे उत्पन्न होता हुआ और पूर्व अवस्थासे व्ययको प्राप्त होता हुआ उस व्ययसे लक्षित होता है; परन्तु उसका उस व्ययके साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूपसे ही वैसा है । और जैसे वही वस्त्र एक ही समयमें निर्मल अवस्थासे उत्पन्न होता हुआ, मलिन अवस्थासे व्ययको प्राप्त होता हुआ और टिकनेवाली ऐसी वस्त्रत्व-अवस्थासे ध्रुव रहता हुआ ध्रौव्यसे लक्षित होता है; परन्तु उसका उस ध्रौव्यके साथ स्वरूपभेद नहीं है, स्वरूपसे ही वैसा है; इसीप्रकार वही द्रव्य भी एक ही समय उत्तर अवस्थासे उत्पन्न होता हुआ, पूर्व अवस्थासे व्यय होता हुआ, और टिकनेवाली ऐसी द्रव्यत्वअवस्थासे ध्रुव रहता हुआ ध्रौव्यसे लक्षित होता है । किन्तु उसका उस ध्रौव्यके साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूपसे ही वैसा है ।

सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं ।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं ॥९६॥

सद्भावो हि स्वभावो गुणैः स्वकपर्ययैश्चित्रैः ।
द्रव्यस्य सर्वकालमुत्पादव्ययध्रुवत्वैः ॥९६॥

स्वभावो भवति । दव्वस्स मुक्तात्मद्रव्यस्य । तच्च स्वरूपास्तित्वं यथा मुक्तात्मनः सकाशात्पृथग्भूतानां पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणां शेषजीवानां च भिन्नं भवति, न च तथा । कैः सह । गुणेहिं सगपज्जएहिं केवलज्ञानादिगुणैः किञ्चिदूनचरमशरीराकारादिस्वकपर्यायैश्च सह । कथंभूतैः । चित्तेहिं सिद्धगतित्वमतीन्द्रियत्वकायत्वमयोगत्वमवेदत्वमित्यादिबहुभेदभिन्नैः । न केवलं गुणपर्यायैः सह भिन्नं न भवति । उप्पादव्वयधुवत्तेहिं शुद्धात्मप्राप्तिरूपमोक्षपर्यायस्योत्पादो रागादिविकल्परहितपरमसमाधिरूपमोक्षमार्गपर्यायस्य व्ययस्तथा मोक्षमोक्षमार्गाधारभूतान्वयद्रव्यत्वलक्षणं ध्रौव्यं चेत्युक्तलक्षणोत्पादव्ययध्रौव्यैश्च सह भिन्नं न भवति । कथम् । सव्वकालं सर्वकालपर्यन्तं यथा भवति । कस्मात्तैः सह भिन्नं न भवतीति चेत् । यतः कारणाद्गुणपर्यायास्तित्वेनोत्पादव्ययध्रौव्यास्तित्वेन च कर्तृभूतेन शुद्धात्मद्रव्यास्तित्वं साध्यते, शुद्धात्मद्रव्यास्तित्वेन च गुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यास्तित्वं साध्यत इति । तद्यथा—यथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सुवर्णादभिन्नानां पीतत्वादिगुणकुण्डलादिपर्यायाणां संबन्धि यदस्तित्वं स एव सुवर्णस्य सद्भावः, तथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परमात्मद्रव्यादभिन्नानां केवलज्ञानादिगुणकिंचिदूनचरमशरीराकारादिपर्यायाणां संबन्धि यदस्तित्वं स एव मुक्तात्मद्रव्यस्य सद्भावः । यथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावैः पीतत्वादिगुणकुण्डलादिपर्यायेभ्यः सकाशादभिन्नस्य सुवर्णस्य

गाथा ९६

अन्वयार्थ :– **[सर्वकालं]** सर्वकालमें **[गुणैः]** गुण तथा **[चित्रैः स्वकपर्यायैः]** अनेक प्रकारकी अपनी पर्यायोंसे **[उत्पादव्ययध्रुवत्वैः]** और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसे **[द्रव्यस्य सद्भावः]** द्रव्यका जो अस्तित्व है, **[हि]** वह वास्तवमें **[स्वभावः]** स्वभाव है ।

टीका :– अस्तित्व वास्तवमें द्रव्यका स्वभाव है; और वह (अस्तित्व) अन्य साधनसे [1]निरपेक्ष होनेके कारण अनादि-अनन्त होनेसे तथा [2]अहेतुक, एकरूप [3]वृत्तिसे

---

[1] अस्तित्व अन्य साधनकी अपेक्षासे रहित – स्वयंसिद्ध है इसलिये अनादि-अनन्त है ।

[2] अहेतुक=अकारण, जिसका कोई कारण नहीं है ऐसी ।

[3] वृत्ति=वर्तन; वर्तना वह; परिणति । (अकारणिक एकरूप परिणतिसे सदाकाल परिणमता होनेसे अस्तित्व विभावधर्मसे भिन्न लक्षणवाला है ।)

उत्पाद-ध्रौव्य-विनाशथी, गुण ने विविध पर्यायथी ।
अस्तित्व द्रव्यनुं सर्वदा जे, तेह द्रव्यस्वभाव छे ॥ ९६ ॥

कुण्डलादिपर्यायाणां च स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य कार्तस्वरास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैः पीततादिगुणैः कुण्डलादिपर्यायैश्च यदस्तित्वं कार्तस्वरस्य स स्वभावः, तथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण गुणानां पर्यायाणां च स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैर्गुणैः पर्यायैश्च यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः। यथा वा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा पीततादिगुणेभ्यः कुण्डलादिपर्यायेभ्यश्च पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कार्तस्वरस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैः पीततादिगुणैः

सकाशादभिन्नस्य सुवर्णस्य संबन्धि यदस्तित्वं स एव कटकपर्यायोत्पादकङ्कणपर्यायव्ययतदुभयाधारभूतसुवर्णत्वलक्षणध्रौव्याणां स्वभावः, तथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन मोक्षपर्यायोत्पादमोक्षमार्गपर्यायव्य-

---

रूपसे गुणोंके और पर्यायोंके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान द्रव्यके अस्तित्वसे जिनकी उत्पत्ति होती है,–ऐसे गुणों और पर्यायोंसे जो द्रव्यका अस्तित्व है, वह स्वभाव है। (द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे सुवर्णसे भिन्न न दिखाई देनेवाले पीतत्वादिक और कुण्डलादिकका अस्तित्व वह सुवर्णका ही अस्तित्व है, क्योंकि पीतत्वादिकके और कुण्डलादिकके स्वरूपको सुवर्ण ही धारण करता है, इसलिये सुवर्णके अस्तित्वसे ही पीतत्वादिककी और कुण्डलादिक की निष्पत्ति–सिद्धि होती है; सुवर्ण न हो तो पीतत्वादिक और कुण्डलादिक भी न हों, इसीप्रकार द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे द्रव्यसे भिन्न नहीं दिखाई देनेवाले गुणों और पर्यायोंका अस्तित्व वह द्रव्यका ही अस्तित्व है, क्योंकि गुणों और पर्यायोंके स्वरूपको द्रव्य ही धारण करता है, इसलिये द्रव्यके अस्तित्वसे ही गुणोंकी और पर्यायोंकी निष्पत्ति होती है, द्रव्य न हो तो गुण और पर्यायें भी न हों। ऐसा अस्तित्व वह द्रव्यका स्वभाव है।)

अथवा, जैसे द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे [1]जो पीतत्वादि गुणोंसे और कुण्डलादि पर्यायोंसे पृथक् नहीं दिखाई देता; कर्ता-करण-अधिकरणरूपसे सुवर्णके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान पीतत्वादिगुणों और कुण्डलादिपर्यायोंसे जिसकी निष्पत्ति होती है,–ऐसे सुवर्णका, मूलसाधनपनेसे [2]उनसे निष्पन्न होता हुआ, जो अस्तित्व है, वह स्वभाव है; उसीप्रकार द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे गुणोंसे

---

[1] जो = सुवर्ण।

[2] उनसे = पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायोंसे। (सुवर्णका अस्तित्व निष्पन्न होनेमें उपजनेमें, या सिद्ध होनेमें मूलसाधन पीतत्वादि गुण और कुण्डलादि पर्यायें है।)

कुण्डलादिपर्यायैश्च निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य कार्तस्वरस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः, तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा गुणेभ्यः पर्यायेभ्यश्च पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैर्गुणैः पर्यायैश्च निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः । किंच — यथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कार्तस्वरात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कुंडलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्याणां स्वरूप-

---

यतदुभयाधारभूतमुक्तात्मद्रव्यत्वलक्षणध्रौव्येभ्यः सकाशादभिन्नस्य परमात्मद्रव्यस्य संबन्धि यदस्तित्वं स एव मोक्षपर्यायोत्पादमोक्षमार्गपर्यायव्ययतदुभयाधारभूतमुक्तात्मद्रव्यत्वलक्षणध्रौव्याणां स्वभाव

और पर्यायोंसे जो पृथक् नहीं दिखाई देता, कर्ता-करण-[1]अधिकरणरूपसे द्रव्यके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान गुणों और पर्यायोंसे जिसकी निष्पत्ति होती है, — ऐसे द्रव्यका, मूलसाधनपनेसे उनसे निष्पन्न होता हुआ जो अस्तित्व है, वह स्वभाव है। (पीतत्वादिकसे और कुण्डलादिकसे भिन्न न दिखाई देनेवाले सुवर्णका अस्तित्व वह पीतत्वादिक और कुण्डलादिकका ही अस्तित्व है, क्योंकि सुवर्णके स्वरूपको पीतत्वादिक और कुण्डलादिक ही धारण करते हैं, इसलिये पीतत्वादिक और कुण्डलादिकके अस्तित्वसे ही सुवर्णकी निष्पत्ति होती है, पीतत्वादिक और कुण्डलादिक न हों तो सुवर्ण भी न हो; इसीप्रकार गुणोंसे और पर्यायोंसे भिन्न न दिखाई देनेवाले द्रव्यका अस्तित्व वह गुणों और पर्यायोंका ही अस्तित्व है, क्योंकि द्रव्यके स्वरूपको गुणों और पर्यायें ही धारण करती हैं इसलिये गुणों और पर्यायोंके अस्तित्वसे ही द्रव्यकी निष्पत्ति होती है। यदि गुणों और पर्यायें न हो तो द्रव्य भी न हो। ऐसा अस्तित्व वह द्रव्यका स्वभाव है।)

(जिसप्रकार द्रव्यका और गुण-पर्यायका एक ही अस्तित्व है ऐसा सुवर्णके दृष्टान्त पूर्वक समझाया, उसीप्रकार अब सुवर्णके दृष्टान्त पूर्वक ऐसा बताया जा रहा है कि द्रव्यका और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यका भी एक ही अस्तित्व है।)

जैसे द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे, सुवर्णसे [2]जो पृथक् नहीं दिखाई देते, कर्ता-करण-[3]अधिकरणरूपसे कुण्डलादि उत्पादोंके, बाजूबंधादिव्ययोंके और पीतत्वादि

---

[1] गुण-पर्यायें ही द्रव्यकी कर्ता, करण और अधिकरण है; इसलिये गुण-पर्यायें ही द्रव्यका स्वरूप धारण करती है। [2] जो=जो कुण्डलादि उत्पाद, बाजूबंधादि व्यय और पीतादि ध्रौव्य।

[3] सुवर्ण ही कुण्डलादि-उत्पाद, बाजूबंधादि-व्यय और पीतत्वादि ध्रौव्यका कर्ता, करण तथा अधिकरण है; इसलिये सुवर्ण ही उनका स्वरूप धारण करता है। (सुवर्ण ही कुण्डलादिरूपसे उत्पन्न होता है, बाजूबंधादिरूपसे नष्ट होता है और पीतत्वादिरूपसे अवस्थित रहता है।)

मुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य कार्तस्वरास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैः कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्वं कार्तस्वरस्य स स्वभावः, तथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेणोत्पादव्ययध्रौव्याणां स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः । यथा वा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन

इति । एवं यथा मुक्तात्मद्रव्यस्य स्वकीयगुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यैः सह स्वरूपास्तित्वाभिधानमवान्त-

---

ध्रौव्योंके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान सुवर्णके अस्तित्वसे जिनकी निष्पत्ति होती है,—ऐसे कुण्डलादि—उत्पाद, बाजूबंधादिव्यय और पीतत्वादि ध्रौव्योंसे जो सुवर्णका अस्तित्व है, वह (सुवर्णका) स्वभाव है; उसीप्रकार द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे जो द्रव्यसे पृथक् दिखाई नहीं देते, कर्ता-करण-अधिकरणरूपसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्योंके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान द्रव्यके अस्तित्वसे जिनकी निष्पत्ति होती है,—ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्योंसे जो द्रव्यका अस्तित्व है वह स्वभाव है। (द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे द्रव्यसे भिन्न दिखाई न देनेवाले उत्पाद, व्यय और ध्रौव्योंका अस्तित्व है वह द्रव्यका ही अस्तित्व है; क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्योंके स्वरूपको द्रव्य ही धारण करता है, इसलिये द्रव्यके अस्तित्वसे ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्योंकी निष्पत्ति होती है। यदि द्रव्य न हो तो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य भी न हों। ऐसा अस्तित्व वह द्रव्यका स्वभाव है।)

अथवा जैसे द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे कुण्डलादि-उत्पादोंसे बाजूबंधादिव्ययोंसे और पीतत्वादिध्रौव्योंसे जो पृथक् नहीं दिखाई देता; कर्ता-करण-अधिकरणरूपसे सुवर्णके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान कुण्डलादि-उत्पादों, बाजूबंधादिव्ययों और पीतत्वादिध्रौव्योंसे जिसकी निष्पत्ति होती है,—ऐसे सुवर्णका, मूलसाधनपनेसे उनसे निष्पन्न होता हुआ, जो अस्तित्व है, वह स्वभाव है। उसीप्रकार द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे [illegible]-व्यय-ध्रौव्योंसे जो पृथक् दिखाई नहीं देता, कर्ता-करण-[1]अधिकरण-[illegible]पको धारण करके प्रवर्तमान उत्पाद-व्यय-ध्रौव्योंसे जिसकी निष्पत्ति [illegible] मूलसाधनपनेसे उनसे निष्पन्न होता हुआ जो अस्तित्व है, वह

---

[1] [illegible], करण और अधिकरण हैं, इसलिये उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ही द्रव्यके स्वरूपको

वा कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्येभ्यः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कार्तस्वरस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैः कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य कार्तस्वरस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः, तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वोत्पादव्ययध्रौव्येभ्यः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः ।। ९६ ।।

इदं तु सादृश्यास्तित्वाभिधानमस्तीति कथयति –

रास्तित्वमभिन्नं व्यवस्थापितं तथैव समस्तशेषद्रव्याणामपि व्यवस्थापनीयमित्यर्थः ।। ९६ ।।
अथ सादृश्यास्तित्वशब्दाभिधेयां महासत्तां प्रज्ञापयति—इह विविहलक्खणाणं इह लोके प्रत्येकसत्ता-

---

स्वभाव है। (उत्पादोंसे, व्ययोंसे और ध्रौव्योंसे भिन्न न दिखाई देनेवाले द्रव्यका अस्तित्व वह उत्पादों, व्ययों और ध्रौव्योंका ही अस्तित्व है; क्योंकि द्रव्यके स्वरूपको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ही धारण करते हैं, इसलिये उत्पाद-व्यय और ध्रौव्योंके अस्तित्वसे ही द्रव्यकी निष्पत्ति होती है। यदि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य न हों तो द्रव्य भी न हो। ऐसा अस्तित्व वह द्रव्यका स्वभाव है।)

भावार्थ :– अस्तित्वके और द्रव्यके प्रदेशभेद नहीं है; और वह अस्तित्व अनादि-अनन्त है तथा अहेतुक एकरूप परिणतिसे सदा परिणमित होता है, इसलिये विभाव-धर्मसे भी भिन्न प्रकारका है; ऐसा होनेसे अस्तित्व द्रव्यका स्वभाव ही है।

गुण-पर्यायोंका और द्रव्यका अस्तित्व भिन्न नहीं है; एक ही है; क्योंकि गुण-पर्यायें द्रव्यसे ही निष्पन्न होती हैं, और द्रव्य गुण-पर्यायोंसे ही निष्पन्न होता है। और इसीप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यका और द्रव्यका अस्तित्व भी एक ही है; क्योंकि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्यसे ही उत्पन्न होते हैं, और द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्योंसे ही उत्पन्न होता है।

इसप्रकार स्वरूपा-स्तित्वका निरूपण हुआ ।। ९६ ।।

अब यह (नीचे अनुसार) सादृश्य-अस्तित्वका कथन है :–

इह किल प्रपञ्चितवैचित्र्येण द्रव्यान्तरेभ्यो व्यावृत्य वृत्तेन प्रतिद्रव्यं सीमानमासूत्रयता विशेषलक्षणभूतेन च स्वरूपास्तित्वेन लक्ष्यमाणानामपि सर्वद्रव्याणामस्तमितवैचित्र्यप्रपञ्चं प्रवृत्य वृत्तं प्रतिद्रव्यमासूत्रितं सीमानं भिन्दत्सदिति सर्वगतं सामान्यलक्षणभूतं सादृश्यास्तित्वमेकं खल्ववबोधव्यम् । एवं सदित्यभिधानं सदिति परिच्छेदनं च सर्वार्थपरामर्शि स्यात् । यदि पुनरिदमेव न स्यात्तदा किंचित्सदिति किंचिदसदिति किंचित्सच्चासच्चेति किंचिदवाच्यमिति च स्यात् । तत्तु विप्रतिषिद्धमेव प्रसाध्यं चैतदनोकहवत् । यथा हि

उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं धर्म वस्तुस्वभावसंग्रहमुपदिशता खलु स्फुटं जिनवरवृषभेण प्रज्ञप्तमिति । तद्यथा–यथा सर्वे मुक्तात्मनः सन्तीत्युक्ते सति परमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादभरितावस्थलोकाकाशप्रमितशुद्धासंख्येयात्मप्रदेशैस्तथा किंचिदूनचरमशरीराकारादिपर्यायैश्च संकरव्यतिकरपरिहाररूपजातिभेदेन भिन्नानामपि सर्वेषां सिद्धजीवानां ग्रहणं भवति, तथा 'सर्वं सत्'

जैसे वहुतसे, अनेक प्रकारके वृक्षोंको अपने अपने विशेपलक्षणभूत स्वरूपास्तित्वके अवलम्वनसे उत्पन्न होनेवाले अनेकत्वको, सामान्य लक्षणभूत [1]सादृश्यदर्शक वृक्षत्वसे उत्पन्न होनेवाला एकत्व [2]तिरोहित (अदृश्य) कर देता है, इसीप्रकार वहुतसे, अनेकप्रकारके द्रव्योंको अपने-अपने विशेप लक्षणभूत स्वरूपास्तित्वके अवलम्वनसे उत्पन्न होनेवाले अनेकत्वको, सामान्यलक्षणभूत सादृश्यदर्शक 'सत्' पनेसे ('सत्' ऐसे भावसे, अस्तित्वसे, 'है' पनेसे) उत्पन्न होनेवाला एकत्व तिरोहित कर देता है। और जैसे उन वृक्षोंके विपयमें सामान्यलक्षणभूत सादृश्यदर्शक वृक्षत्वसे उत्पन्न होनेवाले एकत्वसे तिरोहित होनेपर भी (अपने-अपने) विशेपलक्षणभूत स्वरूपास्तित्वके अवलम्वनसे उत्पन्न होनेवाला अनेकत्व स्पष्टतया प्रकाशमान रहता है, (बना रहता है, नष्ट नहीं होता); उसीप्रकार सर्व द्रव्योंके विपयमें भी सामान्यलक्षणभूत सादृश्यदर्शक 'सत्' पनेसे उत्पन्न होनेवाले एकत्वसे तिरोहित होने पर भी (अपने-अपने) विशेपलक्षणभूत स्वरूपास्तित्वके अवलम्वनसे उत्पन्न होनेवाला अनेकत्व स्पष्टतया प्रकाशमान रहता है।

[वहुतसे (संख्यापेक्षासे अनेक) और अनेकप्रकारके (अर्थात् आम्र, अशोकादि) वृक्षोंका अपना-अपना स्वरूपास्तित्व भिन्न-भिन्न है, इसलिये स्वरूपास्तित्वकी अपेक्षासे उनमें अनेकत्व है, परन्तु वृक्षत्व जो कि सर्व वृक्षोंका सामान्यलक्षण है और जो सर्व वृक्षोंमें सादृश्य वतलाता है, उसकी अपेक्षासे सर्व वृक्षोंमें एकत्व है। जव इस एकत्वको मुख्य करते हैं तव अनेकत्व गौण हो जाता है; इसीप्रकार वहुतसे (अनन्त)

---

[1] सादृश्य=समानत्व । [2] तिरोहित=तिरोभूत; आच्छादित; अदृश्य ।

वहूनां वहुविधानामनोकहानामात्मीयात्मीयस्य विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वं, सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिनानोकहत्वेनोत्थापितमेकत्वं तिरियति । तथा वहूनां वहुविधानां द्रव्याणामात्मीयात्मीयस्य विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वं सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिना सदित्यस्य भावेनोत्थापितमेकत्वं तिरियति । यथा च तेषामनोकहानां सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिनानोकहत्वेनोत्थापितेनैकत्वेन तिरोहितमपि विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वमुच्चकास्ति, तथा सर्वद्रव्याणामपि सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिना सदित्यस्य भावेनोत्थापितेनैकत्वेन तिरोहितमपि विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वमुच्चकास्ति ।। ९७ ।।

इत्युक्ते संग्रहनयेन सर्वपदार्थानां ग्रहणं भवति । अथवा सेनेयं वनमिदमित्युक्ते अश्वहस्त्यादिपदार्थानां निम्बाम्रादिवृक्षाणां स्वकीयस्वकीयजातिभेदभिन्नानां युगपद्ग्रहणं भवति, तथा सर्वं सदित्युक्ते सति सादृश्यसत्ताभिधानेन महासत्तारूपेण शुद्धसंग्रहनयेन सर्वपदार्थानां स्वजात्यविरोधेन ग्रहणं भवती-

---

और अनेक (छह) प्रकारके द्रव्योंका अपना-अपना स्वरूपास्तित्व भिन्न भिन्न है इसलिये स्वरूपास्तित्वकी अपेक्षासे उनमें अनेकत्व है, परन्तु सत्‌पना (अस्तित्वपना, 'है' ऐसा भाव) जो कि सर्व द्रव्योंका सामान्य लक्षण है और जो सर्वद्रव्योंमें सादृश्य वतलाता है उसकी अपेक्षासे सर्वद्रव्योंमें एकत्व है । जव इस एकत्वको मुख्य करते हैं तव अनेकत्व गौण हो जाता है । और इसप्रकार जव सामान्य सत्‌पनेको मुख्यतासे लक्षमें लेने पर सर्व द्रव्योंके एकत्वकी मुख्यता होनेसे अनेकत्व गौण हो जाता है, तव भी वह (समस्त द्रव्योंका स्वरूप-अस्तित्व संवंधी) अनेकत्व स्पष्टतया प्रकाशमान ही रहता है ।]

(इसप्रकार सादृश्य अस्तित्वका निरूपण हुआ) ।। ९७ ।।

अव, द्रव्योंसे द्रव्यान्तरकी उत्पत्ति होनेका और द्रव्यसे सत्ताका [1]अर्थान्तरत्व होनेका खण्डन करते हैं । (अर्थात् ऐसा निश्चत करते हैं कि किसी द्रव्यसे अन्य द्रव्यकी उत्पत्ति नहीं होती और द्रव्यसे अस्तित्व कोई पृथक् पदार्थ नहीं है) :–

गाथा ९८

अन्वयार्थ :– [द्रव्यं] द्रव्य [स्वभावसिद्धं] स्वभावसे सिद्ध और [सत् इति] (स्वभावसे ही) 'सत्' है, ऐसा [जिनाः] जिनेन्द्रदेवने [तत्त्वतः] यथार्थतः [समाख्यात–

---

[1] अर्थान्तरत्व = अन्यपदार्थपना ।

अथ द्रव्यैर्द्रव्यान्तरस्यारम्भं द्रव्यादर्थान्तरत्वं च सत्तायाः प्रतिहन्ति –

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा।
सिद्धं तध आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ ॥ ९८ ॥

द्रव्यं स्वभावसिद्धं सदिति जिनास्तत्त्वतः समाख्यातवन्तः।
सिद्धं तथा आगमतो नेच्छति यः स हि परसमयः ॥ ९८ ॥

त्यर्थः ॥ ९७ ॥ अथ यथा द्रव्यं स्वभावसिद्धं तथा तत्सदपि स्वभावत एवेत्याख्याति–– **दव्वं सहावसिद्धं** द्रव्यं परमात्मद्रव्यं स्वभावसिद्धं भवति । कस्मात् । अनाद्यनन्तेन परहेतुनिरपेक्षेण स्वतः सिद्धेन केवलज्ञानादिगुणाधारभूतेन सदानन्दैकरूपसुखसुधारसपरमसमरसीभावपरिणतसर्वशुद्धात्मप्रदेशभरितावस्थेन शुद्धोपादानभूतेन स्वकीयस्वभावेन निष्पन्नत्वात् । यच्च स्वभावसिद्धं न भवति तद्द्रव्यमपि न भवति । द्व्यणुकादिपुद्गलस्कन्धपर्यायवत् मनुष्यादिजीवपर्यायवच्च । **सदिति** यथा स्वभावतः सिद्धं तद्द्रव्यं तथा सदिति सत्तालक्षणमपि स्वभावत एव भवति, न च भिन्नसत्तासमवायात् । अथवा यथा द्रव्यं स्वभावतः सिद्धं तथा तस्य योऽसौ सत्तागुणः सोऽपि स्वभावसिद्ध एव । कस्मादिति चेत् । सत्ताद्रव्ययोः संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि दण्डदण्डिवद्भिन्नप्रदेशाभावात् । इदं के कथितवन्तः । **जिणा तच्चदो समक्खादा** जिनाः कर्तारः तत्त्वतः सम्यगाख्यातवन्तः कथितवन्तः **सिद्धं तह आगमदो**

वन्तः] कहा है; [तथा] इसप्रकार [आगमतः] आगमसे [सिद्धं] सिद्ध है; [यः] जो [न इच्छति] इसे नहीं मानता [सः] वह [हि] वास्तवमें [परसमयः] परसमय है।

टीका :– वास्तवमें द्रव्योंसे द्रव्यान्तरोंकी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि सर्व द्रव्य स्वभावसिद्ध हैं। (उनकी) स्वभावसिद्धता तो उनकी अनादिनिधनतासे है; क्योंकि [1]अनादिनिधन साधनान्तरकी अपेक्षा नहीं रखता। वह गुणपर्यायात्मक ऐसे अपने स्वभावको ही–जो कि मूल साधन है उसे–धारण करके स्वयमेव सिद्ध हुआ वर्तता है।

जो द्रव्योंसे उत्पन्न होता है वह तो द्रव्यान्तर नहीं है, [2]कादाचित्कपने के कारण

---

[1] अनादिनिधन=आदि और अन्तसे रहित। (जो अनादिअनन्त हो उसकी सिद्धिके लिये अन्य साधनकी आवश्यकता नहीं है।)

[2] कादाचित्क=कदाचित् – किसीसमय हो ऐसा; अनित्य।

द्रव्यो स्वभावे सिद्ध ने 'सत्' – तत्त्वतः श्री जिनो कहे।
ए सिद्ध छे आगम थकी, माने न ते परसमय छे ॥ ९८ ॥

अथोत्पादव्ययध्रौव्याणां परस्पराविनाभावं दृढयति –

ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो ।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥ १०० ॥

न भवो भङ्गविहीनो भङ्गो वा नास्ति संभवविहीनः ।
उत्पादोऽपि च भङ्गो न विना ध्रौव्येणार्थेन ॥ १०० ॥

स्वरूपसत्तारूपेण प्रथमगाथा, महासत्तारूपेण द्वितीया, यथा द्रव्यं स्वतःसिद्धं तथा सत्तागुणोऽपीति कथनेन तृतीया, उत्पादव्ययध्रौव्यत्वेऽपि सत्तैव द्रव्यं भण्यत इति कथनेन चतुर्थीति गाथाचतुष्टयेन सत्तालक्षणविवरणमुख्यतया द्वितीयस्थलं गतम् । अथोत्पादव्ययध्रौव्याणां परस्परसापेक्षत्वं दर्शयति – **ण भवो भंगविहीणो** निर्दोषपरमात्मरुचिरूपसम्यक्त्वपर्यायस्य भव उत्पादः तद्विपरीतमिथ्यात्वपर्यायस्य भङ्गं विना न भवति । कस्मात् । उपादानकारणाभावात्, मृत्पिण्डभङ्गाभावे घटोत्पाद इव । द्वितीयं

अब, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका परस्पर [1]अविनाभाव दृढ़ करते हैं :–

गाथा १००

अन्वयार्थ :– [**भवः**] उत्पाद [**भङ्गविहीनः**] [2]भंग रहित [**न**] नहीं होता, [**वा**] और [**भङ्गः**] भंग [**संभवविहीनः**] विना उत्पादके [**नास्ति**] नहीं होता; [**उत्पादः**] उत्पाद [**अपि च**] तथा [**भङ्गः**] भंग [**ध्रौव्येण अर्थेन विना**] ध्रौव्य पदार्थके विना [**न**] नहीं होते ।

टीका :– वास्तवमें [3]सर्ग [4]संहारके विना नहीं होता और संहार सर्गके बिना नहीं होता; [5]सृष्टि और संहार [6]स्थिति (ध्रौव्य) के विना नहीं होते, स्थिति सर्ग और संहार के विना नहीं होती ।

जो सर्ग है वही संहार है, जो संहार है वही सर्ग है; जो सर्ग और संहार है वही

---

१ अविनाभाव=एकके विना दूसरे का नहीं होना वह; एक-दूसरे विना हो ही नहीं सके ऐसा भाव ।
२ भंग=व्यय; नाश
३ सर्ग=उत्पाद, उत्पत्ति ।
४ संहार=व्यय,नाश ।
५ सृष्टि=उत्पत्ति ।
६ स्थिति=स्थित रहना; ध्रुव रहना; ध्रौव्य ।

उत्पाद भंग विना नहीं, संहार सर्ग विना नहीं ।
उत्पाद तेम ज भंग, ध्रौव्य-पदार्थ विण वर्ते नहीं ॥ १०० ॥

न खलु सर्गः संहारमन्तरेण, न संहारो वा सर्गमन्तरेण, न सृष्टिसंहारो स्थितिमन्तरेण, न स्थितिः सर्गसंहारमन्तरेण । य एव हि सर्गः स एव संहारः, य एव संहारः स एव सर्गः, यावेव सर्गसंहारौ सैव स्थितिः, यैव स्थितिस्तावेव सर्गसंहाराविति । तथाहि — य एव कुम्भस्य सर्गः स एव मृत्तिपण्डस्य संहारः, भावस्य भावान्तराभावस्वभावेनावभासनात् । य एव च मृत्तिपण्डस्य संहारः, स एव कुम्भस्य सर्गः, अभावस्य भावान्तरभावस्वभावेनावभासनात् । यौ च कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ सैवमृत्तिकायाः स्थितिः, *व्यतिरेकमुखेनैवान्वयस्य प्रकाशनात् । यैव च मृत्तिकायाः स्थितिस्तावेव कुम्भपिण्डयोः

च कारणं मिथ्यात्वपर्यायभङ्गस्य सम्यक्त्वपर्यायरूपेण प्रतिभासनात् । तदपि कस्मात् । "भावान्तरस्वभावरूपो भवत्यभाव" इति वचनात् । घटोत्पादरूपेण मृत्पिण्डभङ्ग इव । यदि पुनर्मिथ्यात्वपर्यायभङ्गस्य सम्यक्त्वोपादानकारणभूतस्याभावेऽपि शुद्धात्मानुभूतिरुचिरूपसम्यक्त्वस्योत्पादो भवति, तह्युपादानकारणरहितानां खपुष्पादीनामप्युत्पादो भवतु । न च तथा । **भंगो वा णत्थि संभवविहीणो** परद्रव्योपादेयरुचिरूपमिथ्यात्वस्य भङ्गो नास्ति । कथंभूतः । पूर्वोक्तसम्यक्त्वपर्यायसंभवरहितः ।

स्थिति है; जो स्थिति है वही सर्ग और संहार है । वह इसप्रकार :— जो कुम्भका सर्ग है वही [1]मृत्तिकापिण्डका संहार है; क्योंकि भावका भावान्तरके अभावस्वभावसे अवभासन है । (अर्थात् भाव अन्यभावके अभावरूप स्वभावसे प्रकाशित है — दिखाई देता है ।) और जो मृत्तिकापिण्डका संहार है वही कुम्भका सर्ग है, क्योंकि अभावका भावान्तरके भावस्वभावसे अवभासन है; (अर्थात् नाश अन्यभावके उत्पादरूप स्वभावसे प्रकाशित है ।)

और जो कुम्भका सर्ग और पिण्डका संहार है वही मृत्तिकाकी स्थिति है, क्योंकि [2]व्यतिरेक अन्वयका अतिक्रमण (उल्लंघन) नहीं करते, और जो मृत्तिकाकी स्थिति है वही कुम्भका सर्ग और पिण्डका संहार है, क्योंकि व्यतिरेकोंके द्वारा ही [3]अन्वय प्रकाशित होता है । और यदि ऐसा ही (ऊपर समझाया तदनुसार) न माना जाय तो ऐसा सिद्ध होगा कि 'सर्ग अन्य है, संहार अन्य है, स्थिति अन्य है ।' (अर्थात् तीनों पृथक् हैं ऐसा माननेका प्रसंग आजायगा ।) ऐसा होने पर (क्या दोष आता है, सो समझाते हैं) :—

---

* 'व्यतिरेकमुखेन....क्रमणात्' के स्थान पर निम्न प्रकार पाठ चाहिये ऐसा लगता है, "व्यतिरेकाणामन्वयानतिक्रमणात् । यैव च मृत्तिकायाः स्थितिस्तावेव कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ; व्यतिरेकमुखेनैवान्वयस्य प्रकाशनात् ।" हिन्दी अनुवाद इस संशोधित पाठानुसार किया है ।

[1] मृत्तिकापिण्ड=मिट्टीका पिण्ड ।

[2] व्यतिरेक=भेद; एकका दूसरेरूप न होना वह; 'यह वह नहीं है' ऐसे ज्ञानका निमित्तभूत भिन्नरूपत्व ।

[3] अन्वय=एकरूपता; सादृश्यता; 'यह वही है' ऐसे ज्ञानका कारणभूत एकरूपत्व ।

सर्गसंहारौ, व्यतिरेकाणामन्वयानतिक्रमणात् । यदि पुनर्नेदमेवमिष्येत तदान्यः सर्गोऽन्यः संहारः अन्या स्थितिरित्यायाति । तथा सति हि केवलं सर्ग मृगयमाणस्य कुम्भस्योत्पादनकारणाभावादभवनिरेव भवेत्, असदुत्पाद एव वा । तत्र कुम्भस्याभवनौ सर्वेषामेव भावानामभवनिरेव भवेत् । असदुत्पादे वा व्योमप्रसवादीनामप्युत्पादः स्यात् । तथा केवलं संहारमारभमाणस्य मृत्पिण्डस्य संहारकारणाभावादसंहरणिरेव भवेत्, सदुच्छेद एव वा । तत्र मृत्पिण्डस्यासंहरणौ सर्वेषामेव भावानामसंहरणिरेव भवेत् । सदुच्छेदे वा

कस्मादिति चेत् । भङ्गकारणाभावात्, घटोत्पादाभावे मृत्पिण्डस्येव । द्वितीयं च कारणं सम्यक्त्वपर्यायोत्पादस्य मिथ्यात्वपर्यायाभावरूपेण दर्शनात् । तदपि कस्मात् । पर्यायस्य पर्यायान्तराभावरूपत्वात्, घटपर्यायस्य मृत्पिण्डाभावरूपेणेव । यदि पुनः सम्यक्त्वोत्पादनिरपेक्षो भवति मिथ्यात्व-

---

केवल सर्ग-शोधक कुम्भकी (-व्यय और ध्रौव्यसे भिन्न मात्र उत्पाद करनेको जानेवाले कुम्भकी) [1]उत्पादन कारणका अभाव होनेसे उत्पत्ति ही नहीं होगी; अथवा तो असत्का ही उत्पाद होगा। और वहाँ, (१) यदि कुम्भकी उत्पत्ति न होगी तो समस्त ही भावोंकी उत्पत्ति ही नहीं होगी। (अर्थात् जैसे कुम्भकी उत्पत्ति नहीं होगी उसीप्रकार विश्वके किसी भी द्रव्यमें किसी भी भावका उत्पाद ही नहीं होगा, — यह दोष आयगा); अथवा (२) यदि असत्का उत्पाद हो तो [2]व्योम-पुष्प इत्यादिका भी उत्पाद होगा, (अर्थात् शून्यमेंसे भी पदार्थ उत्पन्न होने लगेंगे, — यह दोष आयगा।)

और केवल व्ययारम्भक (उत्पाद और ध्रौव्यसे रहित केवल व्यय करनेको उद्यत मृत्तिकापिण्डका) संहारकारणका अभाव होनेसे संहार ही नहीं होगा; अथवा तो सत्का ही उच्छेद होगा। वहाँ, (१) यदि मृत्तिकापिण्डका व्यय न होगा तो समस्त ही भावोंका संहार ही न होगा, (अर्थात् जैसे मृत्तिकापिण्डका संहार नहीं होगा उसीप्रकार विश्वके किसी भी द्रव्यमें किसी भावका संहार ही नहीं होगा, — यह दोष आयगा); अथवा (२) यदि सत्का उच्छेद होगा तो चैतन्य इत्यादिका भी उच्छेद हो जायगा, (अर्थात् समस्त द्रव्योंका सम्पूर्ण विनाश हो जायगा; — यह दोष आयगा।)

और [3]केवल स्थिति प्राप्त करने को जानेवाली मृत्तिकाकी, व्यतिरेकों सहित

---

[1] उत्पादनकारण=उत्पत्तिका कारण।

[2] व्योमपुष्प=आकाशके फूल।

[3] केवल स्थिति=(उत्पाद और व्यय रहित) अकेला ध्रुवपना, केवल स्थितिपना; अकेला अवस्थान। [अन्वय व्यतिरेकों सहित ही होता है इसलिये ध्रौव्य उत्पाद-व्ययसहित ही होगा, अकेला नहीं हो सकता। जैसे उत्पाद (या व्यय) द्रव्यका अंश है — समग्र द्रव्य नहीं, इसप्रकार ध्रौव्य भी द्रव्यका अंश है — समग्र द्रव्य नहीं।]

संविदादीनामप्युच्छेदः स्यात् । तथा केवलां स्थितिमुपगच्छन्त्या मृत्तिकाया व्यतिरेकाक्रान्तस्थित्यन्वयाभावादस्थानिरेव भवेत्, क्षणिकनित्यत्वमेव वा । तत्र मृत्तिकाया अस्थानौ सर्वेषामेव भावानामस्थानिरेव भवेत् । क्षणिकनित्यत्वे वा चित्तक्षणानामपि नित्यत्वं स्यात् । तत उत्तरोत्तरव्यतिरेकाणां सर्गेण पूर्वपूर्वव्यतिरेकाणां संहारेणान्वयस्यावस्थानेनाविनाभूतमुद्योतमाननिर्विघ्नत्रैलक्षण्यलाञ्छनं द्रव्यमवश्यमनुमन्तव्यम् ।। १०० ।।

अथोत्पादादीनां द्रव्यादर्थान्तरत्वं संहरति –

उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया ।
दव्वे हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ।। १०१ ।।

उत्पादस्थितिभङ्गा विद्यन्ते पर्यायेषु पर्यायाः ।
द्रव्ये हि सन्ति नियतं तस्माद्द्रव्यं भवति सर्वम् ।। १०१ ।।

पर्यायाभावस्तर्ह्यभाव एव न स्यात् । कस्मात् । अभावकारणाभावादिति, घटोत्पादाभावे मृत्पिण्डाभावस्य इव । उप्पादो वि य भंगो ण विणा दव्वेण अत्थेण परमात्मरुचिरूपसम्यक्त्वस्योत्पादस्तद्विपरीतमिथ्यात्वस्य भङ्गो वा नास्ति । कं विना । तदुभयाधारभूतपरमात्मरूपद्रव्यपदार्थं विना । कस्मात् । द्रव्याभावे व्ययोत्पादाभावान्मृत्तिकाद्रव्याभावे घटोत्पादमृत्पिण्डभङ्गाभाववदिति । यथा सम्यक्त्वमिथ्यात्वपर्यायद्वये परस्परसापेक्षमुत्पादादित्रयं दर्शितं तथा सर्वद्रव्यपर्यायेषु द्रष्टव्य-

---

स्थितिका – अन्वयका – उसके अभाव होनेसे, स्थिति ही नहीं होगी; अथवा तो क्षणिकको ही नित्यत्व आजायगा । वहाँ (१) यदि मृत्तिकाकी स्थिति न हो तो समस्त ही भावोंकी स्थिति नहीं होगी, (अर्थात् यदि मिट्टी ध्रुव न रहे तो मिट्टीकी ही भाँति विश्वका कोई भी द्रव्य ध्रुव ही नहीं रहेगा, – टिकेगा ही नहीं यह दोष आयगा ।) अथवा (२) यदि क्षणिकका नित्यत्व हो तो चित्तके क्षणिक-भावोंका भी नित्यत्व होगा; (अर्थात् मनका प्रत्येक विकल्प भी त्रैकालिक ध्रुव हो जाय, – यह दोष आयगा ।)

इसलिये द्रव्यको [1]उत्तर उत्तर व्यतिरेकोंके सर्गके साथ, पूर्व पूर्वके व्यतिरेकोंके संहारके साथ और अन्वयके अवस्थान (ध्रौव्य) के साथ अविनाभाववाला, जिसको निर्विघ्न (अबाधित) त्रिलक्षणतारूप [2]लांछन प्रकाशमान है ऐसा अवश्य सम्मत करना ।। १०० ।।

---

[1] उत्तर उत्तर=बाद बादके ।
[2] लांछन=चिह्न ।

उत्पाद तेम ज ध्रौव्य ने संहार वर्ते पर्यये ।
ने पर्ययो द्रव्ये नियमथी, सर्व तेथी द्रव्य छे ।। १०१ ।।

उत्पादव्ययध्रौव्याणि हि पर्यायानालम्बन्ते, ते पुनः पर्याया द्रव्यमालम्बन्ते । ततः समस्तमप्येतदेकमेव द्रव्यं न पुनर्द्रव्यान्तरम् । द्रव्यं हि तावत्पर्यायैरालम्ब्यते । समुदायिनः समुदायात्मकत्वात् पादपवत् । यथा हि समुदायी पादपः स्कन्धमूलशाखासमुदायात्मकः स्कन्धमूलशाखाभिरालम्बित एव प्रतिभाति, तथा समुदायि द्रव्यं पर्यायसमुदायात्मकं पर्यायैरालम्बितमेव प्रतिभाति । पर्यायास्तूत्पादव्ययध्रौव्यैरालम्ब्यन्ते उत्पादव्ययध्रौव्या-

---

निश्चिनोति ॥ १०० ॥ उत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्येण सह परस्पराधाराधेयभावत्वादन्वयद्रव्या-र्थिकनयेन द्रव्यमेव भवन्तीत्युपदिशति — उप्पादट्ठिदिभंगा विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्वनिर्विकार-[illegible] क्षणे स्वसंवेदनज्ञानविलक्षणाज्ञानपर्यायरूपेण भङ्गः, तदुभया-[illegible] स्थितिरित्युक्तलक्षणास्त्रयो भङ्गाः कर्तारः । विज्जंते विद्यन्ते तिष्ठन्ति । [illegible] पज्जएसु [illegible] निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानपर्याये तावदुत्पादस्तिष्ठति स्वसंवेदनज्ञान-[illegible] भङ्गस्तदुभयाधारात्मद्रव्यत्वावस्थारूपपर्यायेण ध्रौव्यं चेत्युक्तलक्षण-[illegible] । पज्जाया दव्वं हि संति ते नोक्तलक्षणज्ञानाज्ञानतदुभयाधारात्मद्रव्यत्वावस्था-[illegible] । णियदं निश्चितं प्रदेशाभेदेऽपि स्वकीयस्वकीयसंज्ञालक्षणप्रयोजना-

---

[illegible] द्रव्यसे अर्थान्तरत्वको नष्ट करते हैं; (अर्थात् यह सिद्ध करते [illegible] पृथक् पदार्थ नहीं हैं) :—

णामंशधर्मत्वात् बीजाङ्कुरपादपत्ववत् । यथा किलांशिनः पादपस्य बीजाङ्कुरपादपत्वलक्षणास्त्रयोंऽशा भङ्गोत्पादध्रौव्यलक्षणैरात्मधर्मैरालम्बिताः सममेव प्रतिभान्ति, तथांशिनो द्रव्यस्योच्छिद्यमानोत्पद्यमानावतिष्ठमानभावलक्षणास्त्रयोंऽशा भङ्गोत्पादध्रौव्यलक्षणैरात्मधर्मैरालम्बिताः सममेव प्रतिभान्ति । यदि पुनर्भङ्गोत्पादध्रौव्याणि द्रव्यस्यैवेष्यन्ते

दिभेदेन। तम्हा दव्वं हवदि सव्वं यतो निश्चयाधाराधेयभावेन तिष्ठन्त्युत्पादादयस्तस्मात्कारणादुत्पादादित्रयं स्वसंवेदनज्ञानादिपर्यायित्रयं चान्वयद्रव्यार्थिकनयेन सर्वं द्रव्यं भवति। पूर्वोक्तोत्पादादित्रयस्य तथैव स्वसंवेदनज्ञानादिपर्यायित्रयस्य चानुगताकारेणान्वयरूपेण यदाधारभूतं तदन्वयद्रव्यं

वृक्षाश्रित ही हैं – वृक्षसे भिन्न पदार्थरूप नहीं हैं, उसीप्रकार पर्यायें द्रव्याश्रित ही हैं, – द्रव्यसे भिन्न पदार्थरूप नहीं हैं ।)

और पर्यायें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यके द्वारा आलम्बित हैं (अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य पर्यायाश्रित हैं) क्योंकि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अंशोंके धर्म हैं ([1]अंशीके नहीं); बीज, अंकुर और वृक्षत्वकी भाँति । जैसे अंशीवृक्षके बीज अंकुर-वृक्षत्वस्वरूप तीन अंश, व्यय-उत्पाद-ध्रौव्यस्वरूप निज धर्मोंसे आलम्बित एक साथ ही भासित होते हैं, उसीप्रकार अंशी-द्रव्यके, नष्ट होता हुआ भाव, उत्पन्न होता हुआ भाव, और अवस्थित रहनेवाला भाव; – यह तीनों अंश व्यय-उत्पाद-ध्रौव्यस्वरूप निजधर्मोंके द्वारा आलम्बित एक साथ ही भासित होते हैं। किन्तु यदि (१) भंग, (२) उत्पाद और (३) ध्रौव्यको (अंशीका न मानकर) द्रव्यका ही माना जाय तो सारा [2]विप्लव को प्राप्त होगा । यथा – (१) पहले, यदि द्रव्यका ही भंग माना जाय तो [3]क्षणभंगसे लक्षित समस्त द्रव्योंका एक क्षणमें ही संहार होजानेसे द्रव्यशून्यता आजायगी, अथवा सत्का उच्छेद हो जायगा । (२) यदि द्रव्यका ही उत्पाद माना जाय तो समय-समय पर होनेवाले उत्पादके द्वारा चिह्नित ऐसे द्रव्योंको प्रत्येकको अनन्तता आजायगी । (अर्थात् समय-समयपर होनेवाला उत्पाद जिसका चिह्न हो ऐसा प्रत्येक द्रव्य अनन्त द्रव्यत्वको प्राप्त होजायगा) अथवा असत्का उत्पाद होजायगा; (३) यदि द्रव्यका ही ध्रौव्य माना जाय तो क्रमशः होनेवाले भावोंके अभावके कारण द्रव्यका अभाव आयगा, अथवा क्षणिकपना होगा ।

---

[1] अंशी=अंशोंवाला; अंशोंका बना हुआ । (द्रव्य अंशी है ।)

[2] विप्लव=अंधाधुंधी,=उथलपुथल; घोटाला; विरोध ।

[3] क्षण=विनाश जिनका लक्षण हो ऐसे ।

ह्युत्पादादीनां वितर्क्यमाणः क्षणभेदो हृदयभूमिमवतरति । अवतरत्येवं यदि द्रव्यमात्मनैवोत्पद्यते आत्मनैवावतिष्ठते आत्मनैव नश्यतीत्यभ्युपगम्यते । तत्तु नाभ्युपगतम् । पर्यायाणामेवोत्पादादयः कुतः क्षणभेदः । तथाहि – यथा कुलालदण्डचक्रचीवरारोप्यमाणसंस्कारसन्निधौ य एव वर्धमानस्य जन्मक्षणः स एव मृत्पिण्डस्य नाशक्षणः स एव च कोटिद्वयाधिरूढस्य मृत्तिकात्वस्य स्थितिक्षणः । तथा अन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनारोप्यमाणसंस्कारसन्निधौ य एवोत्तरपर्यायस्य जन्मक्षणः स एव प्राक्तनपर्यायस्य नाशक्षणः स एव च कोटिद्वयाधिरूढस्य द्रव्यत्वस्य स्थितिक्षणः । यथा च वर्धमानमृत्पिण्डमृत्तिकात्वेषु प्रत्येकवर्तीन्युत्पादव्ययध्रौव्याणि त्रिस्वभावस्पर्शिन्यां मृत्तिकायां सामस्त्येनैकसमय एवावलोक्यन्ते, तथा उत्तरप्राक्तनपर्यायद्रव्यत्वेषु प्रत्येकवर्तीन्यप्युत्पादव्ययध्रौव्याणि त्रिस्वभावस्पर्शिनि द्रव्ये सामस्त्येनैकसमय एवावलोक्यन्ते । यथैव च वर्धमानपिण्डमृत्तिकात्ववर्तीन्युत्पादव्ययध्रौव्याणि मृत्तिकैव न वस्त्वन्तरं, तथैवोत्तरप्राक्तनपर्यायद्रव्यत्ववर्तीन्यप्युत्पाद-

अथ द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्याण्यनेकद्रव्यपर्यायद्वारेण चिन्तयति –

पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो।
दव्वस्स तं पि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं ॥ १०३ ॥

प्रादुर्भवति चान्यः पर्यायः पर्यायो व्येति अन्यः।
द्रव्यस्य तदपि द्रव्यं नैव प्रणष्टं नोत्पन्नम् ॥ १०३ ॥

मुख्यतया गाथात्रयेण तृतीयस्थलं गतम्। अथ द्रव्यपर्यायेणोत्पादव्ययध्रौव्याणि दर्शयति – **पाडुब्भवदि य** प्रादुर्भवति च जायते। **अण्णो** अन्यः कश्चिदपूर्वानन्तज्ञानसुखादिगुणास्पदभूतः शाश्वतिकः। स कः। **पज्जाओ** परमात्मावाप्तिरूपः स्वभावद्रव्यपर्यायः। **पज्जओ वयदि अण्णो** पर्यायो व्येति विनश्यति। कथंभूतः। अन्यः पूर्वोक्तमोक्षपर्यायाद्भिन्नो निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपस्यैव मोक्षपर्याय-

---

सम्पूर्णतया (सभी एकसाथ) एक समयमें ही देखे जाते हैं; इसीप्रकार उत्तर पर्यायमें, पूर्वपर्यायमें और द्रव्यत्वमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य प्रत्येकतया (एक-एक) प्रवर्तमान होनेपर भी [1]त्रिस्वभावस्पर्शी द्रव्यमें वे सम्पूर्णतया (तीनों एकसाथ) एक समयमें ही देखे जाते हैं।

और जैसे रामपात्र, मृत्तिकापिण्ड तथा मिट्टीपनमें प्रवर्तमान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मिट्टी ही हैं, अन्य वस्तु नहीं; उसीप्रकार उत्तर पर्याय, पूर्व पर्याय, और द्रव्यत्वमें प्रवर्तमान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य द्रव्य ही हैं, अन्य पदार्थ नहीं ॥ १०२ ॥

अब, द्रव्यके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यको [2]अनेकद्रव्यपर्याय द्वारा विचारते हैं :–

गाथा १०३

अन्वयार्थ :– [**द्रव्यस्य**] द्रव्यकी [**अन्यः पर्यायः**] अन्य पर्याय [**प्रादुर्भवति**] उत्पन्न होती है [**च**] और [**अन्यः पर्यायः**] कोई अन्य पर्याय [**व्येति**] नष्ट होती है; [**तदपि**] फिर भी [**द्रव्यं**] द्रव्य [**प्रणष्टं न एव**] न तो नष्ट है, [**उत्पन्नं न**] न उत्पन्न है (-वह ध्रुव है।)

---

[1] त्रिस्वभावस्पर्शी=तीनों स्वभावोंको स्पर्श करनेवाला। (द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य – इन तीनों स्वभावोंको धारण करता है।)

[2] अनेकद्रव्यपर्याय=एकसे अधिक द्रव्योंके संयोगसे होनेवाली पर्याय।

उपजे दरवनो अन्य पर्यय, अन्य को विणसे वली।
पण द्रव्य तो नथी नष्ट के उत्पन्न द्रव्य नथी तहीं ॥ १०३ ॥

इत्युत्पादादीनां वितर्क्यमाणः क्षणभेदो हृदयभूमिमवतरति। अवतरत्येवं यदि द्रव्यमात्मनैवोत्पद्यते आत्मनैवावतिष्ठते आत्मनैव नश्यतीत्यभ्युपगम्यते। तत्तु नाभ्युपगतम्। पर्यायाणामेवोत्पादादयः कुतः क्षणभेदः। तथाहि – यथा कुलालदण्डचक्रचीवरारोप्यमाणसंस्कारसन्निधौ य एव वर्धमानस्य जन्मक्षणः स एव मृत्पिण्डस्य नाशक्षणः स एव च कोटिद्वयाधिरूढस्य मृत्तिकात्वस्य स्थितिक्षणः। तथा अन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनारोप्यमाणसंस्कारसन्निधौ य एवोत्तरपर्यायस्य जन्मक्षणः स एव प्राक्तनपर्यायस्य नाशक्षणः स एव च कोटिद्वयाधिरूढस्य द्रव्यत्वस्य स्थितिक्षणः। यथा च वर्धमानमृत्पिण्डमृत्तिकात्वेषु प्रत्येकवर्तीन्यप्युत्पादव्ययध्रौव्याणि त्रिस्वभावस्पर्शिन्यां मृत्तिकायां सामस्त्येनैकसमय एवावलोक्यन्ते, तथा उत्तरप्राक्तनपर्यायद्रव्यत्वेषु प्रत्येकवर्तीन्यप्युत्पादव्ययध्रौव्याणि त्रिस्वभावस्पर्शिनि द्रव्ये सामस्त्येनैकसमय एवावलोक्यन्ते। यथैव च वर्धमानपिण्डमृत्तिकात्ववर्तीन्युत्पादव्ययध्रौव्याणि मृत्तिकैव न वस्त्वन्तरं, तथैवोत्तरप्राक्तनपर्यायद्रव्यत्ववर्तीन्यप्युत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्यमेव न पदार्थान्तरम्॥ १०२॥

अथ द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्याण्यनेकद्रव्यपर्यायद्वारेण चिन्तयति –

पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो ।
दव्वस्स तं पि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं ॥ १०३ ॥

प्रादुर्भवति चान्यः पर्यायः पर्यायो व्येति अन्यः ।
द्रव्यस्य तदपि द्रव्यं नैव प्रणष्टं नोत्पन्नम् ॥ १०३ ॥

मुख्यतया गाथात्रयेण तृतीयस्थलं गतम् । अथ द्रव्यपर्यायेणोत्पादव्ययध्रौव्याणि दर्शयति – **पाडुब्भवदि य** प्रादुर्भवति च जायते । **अण्णो** अन्यः कश्चिदपूर्वानन्तज्ञानसुखादिगुणास्पदभूतः शाश्वतिकः । स कः । **पज्जाओ** परमात्मावाप्तिरूपः स्वभावद्रव्यपर्यायः । **पज्जओ वयदि अण्णो** पर्यायो व्येति विनश्यति । कथंभूतः । अन्यः पूर्वोक्तमोक्षपर्यायाद्भिन्नो निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपस्यैव मोक्षपर्याय-

सम्पूर्णतया (सभी एकसाथ) एक समयमें ही देखे जाते हैं; इसीप्रकार उत्तर पर्यायमें, पूर्वपर्यायमें और द्रव्यत्वमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य प्रत्येकतया (एक-एक) प्रवर्तमान होनेपर भी [1]त्रिस्वभावस्पर्शी द्रव्यमें वे सम्पूर्णतया (तीनों एकसाथ) एक समयमें ही देखे जाते हैं ।

और जैसे रामपात्र, मृत्तिकापिण्ड तथा मिट्टीपनमें प्रवर्तमान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मिट्टी ही हैं, अन्य वस्तु नहीं; उसीप्रकार उत्तर पर्याय, पूर्व पर्याय, और द्रव्यत्वमें प्रवर्तमान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य द्रव्य ही हैं, अन्य पदार्थ नहीं ॥ १०२ ॥

अब, द्रव्यके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यको [2]अनेकद्रव्यपर्याय द्वारा विचारते हैं :–

गाथा १०३

अन्वयार्थ :– [**द्रव्यस्य**] द्रव्यकी [**अन्यः पर्यायः**] अन्य पर्याय [**प्रादुर्भवति**] उत्पन्न होती है [**च**] और [**अन्यः पर्यायः**] कोई अन्य पर्याय [**व्येति**] नष्ट होती है; [**तदपि**] फिर भी [**द्रव्यं**] द्रव्य [**प्रणष्टं न एव**] न तो नष्ट है, [**उत्पन्नं न**] न उत्पन्न है (-वह ध्रुव है।)

[1] त्रिस्वभावस्पर्शी=तीनों स्वभावोंको स्पर्श करनेवाला । (द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य – इन तीनों स्वभावोंको धारण करता है ।)

[2] अनेकद्रव्यपर्याय=एकसे अधिक द्रव्योंके संयोगसे होनेवाली पर्याय ।

उपजे दरवनो अन्य पर्यय, अन्य को विणसे वली ।
पण द्रव्य तो नथी नष्ट के उत्पन्न द्रव्य नथी तहीं ॥ १०३ ॥

एकद्रव्यपर्याया हि गुणपर्यायाः, गुणपर्यायाणामेकद्रव्यत्वात् । एक द्रव्यत्वं हि तेषां सहकारफलवत् । यथा किल सहकारफलं स्वयमेव हरितभावात् पाण्डुभावं परिणमत्पूर्वोत्तरप्रवृत्तहरितपाण्डुभावाभ्यामनुभूतात्मसत्ताकं हरितपाण्डुभावाभ्यां सममविशिष्टसत्ताकतयैकमेव वस्तु न वस्त्वन्तरं, तथा द्रव्यं स्वयमेव पूर्वावस्थावस्थितगुणादुत्तरावस्थावस्थितगुणं परिणमत्पूर्वोत्तरावस्थावस्थितगुणाभ्यां ताभ्यामनुभूतात्मसत्ताकं पूर्वोत्तरावस्थावस्थितगुणाभ्यां सममविशिष्टसत्ताकतयैकमेव द्रव्यं न द्रव्यान्तरम् । यथैव चोत्पद्यमानं पाण्डुभावेन, व्ययमानं हरितभावेनावतिष्ठमानं सहकारफलत्वेनोत्पादव्ययध्रौव्याण्येकवस्तुपर्यायद्वारेण सहकारफलं तथैवोत्पद्यमानमुत्तरावस्थावस्थितगुणेन, व्ययमानं पूर्वावस्थावस्थितगुणेनावतिष्ठमानं द्रव्यत्वगुणेनोत्पादव्ययध्रौव्याण्येकद्रव्यपर्यायद्वारेण द्रव्यं भवति ।। १०४ ।।

कं परिणमति । **गुणदो य गुणंतरं** निरुपरागस्वसंवेदनज्ञानगुणात् केवलज्ञानोत्पत्तिबीजभूतात्सकाशात्सकलविमलकेवलज्ञानगुणान्तरम् । कथंभूतं सत्परिणमति । **सदविसिट्ठं** स्वकीयस्वरूपत्वाच्चिद्रूपास्तित्वादविशिष्टमभिन्नम् । **तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेव त्ति** तस्मात् कारणान्न केवलं पूर्वसूत्रोदिताः द्रव्यपर्यायाः द्रव्यं भवन्ति, गुणरूपपर्याया गुणपर्याया भण्यन्ते तेऽपि द्रव्यमेव भवन्ति । अथवा संसारिजीवद्रव्यं मतिस्मृत्यादिविभावगुणं त्यक्त्वा श्रुतज्ञानादिविभावगुणान्तरं परिणमति, पुद्गलद्रव्यं वा पूर्वोक्तशुक्लवर्णादिगुणं त्यक्त्वा रक्तादिगुणान्तरं परिणमति, हरितगुणं त्यक्त्वा पाण्डुरगुणान्तरमाम्रफलमिवेति भावार्थः ।।१०४।। एवं स्वभावविभावरूपा द्रव्यपर्याया गुणपर्यायाश्च

स्वयं ही पूर्व अवस्थामें अवस्थित गुणमेंसे उत्तर अवस्थामें अवस्थित गुणरूप परिणमित होता हुआ, पूर्व और उत्तर अवस्थामें अवस्थित उन गुणोंके द्वारा अपनी सत्ताका अनुभव करता है, इसलिये पूर्व और उत्तर अवस्थामें अवस्थित गुणोंके साथ अवशिष्ट सत्तावाला होनेसे एक ही द्रव्य है, द्रव्यान्तर नहीं ।

(आमके दृष्टान्तकी भाँति, द्रव्य स्वयं ही गुणकी पूर्व पर्यायमेंसे उत्तरपर्यायरूप परिणमित होता हुआ, पूर्व और उत्तर गुणपर्यायोंके द्वारा अपने अस्तित्वका अनुभव करता है, इसलिये पूर्व और उत्तर गुणपर्यायोंके साथ अभिन्न अस्तित्व होनेसे एक ही द्रव्य है, द्रव्यान्तर नहीं; अर्थात् वे वे गुणपर्यायें और द्रव्य एक ही द्रव्यरूप हैं, भिन्न-भिन्न द्रव्य नहीं हैं ।)

और, जैसे पीतभावसे उत्पन्न होता हरितभावसे नष्ट होता और आम्रफलरूपसे स्थिर रहता होनेसे आम्रफल एक वस्तुकी पर्यायों द्वारा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है, उसीप्रकार उत्तर अवस्थामें अवस्थित गुणसे उत्पन्न, पूर्व अवस्थामें अवस्थित गुणसे नष्ट और

अथ सत्ताद्रव्ययोरनर्थान्तरत्वे युक्तिमुपन्यस्यति –

ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुव्वं हवदि तं कहं दव्वं ।
हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता ।। १०५ ।।

न भवति यदि सद्द्रव्यमसद्ध्रुवं भवति तत्कथं द्रव्यम् ।
भवति पुनरन्यद्वा तस्माद्द्रव्यं स्वयं सत्ता ।। १०५ ।।

नयविभागेन द्रव्यलक्षणं भवन्ति इति कथनमुख्यतया गाथाद्वयेन चतुर्थस्थलं गतम् । अथ सत्ताद्रव्ययोरभेदविषये पुनरपि प्रकारान्तरेण युक्तिं दर्शयति – ण हवदि जदि सद्दव्वं परमचैतन्यप्रकाशरूपेण स्वरूपेण स्वरूपसत्तास्तित्वगुणेन यदि चेत् सन्न भवति । किं कर्तृ । परमात्मद्रव्यं । तदा असद्धुवं होदि असदविद्यमानं भवति ध्रुवं निश्चितम् । अविद्यमानं सत् तं कहं दव्वं तत्परमात्मद्रव्यं कथं भवति, किंतु नैव । स च प्रत्यक्षविरोधः । कस्मात् । स्वसंवेदनज्ञानेन गम्यमानत्वात् । अथाविचारितरमणीयन्यायेन सत्तागुणाभावेऽप्यस्तीति चेत्, तत्र विचार्यते – यदि केवलज्ञानदर्शनगुणाविनाभूतस्वकीयस्वरूपास्तित्वात्पृथग्भूता तिष्ठति तदा स्वरूपास्तित्वं नास्ति, स्वरूपास्तित्वाभावे द्रव्यमपि नास्ति । अथवा स्वकीयस्वरूपास्तित्वात्संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि प्रदेशरूपेणाभिन्नं तिष्ठति

द्रव्यत्व गुणसे स्थिर होनेसे, द्रव्य एकद्रव्यपर्यायके द्वारा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है ।

भावार्थ :– इससे पूर्वकी गाथामें द्रव्यपर्यायके द्वारा (अनेक द्रव्यपर्यायोंके द्वारा) द्रव्यके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बताये गये थे । इस गाथामें गुणपर्यायके द्वारा (एकद्रव्यपर्यायके द्वारा) द्रव्यके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बताये गये हैं ।। १०४ ।।

अब, सत्ता और द्रव्य अर्थान्तर (भिन्न पदार्थ, अन्य पदार्थ) नहीं होनेके सम्बन्धमें युक्ति उपस्थित करते हैं :–

गाथा १०५

अन्वयार्थ :– [यदि] यदि [द्रव्यं] द्रव्य [सत् न भवति] (स्वरूपसे ही) सत् न हो तो – (१) [ध्रुवं असत् भवति] निश्चयसे वह असत् होगा; [तत् कथं द्रव्यं] (जो असत् होगा) वह द्रव्य कैसे हो सकता है ? [पुनः वा] अथवा (यदि असत् न हो) तो (२) [अन्यत् भवति] वह सत्तासे अन्य (पृथक्) हो ! (सो भी कैसे हो सकता है ?) [तस्मात्] इसलिये [द्रव्यं स्वयं] द्रव्य स्वयं ही [सत्ता] है ।

जो द्रव्य होय न सत्, ठरे ज असत्, बने क्यम द्रव्य ए ?
वा भिन्न ठरतुं सत्त्वथी ! तेथी स्वयं ते सत्त्व छे ।। १०५ ।।

यदि हि द्रव्यं स्वरूपत एव सन्न स्यात्तदा द्वितयी गतिः असद्वा भवति, सत्तातः पृथग्वा भवति । तत्रासद्भवद्ध्रौव्यस्यासंभवादात्मानमधारयद्द्रव्यमेवास्तं गच्छेत् । सत्तातः पृथग्भवत् सत्तामन्तरेणात्मानं धारयत्तावन्मात्रप्रयोजनां सत्तामेवास्तं गमयेत् । स्वरूपतस्तु सद्भवद्ध्रौव्यस्य संभवादात्मानं धारयद्द्रव्यमुद्गच्छेत् । सत्तातोऽपृथग्भूत्वा चात्मानं धारयत्तावन्मात्रप्रयोजनां सत्तामुद्गमयेत् । ततः स्वयमेव द्रव्यं सत्त्वेनाभ्युपगन्तव्यं, भावभाववतोरपृथक्त्वेनान्यत्वात् ।। १०५ ।।

तदा संमतमेव । अत्रावसरे सौगतमतानुसारी कश्चिदाह—सिद्धपर्यायसत्तारूपेण शुद्धात्मद्रव्यमुपचारेणास्ति, न च मुख्यवृत्त्येति । परिहारमाह—सिद्धपर्यायोपादानकारणभूतपरमात्मद्रव्याभावे सिद्धपर्यायसत्तैव न संभवति, वृक्षाभावे फलमिव । अत्र प्रस्तावे नैयायिकमतानुसारी कश्चिदाह—**हवदि पुणो अण्णं वा** तत्परमात्मद्रव्यं भवति पुनः किंतु सत्तायाः सकाशादन्यद्भिन्नं भवति पश्चात्सत्तासमवायात्सद्भवति । आचार्याः परिहारमाहुः—सत्तासमवायात्पूर्वं द्रव्यं सदसद्वा, यदि सत्तदा सत्तासमवायो वृथा, पूर्वमेवास्तित्वं तिष्ठति; अथासत्तर्हि खपुष्पवदविद्यमानद्रव्येण सह कथं सत्ता समवायं करोति, करोतीति चेत्तर्हि खपुष्पेणापि सह सत्ता कर्तृ समवायं करोतु, न च तथा । **तम्हा दव्वं सयं सत्ता** तस्मादभेदनयेन शुद्धचैतन्यस्वरूपसत्तैव परमात्मद्रव्यं भवतीति । यथेदं परमात्मद्रव्येण सह शुद्धचेतनासत्ताया अभेदव्याख्यानं कृतं तथा सर्वेषां चेतनाचेतनद्रव्याणां स्वकीयस्वकीयसत्तया सहाभेदव्याख्यानं कर्तव्यमित्यभिप्रायः ।। १०५ ।।

टीका :— यदि द्रव्य स्वरूपसे ही [1]सत् न हो तो दूसरी गति यह हो कि वह (१) [2]असत् होगा, अथवा (२) सत्तासे पृथक् होगा । वहाँ, (१) यदि वह असत् होगा तो, ध्रौव्यके असंभवके कारण स्वयं स्थिर न होता हुआ द्रव्यका ही [3]अस्त हो जायगा; और (२) यदि सत्तासे पृथक् हो तो सत्ताके विना भी स्वयं रहता हुआ, इतना ही मात्र जिसका प्रयोजन है ऐसी [4]सत्ताको ही अस्त कर देगा ।

किन्तु यदि द्रव्य स्वरूपसे ही सत् हो तो — (१) ध्रौव्यके सद्भावके कारण स्वयं स्थिर रहता हुआ, द्रव्य उदित होता है, (अर्थात् सिद्ध होता है); और (२) सत्तासे अपृथक् रहकर स्वयं स्थिर (-विद्यमान) रहता हुआ, इतना ही मात्र जिसका प्रयोजन है ऐसी सत्ताको उदित (सिद्ध) करता है ।

---

[1] सत्=मौजूद ।

[2] असत्=नहीं मौजूद ऐसा ।

[3] अस्त=नष्ट । [जो असत् हो उसका टिकना – मौजूद रहना कैसा ? इसलिये द्रव्यको असत् माननेसे, द्रव्यके अभावका प्रसंग आता है अर्थात् द्रव्य ही सिद्ध नहीं होता ।]

[4] सत्ताका कार्य इतना ही है कि वह द्रव्यको विद्यमान रखे । यदि द्रव्य सत्तासे भिन्न रहकर भी स्थिर रहे तो फिर सत्ताका प्रयोजन ही नहीं रहता, अर्थात् सत्ताके अभावका प्रसंग आजायगा ।

अथ पृथक्त्वान्यत्वलक्षणमुन्मुद्रयति –

पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स ।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं ।। १०६ ।।

प्रविभक्तप्रदेशत्वं पृथक्त्वमिति शासनं हि वीरस्य ।
अन्यत्वमतद्भावो न तद्भवत् भवति कथमेकम् ।। १०६ ।।

अथ पृथक्त्वलक्षणं किमन्यत्वलक्षणं च किमिति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति – **पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तं** पृथक्त्वं भवति पृथक्त्वाभिधानो भेदो भवति । किंविशिष्टम् । प्रकर्षेण विभक्तप्रदेशत्वं भिन्नप्रदेशत्वम् । किंवत् । दण्डदण्डिवत् । इत्थंभूतं पृथक्त्वं शुद्धात्मद्रव्यशुद्धसत्तागुणयोर्न घटते ।

इसलिये द्रव्य स्वयं ही सत्त्व (सत्ता) है ऐसा स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि भाव और [1]भाववान्‌का अपृथक्त्व द्वारा अनन्यत्व है ।। १०५ ।।

अब, पृथक्त्वका और अन्यत्वका लक्षण स्पष्ट करते हैं :–

गाथा १०६

अन्वयार्थ :– [प्रविभक्तप्रदेशत्वं] विभक्तप्रदेशत्व वह [पृथक्त्वं] पृथक्त्व है, [इति हि] ऐसा [वीरस्य शासनं] वीरका उपदेश है । [अतद्भावः] अतद्‌भाव (उस-रूप न होना) वह [अन्यत्व] अन्यत्व है । [न तत् भवत्] जो उसरूप न हो [कथं एकम् भवति] वह एक कैसे हो सकता है ? (कथंचित् सत्ता द्रव्यरूप नहीं है और द्रव्य सत्तारूप नहीं है, इसलिये वे एक नहीं हैं ।)

टीका :– विभक्त प्रदेशत्व (भिन्न प्रदेशत्व) पृथक्त्वका लक्षण है । वह तो सत्ता और द्रव्यमें सम्भव नहीं है, क्योंकि गुण और गुणीमें विभक्तप्रदेशत्वका अभाव होता है– शुक्लत्व और वस्त्रकी भाँति । वह इसप्रकार है कि जैसे – जो शुक्लत्वके – गुणके – प्रदेश हैं वे ही वस्त्रके – गुणीके – हैं, इसलिये उनमें प्रदेशभेद नहीं है; इसीप्रकार जो सत्ताके – गुणके–प्रदेश हैं वे ही द्रव्यके – गुणीके – हैं, इसलिये उनमें प्रदेशभेद नहीं है ।

---

[1] भाववान्=भाववाला । [द्रव्य भाववाला है और सत्ता उसका भाव है । वे अपृथक् हैं, इस अपेक्षासे अनन्य हैं । पृथक्त्व और अन्यत्वका भेद जिस अपेक्षासे है उस अपेक्षाको लेकर उनके विशेषार्थ आगामी गाथामें कहेंगे, उन्हें यहाँ नहीं लगाना चाहिये, किन्तु यहाँ अनन्यत्वको अपृथक्त्वके अर्थमें ही समझना चाहिये ।]

जिन वीरनो उपदेश अेम–पृथक्त्व भिन्नप्रदेशता ।
अन्यत्व जाण अतत्पणुं; नहि ते–पणे ते अेक क्यां ? ।। १०६ ।।

प्रविभक्तप्रदेशत्वं हि पृथक्त्वस्य लक्षणम् । तत्तु सत्ताद्रव्ययोर्न संभाव्यते, गुणगुणिनोः प्रविभक्तप्रदेशत्वाभावात् शुक्लोत्तरीयवत् । तथाहि – यथा य एव शुक्लस्य गुणस्य प्रदेशास्त एवोत्तरीयस्य गुणिन इति तयोर्न प्रदेशविभागः, तथा य एव सत्ताया

कस्माद्धेतोः । भिन्नप्रदेशाभावात् । कयोरिव । शुक्लवस्त्रशुक्लगुणयोरिव । इदि सासणं हि वीरस्स इति शासनमुपदेश आज्ञेति । कस्य । वीरस्य वीराभिधानान्तिमतीर्थंकरपरमदेवस्य । अण्णत्तं तथापि

ऐसा होनेपर भी उनमें (-सत्ता और द्रव्यमें) अन्यत्व है, क्योंकि (उनमें) अन्यत्वके लक्षणका सद्भाव है । [1]अतद्भाव अन्यत्वका लक्षण है । वह तो सत्ता और द्रव्यके है ही, क्योंकि गुण और गुणीके [2]तद्भावका अभाव होता है – शुक्लत्व और वस्त्रकी भांति । वह इसप्रकार है कि:– जैसे एक चक्षुइन्द्रियके विषयमें आनेवाला और अन्य सब इन्द्रियोंके समूहको गोचर न होनेवाला शुक्लत्व गुण है वह समस्त इन्द्रिय-समूहको गोचर होनेवाला ऐसा वस्त्र नहीं है; और जो समस्त इन्द्रियसमूहको गोचर होनेवाला वस्त्र है वह एक चक्षुइन्द्रियके विषयमें आनेवाला तथा अन्य समस्त इन्द्रियोंके समूहको गोचर न होनेवाला ऐसा शुक्लत्व गुण नहीं है, इसलिये उनके तद्भावका अभाव है; इसीप्रकार, [3]किसीके आश्रय रहनेवाली, [4]निर्गुण, एक गुणकी बनी हुई, [5]विशेषण [6]विधायक और [7]वृत्तिस्वरूप जो सत्ता है वह किसीके आश्रयके बिना रहने-

---

1 अतद्भाव=(कथंचित्) उसका न होना; (कथंचित्) उसरूप न होना (कथंचित्) अतद्रूपता । द्रव्य कथंचित् सत्तारूपसे नहीं है और सत्ता कथंचित् द्रव्यरूपसे नहीं है, इसलिये उनके अतद्भाव है ।

2 तद्भाव=उसका होना, उसरूप होना, तद्रूपता ।

3 सत्ता द्रव्यके आश्रयसे रहती है, द्रव्यको किसीका आश्रय नहीं है । [जैसे घड़ेमें घी रहता है, उसीप्रकार द्रव्यमें सत्ता नहीं रहती (क्योंकि घड़ेमें और घीमें तो प्रदेशभेद है) किन्तु जैसे आममें वर्ण गंधादि हैं उसीप्रकार द्रव्यमें सत्ता है ।]

4 निर्गुण=गुणरहित [सत्ता निर्गुण है, द्रव्य गुणवाला है । जैसे आम वर्ण, गंध, स्पर्शादि गुणयुक्त है, किन्तु वर्णगुण कहीं गंध, स्पर्श या अन्य किसी गुणवाला नहीं है, क्योंकि न तो वर्ण सूंघा जाता है और न स्पर्श किया जाता है । और जैसे आत्मा ज्ञानगुणवाला, वीर्यगुणवाला इत्यादि है, परन्तु ज्ञानगुण कहीं वीर्यगुणवाला या अन्य किसी गुणवाला नहीं है; इसीप्रकार द्रव्य अनन्त गुणोंवाला है, परन्तु सत्ता गुणवाली नहीं है । (यहाँ, जैसे दण्डी दण्डवाला है उसीप्रकार द्रव्यको गुणवाला नहीं समझना चाहिये; क्योंकि दण्डी और दण्डमें प्रदेशभेद है, किन्तु द्रव्य और गुण अभिन्नप्रदेशी हैं ।)]

5 विशेषण=विशेषता, लक्षण; भेदक धर्म ।

6 विधायक=विधान करनेवाला; रचयिता ।

7 वृत्ति=होना; टिकना; उत्पादव्ययध्रौव्य ।

गुणस्य प्रदेशास्त एव द्रव्यस्य गुणिन इति तयोर्न प्रदेशविभागः। एवमपि तयोरन्यत्वमस्तितल्लक्षणसद्भावात्। अतद्भावो ह्यन्यत्वस्य लक्षणं, तत्तु सत्ताद्रव्ययोर्विद्यत एव गुणगुणिनोस्तद्भावस्याभावात् शुक्लोत्तरीयवदेव। तथाहि – यथा यः किलैकचक्षुरिन्द्रिय-

---

प्रदेशाभेदेऽपि मुक्तात्मद्रव्यशुद्धसत्तागुणयोरन्यत्वं भिन्नत्वं भवति। कथंभूतम्। अतब्भावो अतद्भावरूपं संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदस्वभावम्। यथा प्रदेशरूपेणाभेदस्तथा संज्ञादिलक्षणरूपेणाप्यभेदो भवतु, को

वाला, गुणवाला, अनेक गुणोंसे निर्मित, [1]विशेष्य, [2]विधीयमान और [3]वृत्तिमानस्वरूप ऐसा द्रव्य नहीं है, तथा जो किसीके आश्रयके विना रहनेवाला, गुणवाला, अनेक गुणोंसे निर्मित, विशेष्य, विधीयमान और वृत्तिमानस्वरूप द्रव्य है वह किसीके आश्रित रहनेवाली, निर्गुण, एक गुणसे निर्मित, विशेषण, विधायक और वृत्तिस्वरूप ऐसी सत्ता नहीं है, इसलिये उनके तद्भावका अभाव है। ऐसा होनेसे ही, यद्यपि सत्ता और द्रव्यके कथंचित् अनर्थान्तरत्व (-अभिन्नपदार्थत्व, अनन्यपदार्थत्व) है तथापि, उनके सर्वथा एकत्व होगा ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये; क्योंकि तद्भाव एकत्वका लक्षण है। जो उसरूप ज्ञात नहीं होता वह (सर्वथा) एक कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता; परन्तु गुण-गुणी-रूपसे अनेक ही है, ऐसा अर्थ है।

भावार्थ :– भिन्नप्रदेशत्व वह पृथक्त्वका लक्षण है, और अतद्भाव वह अन्यत्वका लक्षण है। द्रव्यमें और गुणमें पृथक्त्व नहीं है फिर भी अन्यत्व है।

प्रश्न :– जो अपृथक् होते हैं उनमें अन्यत्व कैसे हो सकता है?

उत्तर :– उनमें वस्त्र और शुभ्रता (सफेदी) की भाँति अन्यत्व हो सकता है। वस्त्रके और उसकी शुभ्रताके प्रदेश भिन्न नहीं हैं, इसलिये उनमें पृथक्त्व नहीं है।

---

[1] विशेष्य=विशेषताको धारण करनेवाला पदार्थ; लक्ष्य; भेद्य पदार्थ – धर्मी। [जैसे मिठास, सफेदी, सचिक्कणता आदि मिश्रीके विशेष गुण है, और मिश्री इन विशेष गुणोंसे विशेषित होती हुई अर्थात् उन विशेषताओंसे ज्ञात होती हुई, उन भेदोंसे भेदित होती हुई एक पदार्थ है; और जैसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य इत्यादि आत्माके विशेषण हैं और आत्मा उन विशेषणोंसे विशेषित होता हुआ (लक्षित, भेदित, पहचाना जाता हुआ) पदार्थ है, उसीप्रकार सत्ता विशेषण है और द्रव्य विशेष्य है। (यहाँ यह नहीं भूलना चाहिये कि विशेष्य और विशेषणोंके प्रदेशभेद नहीं है।)

[2] विधीयमान=रचित होनेवाला। (सत्ता इत्यादि गुण द्रव्यके रचयिता हैं और द्रव्य उनके द्वारा रचा जानेवाला पदार्थ है।)

[3] वृत्तिमान=वृत्तिवाला, अस्तित्ववाला, स्थिर रहनेवाला। (सत्ता वृत्तिस्वरूप अर्थात् अस्तित्वस्वरूप है और द्रव्य अस्तित्व रहनेस्वरूप है।)

विषयमापद्यमानः समस्तेतरेन्द्रियग्रामगोचरमतिक्रान्तः शुक्लो गुणो भवति, न खलु तदखिलेन्द्रियग्रामगोचरीभूतमुत्तरीयं भवति, यच्च किलाखिलेन्द्रियग्रामगोचरीभूतमुत्तरीयं भवति, न खलु स एकचक्षुरिंद्रियविषयमापद्यमानः समस्तेतरेन्द्रियग्रामगोचरमतिक्रान्तः शुक्लो गुणो भवतीति तयोस्तद्भावस्याभावः । तथा या किलाश्रित्य वर्तिनी निर्गुणैक-गुणसमुदिता विशेषणं विधायिका वृत्तिस्वरूपा च सत्ता भवति, न खलु तदनाश्रित्य वर्ति गुणवदनेकगुणसमुदितं विशेष्यं विधीयमानं वृत्तिमत्स्वरूपं च द्रव्यं भवति यत्तु किलानाश्रित्य वर्ति गुणवदनेकगुणसमुदितं विशेष्यं विधीयमानं वृत्तिमत्स्वरूपं च द्रव्यं भवति, न खलु साश्रित्य वर्तिनी निर्गुणैकगुणसमुदिता विशेषणं विधायिका वृत्तिस्वरूपा च सत्ता भवतीति तयोस्तद्भावस्याभावः । अत एव च सत्ताद्रव्ययोः कथंचिदनर्थान्तरत्वेऽपि सर्वथैकत्वं न शङ्कनीयं, तद्भावो ह्येकत्वस्य लक्षणम् । यत्तु न तद्भवद्विभाव्यते तत्कथमेकं स्यात् । अपि तु गुणगुणिरूपेणानेकमेवेत्यर्थः ॥ १०६ ॥

दोष इति चेत् । नैवम् । ण तब्भवं होदि तन्मुक्तात्मद्रव्यं शुद्धात्मसत्तागुणेन सह प्रदेशाभेदेऽपि संज्ञादिरूपेण तन्मयं न भवति । कधमेगं तन्मयत्वं हि किलैकत्वलक्षणं । संज्ञादिरूपेण तन्मयत्वाभावे कथमेकत्वं, किंतु नानात्वमेव । यथेदं मुक्तात्मद्रव्ये प्रदेशाभेदेऽपि संज्ञादिरूपेण नानात्वं कथितं तथैव सर्वद्रव्याणां स्वकीयस्वकीयस्वरूपास्तित्वगुणेन सह ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥ १०६ ॥ अथातद्भावं

ऐसा होने पर भी शुभ्रता तो मात्र आँखोंसे ही दिखाई देती है, जीभ, नाक आदि शेष चार इन्द्रियोंसे ज्ञात नहीं होती । और वस्त्र पाँचों इन्द्रियोंसे ज्ञात होता है । इसलिये (कथंचित्) वस्त्र वह शुभ्रता नहीं है और शुभ्रता वह वस्त्र नहीं है । यदि ऐसा न हो तो वस्त्रकी भाँति शुभ्रता भी जीभ, नाक इत्यादि सर्व इन्द्रियोंसे ज्ञात होना चाहिये । किन्तु ऐसा नहीं होता । इसलिये वस्त्र और शुभ्रतामें अपृथक्त्व होने पर भी अन्यत्व है यह सिद्ध होता है ।

इसीप्रकार द्रव्यमें और सत्तादि गुणोंमें अपृथक्त्व होने पर भी अन्यत्व है; क्योंकि द्रव्यके और गुणके प्रदेश अभिन्न होने पर भी द्रव्यमें और गुणमें संज्ञा-संख्या-लक्षणादि भेद होनेसे (कथंचित्) द्रव्य गुणरूप नहीं है और गुण वह द्रव्यरूप नहीं है ॥ १०६ ॥

अब, अतद्भावको उदाहरण द्वारा स्पष्टरूपसे बतलाते हैं :–

गाथा १०७

अन्वयार्थ :–[सत् द्रव्यं] 'सत् द्रव्य' [सत् च गुणः] 'सत् गुण' [च] और

अथातद्भावमुदाहृत्य प्रथयति —

सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो।
जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो ॥ १०७ ॥

सद्द्रव्यं संश्च गुणः संश्चैव च पर्याय इति विस्तारः।
यः खलु तस्याभावः स तदभावोऽतद्भावः ॥ १०७ ॥

विशेषेण विस्तार्य कथयति – **सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो** सद्द्रव्यं संश्च गुणः संश्चैव पर्याय इति सत्तागुणस्य द्रव्यगुणपर्यायेषु विस्तारः। तथा हि – यथा मुक्ताफलहारे सत्तागुणस्थानीयो योऽसौ शुक्लगुणः स प्रदेशाभेदेन किं किं भण्यते। शुक्लो हार इति शुक्लं सूत्रमिति शुक्लं मुक्ताफलमिति भण्यते, यश्च हारः सूत्रं मुक्ताफलं वा तैस्त्रिभिः प्रदेशाभेदेन शुक्लो गुणो भण्यत इति तद्भावस्य लक्षणमिदम्। तद्भावस्येति कोऽर्थः। हारसूत्रमुक्ताफलानां शुक्लगुणेन सह तन्मयत्वं प्रदेशाभिन्नत्वमिति। तथा मुक्तात्मपदार्थे योऽसौ शुद्धसत्तागुणः स प्रदेशाभेदेन किं किं भण्यते। सत्तालक्षणः परमात्मपदार्थ इति सत्तालक्षणः केवलज्ञानादिगुण इति सत्तालक्षणः सिद्धपर्याय

[सत् च एव पर्यायः] 'सत् पर्याय' – **[इति]** इस प्रकार **[विस्तारः]** (सत्तागुणका) विस्तार है। **[यः खलु]** (उनमें परस्पर) जो **[तस्य अभावः]** 'उसका अभाव' अर्थात् 'उसरूप होनेका अभाव' है **[सः]** वह **[तदभावः]** 'तद्-अभाव' **[अतद्भावः]** अर्थात् अतद्भाव है।

टीका :– जैसे एक [1]मोतियोंकी माला 'हार' के रूपमें, 'सूत्र' (धागा) के रूपमें और 'मोती' के रूपमें – (त्रिधा) तीन प्रकारसे विस्तारित की जाती है, उसीप्रकार एक 'द्रव्य,' द्रव्यके रूपमें, 'गुण' के रूपमें और 'पर्याय' के रूपमें – तीन प्रकारसे विस्तारित किया जाता है।

और जैसे एक मोतियोंकी मालाका शुक्लत्व गुण, 'शुक्ल हार,' 'शुक्ल धागा,' और 'शुक्ल मोती', – ऐसे तीन प्रकारसे विस्तारित किया जाता है, उसीप्रकार एक द्रव्यका सत्तागुण 'सत् द्रव्य,' 'सत्गुण', और 'सत्पर्याय', – ऐसे तीन प्रकारसे विस्तारित किया जाता है।

---

[1] मोतियोंकी माला=मोती का हार, मौक्तिकमाला।

'सत् द्रव्य' 'सत् पर्याय', 'सत् गुण'-सत्वनो विस्तार छे।
नथी ते-पणे अन्योन्य तेह अतत्पणुं ज्ञातव्य छे ॥ १०७ ॥

भावार्थ :– एक आत्माका विस्तारकथनमें 'आत्मद्रव्य'के रूपमें 'ज्ञानादिगुण' के रूपमें और 'सिद्धत्वादि पर्याय' के रूपमें – तीन प्रकारसे वर्णन किया जाता है। इसीप्रकार सर्व द्रव्योंके सम्बन्धमें समझना चाहिये ।

---

[1] अन्यगुण=सत्ता के अतिरिक्त दूसरा कोई भी गुण ।

[2] तद्-अभाव=उसका अभाव; (तद्-अभाव=तस्य अभावः) तद्भाव अतद्भावका लक्षण (स्वरूप) है; अतद्भाव अन्यत्वका कारण है ।

यथा चैकस्मिन् मुक्ताफलस्रग्दाम्नि यः शुक्लो गुणः स न हारो न सूत्रं न मुक्ताफलं यश्च हारः सूत्रं मुक्ताफलं वा स न शुक्लो गुण इतीतरेतरस्य यस्तस्याभावः स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूतः । तथैकस्मिन् द्रव्ये यः सत्तागुणस्तन्न द्रव्यं नान्यो गुणो न पर्यायो यच्च द्रव्यमन्यो गुणः पर्यायो वा स न सत्तागुण इतीतरेतरस्य यस्तस्याभावः स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूतः ।। १०७ ।।

अथ सर्वथाऽभावलक्षणत्वमतद्भावस्य निषेधयति –

गुणो वाच्यो न भवति । इत्येवं परस्परं प्रदेशाभेदेऽपि योऽसौ संज्ञादिभेदः स तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्याभावस्तदभावो भण्यते । स च तदभावः पुनरपि किं भण्यते । अतद्भावः संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेद इत्यर्थः । यथात्र शुद्धात्मनि शुद्धसत्तागुणेन सहाभेदः स्थापितस्तथा यथासंभवं सर्वद्रव्येषु ज्ञातव्य

और एक आत्माके अस्तित्व गुणको 'सत् आत्मद्रव्य', 'सत् ज्ञानादिगुण' और 'सत् सिद्धत्वादि पर्याय' – ऐसे तीन प्रकारसे विस्तारित किया जाता है; इसीप्रकार सभी द्रव्योंके सम्बन्धमें समझना चाहिये ।

और एक आत्माका जो अस्तित्व गुण है वह आत्मद्रव्य नहीं है, (सत्ता गुणके विना) ज्ञानादिगुण नहीं है, या सिद्धत्वादि पर्याय नहीं है; और जो आत्मद्रव्य है, (अस्तित्वके सिवाय) ज्ञानादिगुण है या सिद्धत्वादि पर्याय है वह अस्तित्व गुण नहीं है – इसप्रकार उनमें परस्पर अतद्भाव है, जिसके कारण उनमें अन्यत्व है । इसीप्रकार सभी द्रव्योंके सम्बन्धमें समझना चाहिये ।

इसप्रकार इस गाथामें सत्ताका उदाहरण देकर अतद्भावको स्पष्टतया समझाया है ।

(यहाँ इतना विशेष है कि जो सत्ता गुणके सम्बन्धमें कहा है, वह अन्य गुणोंके विषयमें भी भलीभाँति समझ लेना चाहिये । जैसेकि :– सत्ता गुणकी भाँति एक आत्माके पुरुषार्थ गुणको 'पुरुषार्थी आत्मद्रव्य' 'पुरुषार्थी ज्ञानादिगुण' और 'पुरुषार्थी सिद्धत्वादि पर्याय' – इसप्रकार विस्तरित कर सकते हैं । अभिन्नप्रदेश होनेसे इसप्रकार विस्तार किया जाता है, फिर भी संज्ञा-लक्षण-प्रयोजनादि भेद होनेसे पुरुषार्थगुणको तथा आत्मद्रव्यको, ज्ञानादि अन्य गुण और सिद्धत्वादि पर्यायको अतद्भाव है, जो कि उनमें अन्यत्वका कारण है ।। १०७ ।।

अब, सर्वथा अभाव वह अतद्भावका लक्षण है, इसका निषेध करते हैं :–

सुवर्णत्वस्याभावः सुवर्णत्वस्याभावे सुवर्णस्याभाव इत्युभयशून्यत्वं, तथा द्रव्यस्याभावे गुणस्याभावो गुणस्याभावे द्रव्यस्याभाव इत्युभयशून्यत्वं स्यात् । यथा पटाभावमात्र एव घटो घटाभावमात्र एव पट इत्युभयोरपोहरूपत्वं तथा द्रव्याभावमात्र एव गुणो गुणोभावमात्र एव द्रव्यमित्यत्राप्यपोहरूपत्वं स्यात् । ततो द्रव्यगुणयोरेकत्वमशून्यत्वमनपोहत्वं चेच्छता यथोदित एवातद्भावोऽभ्युपगन्तव्यः ।। १०८ ।।

अथ सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिभावं साधयति –

जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो ।
सदवट्ठिदं सहावे दव्वं ति जिणोवदेसोयं ।। १०९ ।।

यः खलु द्रव्यस्वभावः परिणामः स गुणः सदविशिष्टः ।
सदवस्थितं स्वभावे द्रव्यमिति जिनोपदेशोऽयम् ।। १०९ ।।

सुवर्णत्वगुणस्याप्यभावः, तथा सत्तागुणप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य मुक्तजीवद्रव्यस्याभावस्तथैव मुक्तजीवद्रव्यप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य सत्तागुणस्याप्यभावः इत्युभयशून्यत्वं प्राप्नोति । यथेदं मुक्तजीवद्रव्ये संज्ञादिभेदभिन्नस्यातद्भावस्तस्य सत्तागुणेन सह प्रदेशाभेदव्याख्यानं कृतं तथा सर्वद्रव्येषु यथासंभवं ज्ञातव्यमित्यर्थः ।। १०८ ।। एवं द्रव्यस्यास्तित्वकथनरूपेण प्रथमगाथा, पृथक्त्वलक्षणातद्भावाभिधानान्यत्वलक्षणयोः कथनेन द्वितीया, संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदरूपस्यातद्भावस्य विवरणरूपेण तृतीया, तस्यैव

द्रव्य होगा; – इसप्रकार इसमें भी (द्रव्य-गुणमें भी) [1]अपोहरूपता आजायगी, (अर्थात् केवल नकाररूपताका प्रसङ्ग आजायगा ।)

इसलिये द्रव्य और गुणका एकत्व, अशून्यत्व और [1]अनपोहत्व चाहनेवालेको यथोक्त ही (जैसा कहा वैसा ही) अतद्भाव मानना चाहिये ।। १०८ ।।

अब, सत्ता और द्रव्यका गुण – गुणीपना सिद्ध करते हैं :–

गाथा १०९

अन्वयार्थ :–[यः खलु] जो, [द्रव्यस्वभावः परिणामः] द्रव्यका स्वभावभूत (उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक) परिणाम है [सः] वह (परिणाम) [सदविशिष्टः गुणः] 'सत्' से अविशिष्ट (सत्तासे अभिन्न है ऐसा) गुण है । [स्वभावे अवस्थितं] 'स्वभावमें

[1] अनपोहत्व=अपोहरूपताका न होना; केवल नकारात्मकताका न होना ।

परिणाम द्रव्यस्वभाव जे, ते गुण 'सत्' अविशिष्ट छे ।
'द्रव्यो स्वभावे स्थित सत् छे'–अे ज आ उपदेश छे ।। १०९ ।।

द्रव्यं हि स्वभावे नित्यमवतिष्ठमानत्वात्सदिति प्राक् प्रतिपादितम् । स्वभावस्तु द्रव्यस्य परिणामोऽभिहितः । य एव द्रव्यस्य स्वभावभूतः परिणामः, स एव सदविशिष्टो गुण इतीह साध्यते । यदेव हि द्रव्यस्वरूपवृत्तिभूतमस्तित्वं द्रव्यप्रधाननिर्देशात्सदिति संशब्द्यते तदविशिष्टगुणभूत एव द्रव्यस्य स्वभावभूतः परिणामः द्रव्यवृत्तेर्हि त्रिकोटि-समयस्पर्शिन्याः प्रतिक्षणं तेन तेन स्वभावेन परिणमनाद्द्रव्यस्वभावभूत एव तावत्प-

---

हढीकरणार्थं च चतुर्थीति द्रव्यगुणयोरभेदविषये युक्तिकथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन पञ्चमस्थलं गतम् । अथ सत्ता गुणो भवति, द्रव्यं च गुणी भवतीति प्रतिपादयति – **जो खलु दव्वसहावो परिणामो** यः खलु स्फुटं द्रव्यस्य स्वभावभूतः परिणामः पञ्चेन्द्रियविषयानुभवरूपमनोव्यापारोत्पन्नसमस्त-मनोरथरूपविकल्पजालाभावे सति यश्चिदानन्दैकानुभूतिरूपः स्वस्थभावस्तस्योत्पादः, पूर्वोक्तविकल्प-जालविनाशो व्ययः, तदुभयाधारभूतजीवत्वं ध्रौव्यमित्युक्तलक्षणोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकजीवद्रव्यस्य स्वभावभूतो योऽसौ परिणामः **सो गुणो** स गुणो भवति । स परिणामः कथंभूतः सन्गुणो भवति । **सदविसिट्ठो** सतोऽस्तित्वादविशिष्टोऽभिन्नस्तदुत्पादादित्रयं तिष्ठत्यस्तित्वं चैकं तिष्ठत्यस्तित्वेन सह कथमभिन्नो भवतीति चेत् । "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति वचनात् । एवं सति सत्तैव गुणो भवतीत्यर्थः । इति गुणव्याख्यानं गतम् । **सदवट्ठिदं सहावे दव्व त्ति** सदवस्थितं स्वभावे द्रव्यमिति । द्रव्यं परमात्मद्रव्यं भवति । किं कर्तृ । सदिति । केन । अभेदनयेन । कथंभूतम् । सत् अवस्थितम् । क्व । उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकस्वभावे । **जिणोवदेसोयं** अयं जिनोपदेश इति 'सदवट्ठिदं सहावे दव्वं

अवस्थित (होनेसे) [**द्रव्यं**] द्रव्य [**सत्**] सत् है' – [**इति जिनोपदेशः**] ऐसा जो (९९ वीं गाथामें कथित) जिनोपदेश है [**अयम्**] वही यह है । (अर्थात् ९९ वीं गाथाके कथनमेंसे इस गाथामें कथित भाव सहज ही निकलता है ।)

टीका:– द्रव्य स्वभावमें नित्य अवस्थित होनेसे सत् है, – ऐसा पहले (९९वीं गाथामें) प्रतिपादित किया गया है; और (वहाँ) द्रव्यका स्वभाव परिणाम कहा गया है । यहाँ यह सिद्ध किया जा रहा है कि जो द्रव्यका स्वभावभूत परिणाम है वही 'सत्' से अविशिष्ट (अस्तित्वसे अभिन्न ऐसा – अस्तित्वसे कोई अन्य नहीं ऐसा) गुण है ।

द्रव्यके स्वरूपका वृत्तिभूत ऐसा जो अस्तित्व द्रव्यप्रधान कथनके द्वारा 'सत्' शब्दसे कहा जाता है उससे अविशिष्ट (उस अस्तित्वसे अनन्य) गुणभूत ही द्रव्य-स्वभावभूत परिणाम है; क्योंकि द्रव्यकी [1]वृत्ति (अस्तित्व) तीन प्रकारके समयको (भूत, भविष्यत्, वर्तमान कालको) स्पर्शित करती होनेसे (वह वृत्ति – अस्तित्व) प्रतिक्षण उस-उस स्वभावरूप परिणमित होती है ।

---

[1] वृत्ति=वर्तना; अस्तित्व रहना वह; टिकना वह ।

टीका :– इसप्रकार यथोदित (पूर्वकथित) सर्व प्रकारसे [1]अकलंक लक्षणवाला, अनादिनिधन यह द्रव्य सत्-स्वभावमें (अस्तित्वस्वभावमें) उत्पादको प्राप्त होता है। द्रव्यका वह उत्पाद, द्रव्यकी [2]अभिधेयताके समय सद्भावसंबद्ध ही है और पर्यायोंकी अभिधेयताके समय असद्भावसंबद्ध ही है। इसे स्पष्ट समझाते हैं :–

जब द्रव्य ही कहा जाता है – पर्यायें नहीं, तब उत्पत्तिविनाश रहित, युगपत् प्रवर्तमान, द्रव्यको उत्पन्न करनेवाली [3]अन्वयशक्तियोंके द्वारा, उत्पत्तिविनाशलक्षणवाली, क्रमशः प्रवर्तमान, पर्यायोंकी उत्पादक उन-उन [4]व्यतिरेकव्यक्तियोंको प्राप्त होनेवाले द्रव्यको [5]सद्भावसंबद्ध ही उत्पाद है; सुवर्णकी भांति। जैसे :– जब सुवर्ण ही

---

[1] अकलंक=निर्दोष (यह द्रव्य पूर्वकथित सर्वप्रकार निर्दोष लक्षणवाला है।)

[2] अभिधेयता=कहने योग्यपना; विवक्षा; कथनी।

[3] अन्वयशक्ति=अन्वयरूपशक्ति। (अन्वयशक्तियां उत्पत्ति और नाशसे रहित हैं, एक ही साथ प्रवृत्त होती हैं और द्रव्यको उत्पन्न करती हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र इत्यादि आत्मद्रव्यकी अन्वयशक्तियां हैं।)

[4] व्यतिरेकव्यक्ति=भेदरूप प्रगटता। [व्यतिरेकव्यक्तियां उत्पत्ति विनाशको प्राप्त होती हैं, क्रमशः प्रवृत्त होती हैं और पर्यायोंको उत्पन्न करती हैं। श्रुतज्ञान, केवलज्ञान इत्यादि तथा स्वरूपाचरण चारित्र, यथाख्यातचारित्र इत्यादि आत्मद्रव्यकी व्यतिरेकव्यक्तियां हैं। व्यतिरेक और अन्वयके अर्थोंके लिये १६६वें पृष्ठका फुटनोट (टिप्पण) देखें।]

[5] सद्भावसंबद्ध=सद्भाव – अस्तित्वके साथ संबन्ध रखनेवाला, – संकलित। [द्रव्यकी विवक्षाके समय अन्वय शक्तियोंको मुख्य और व्यतिरेकव्यक्तियोंको गौण कर दिया जाता है, इसलिये द्रव्यके सद्भावसंबद्ध उत्पाद (सत्-उत्पाद, विद्यमानका उत्पाद) है।]

प्रभवावसानवर्जिताभिर्यौगपद्यप्रवृत्ताभिर्द्रव्यनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिः प्रभवावसानलाञ्छनाः क्रमप्रवृत्ताः पर्यायनिष्पादिका व्यतिरेकव्यक्तीस्तास्ताः संक्रामतो द्रव्यस्य सद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः हेमवत्। तथाहि–यदा हेमैवाभिधीयते नाङ्गदादयः पर्यायास्तदा हेमसमानजीविताभिर्यौगपद्यप्रवृत्ताभिर्हेमनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिरङ्गदादिपर्यायसमानजीविताः क्रमप्रवृत्ता अङ्गदादिपर्यायनिष्पादिका व्यतिरेकव्यक्तीस्तास्ताः संक्रामतो हेम्नः सद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः। यदा तु पर्याया एवाभिधीयन्ते न द्रव्यं तदा प्रभवावसानलाञ्छनाभिः क्रमप्रवृत्ताभिः पर्यायनिष्पादिकाभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिस्ताभिस्ताभिः प्रभवावसानवर्जिता यौगपद्यप्रवृत्ता द्रव्यनिष्पादिका अन्वयशक्तीः संक्रामतो द्रव्यस्यासद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः हेमवदेव। तथाहि–यदाङ्गदादिपर्याया एवाभिधीयन्ते न हेम तदाङ्गदादिपर्यायसमानजीविताभिः क्रमप्रवृत्ताभिरङ्गदादिपर्यायनिष्पादिका-

---

पश्चाज्जिनदीक्षां गृहीत्वा स एवेदानीं रामादिकेवलिपुरुषो निश्चयरत्नत्रयात्मकपरमात्मध्यानेनानन्तसुखामृततृप्तो जातः, न चान्य इति, तदा सद्भावनिबद्ध एवोत्पादः। कस्मादिति चेत्। पुरुषत्वेनाविनष्टत्वात्। यदा तु पर्यायनयविवक्षा क्रियते, पूर्वं सरागावस्थायाः सकाशादन्योऽयं भरतसगरराम-

---

कहा जाता है – बाजूबंध आदि पर्यायें नहीं, तब सुवर्ण जितनी स्थायी, युगपत् प्रवर्तमान, सुवर्णकी उत्पादक अन्वयशक्तियोंके द्वारा, बाजूबंध इत्यादि पर्याय जितने स्थायी, क्रमशः प्रवर्तमान, बाजूबंध इत्यादि पर्यायोंकी उत्पादक उन-उन व्यतिरेकव्यक्तियोंको प्राप्त होनेवाले सुवर्णका सद्भावसंबद्ध ही उत्पाद है।

और जब पर्यायें ही कही जाती हैं, द्रव्य नहीं, तब उत्पत्तिविनाश जिनका लक्षण है ऐसी, क्रमशः प्रवर्तमान, पर्यायोंको उत्पन्न करनेवाली उन-उन व्यतिरेकव्यक्तियोंके द्वारा, उत्पत्तिविनाश रहित, युगपत् प्रवर्तमान, द्रव्यकी उत्पादक अन्वयशक्तियोंको प्राप्त होनेवाले द्रव्यको [1]असद्भावसंबद्ध ही उत्पाद है; सुवर्णकी ही भाँति। वह इसप्रकार जब बाजूबंधादि पर्यायें ही कही जाती हैं – सुवर्ण नहीं, तब बाजूबंध इत्यादि पर्याय जितनी टिकनेवाली, क्रमशः प्रवर्तमान, बाजूबंध इत्यादि पर्यायोंकी उत्पादक उन-उन व्यतिरेक-व्यक्तियोंके द्वारा, सुवर्ण जितनी टिकनेवाली, युगपत् प्रवर्तमान, सुवर्णकी उत्पादक अन्वयशक्तियोंको प्राप्त सुवर्णके असद्भावयुक्त ही उत्पाद है।

---

[1] असद्भावसंबद्ध=अनस्तित्वके साथ संबंधवाला-संकलित। [पर्यायोंकी विवक्षाके समय व्यतिरेकव्यक्तियोंको मुख्य और अन्वयशक्तियोंको गौण किया जाता है, इसलिये द्रव्यके असद्भावसंबद्ध उत्पाद (असत् उत्पाद, अविद्यमानका उत्पाद) है।]

भिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिस्ताभिस्ताभिर्हेमसमानजीविता यौगपद्यप्रवृत्ता हेमनिष्पादिका अन्वयशक्तीः संक्रामतो हेम्नोऽसद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः । अथ पर्यायाभिधेयतायामप्यसदुत्पत्तौ पर्यायनिष्पादिकास्तास्ता व्यतिरेकव्यक्तयो यौगपद्यप्रवृत्तिमासाद्यान्वयशक्तित्वमापन्नाः पर्यायान् द्रवीकुर्युः, तथाङ्गदादिपर्यायनिष्पादिकाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिर्यौगपद्यप्रवृत्तिमासाद्यान्वयशक्तित्वमापन्नाभिरङ्गदादिपर्याया अपि हेमीक्रियेरन् ।

पाण्डवादिकेवलिपुरुषाणां संबन्धी निरुपरागपरमात्मपर्यायः स एव न भवति, तदा पुनरसद्भावनिबद्ध एवोत्पादः । कस्मादिति चेत् । पूर्वपर्यायादन्यत्वादिति । यथेदं जीवद्रव्ये सदुत्पादासदुत्पादव्याख्यानं

अब, पर्यायोंकी अभिधेयता (कथनी) के समय भी, असत्-उत्पादमें पर्यायोंको उत्पन्न करनेवाली वे-वे व्यतिरेकव्यक्तियाँ युगपत् प्रवृत्ति प्राप्त करके अन्वयशक्तिपनेको प्राप्त होती हुई पर्यायोंको द्रव्य करता है (पर्यायोंकी विवक्षाके समय भी व्यतिरेकव्यक्तियाँ अन्वयशक्तिरूप बनती हुई पर्यायोंको द्रव्यरूप करती हैं); जैसे बाजूबंध आदि पर्यायोंको उत्पन्न करनेवाली वे-वे व्यतिरेकव्यक्तियाँ युगपत् प्रवृत्ति प्राप्त करके अन्वयशक्तिपनेको प्राप्त करती हुई बाजूबंध इत्यादि पर्यायोंको सुवर्ण करता है तदनुसार। द्रव्यकी अभिधेयताके समय भी, सत्-उत्पादमें द्रव्यकी उत्पादक अन्वयशक्तियाँ क्रमप्रवृत्तिको प्राप्त करके उस-उस व्यतिरेकव्यक्तित्वको प्राप्त होती हुई, द्रव्यको पर्यायें (पर्यायरूप) करती हैं; जैसे सुवर्णकी उत्पादक अन्वयशक्तियाँ क्रमप्रवृत्ति प्राप्त करके उस-उस व्यतिरेकव्यक्तित्वको प्राप्त होती हुई, सुवर्णको बाजूबंधादि पर्यायमात्र (पर्यायमात्ररूप) करती हैं ।

इसलिये द्रव्यार्थिक कथनसे सत्-उत्पाद है, पर्यायार्थिक कथनसे असत्-उत्पाद है – यह बात अनवद्य (निर्दोष, अबाध्य) है ।

भावार्थ :– जो पहले विद्यमान हो उसीकी उत्पत्तिको सत्-उत्पाद कहते हैं और जो पहले विद्यमान न हो उसकी उत्पत्तिको असत्-उत्पाद कहते हैं । जब पर्यायोंको गौण करके द्रव्यका मुख्यतया कथन किया जाता है, तब तो जो विद्यमान था वही उत्पन्न होता है, (क्योंकि द्रव्य तो तीनों कालमें विद्यमान है); इसलिये द्रव्यार्थिक नयसे तो द्रव्यको सत्-उत्पाद है; और जब द्रव्यको गौण करके पर्यायोंका मुख्यतया कथन किया जाता है तब जो विद्यमान नहीं था वह उत्पन्न होता है (क्योंकि वर्तमान पर्याय भूतकालमें विद्यमान नहीं थी), इसलिये पर्यायार्थिक नयसे द्रव्यके असत्‌उत्पाद है ।

द्रव्याभिधेयतायामपि सदुत्पत्तौ द्रव्यनिष्पादिका अन्वयशक्तयः क्रमप्रवृत्तिमासाद्य तत्तद्व्यतिरेकव्यक्तित्वमापन्ना द्रव्यं पर्यायीकुर्युः । तथा हेमनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिः क्रमप्रवृत्तिमासाद्य तत्तद्व्यतिरेकमापन्नाभिर्हेमाङ्गदादिपर्यायमात्री क्रियेत । ततो द्रव्यार्थादेशात्सदुत्पादः, पर्यायार्थादेशादसत् इत्यनवद्यम् ।। १११ ।।

अथ सदुत्पादमनन्यत्वेन निश्चिनोति –

जीवो भवं भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो ।
किं दव्वत्तं पजहदि ण जहं अण्णो कहं होदि ।। ११२ ।।

जीवो भवन् भविष्यति नरोऽमरो वा परो भूत्वा पुनः ।
किं द्रव्यत्वं प्रजहाति न जहदन्यः कथं भवति ।। ११२ ।।

कृतं तथा सर्वद्रव्येषु यथासंभवं ज्ञातव्यमिति ।। १११ ।। अथ पूर्वोक्तमेव सदुत्पादं द्रव्यादभिन्नत्वेन विवृणोति – **जीवो** जीवः कर्ता **भवं** भवन् परिणमन् सन् **भविस्सदि** भविष्यति तावत् । किं किं भविष्यति । निर्विकारशुद्धोपयोगविलक्षणाभ्यां शुभाशुभोपयोगाभ्यां परिणम्य **णरोऽमरो वा परो** नरो देवः परस्तिर्यङ्नारकरूपो वा निर्विकारशुद्धोपयोगेन सिद्धो वा भविष्यति । **भवीय पुणो** एवं पूर्वोक्त-

---

यहाँ यह लक्ष्यमें रखना चाहिये कि द्रव्य और पर्यायें भिन्न-भिन्न वस्तुएं नहीं हैं; इसलिये पर्यायोंकी विवक्षाके समय भी, असत्‌उत्पादमें, जो पर्यायें हैं वे द्रव्य ही हैं, और द्रव्यकी विवक्षाके समय भी, सत्‌उत्पादमें, जो द्रव्य है वे पर्यायें ही हैं ।। १११ ।।

अब (सर्व पर्यायोंमें द्रव्य अनन्य है अर्थात् वह का वही है, इसलिये उसके सत्-उत्पाद है – इसप्रकार) सत्-उत्पादको अनन्यत्वके द्वारा निश्चित करते हैं :–

गाथा ११२

अन्वयार्थ :– [जीवः] जीव [भवन्] परिणमित होता हुआ [नरः] मनुष्य, [अमरः] देव [वा] अथवा [परः] अन्य (तिर्यंच, नारकी या सिद्ध) [भविष्यति] होगा, [पुनः] परन्तु [भूत्वा] मनुष्य देवादि होकर [किं] क्या वह [द्रव्यत्वं प्रजहाति] द्रव्यत्वको छोड़ देता है ? [न जहत्] नहीं छोड़ता हुआ वह [अन्यः कथं भवति] अन्य कैसे हो सकता है ? (अर्थात् वह अन्य नहीं, वहका वही है ।)

जीव परिणमे तेथी नरादिक ए बने; पण ते-रूपे ।
शुं छोडतो द्रव्यत्वने ? नहि छोडतो क्यम अन्य ए ।। ११२ ।।

द्रव्यं हि तावद् द्रव्यत्वभूतामन्वयशक्तिं नित्यमप्यपरित्यजद्भवति सदेव। यस्तु द्रव्यस्य पर्यायभूताया व्यतिरेकव्यक्तेः प्रादुर्भावः तस्मिन्नपि द्रव्यत्वभूताया अन्वयशक्तेरप्रच्यवनात् द्रव्यमनन्यदेव। ततोऽनन्यत्वेन निश्चीयते द्रव्यस्य सदुत्पादः। तथाहि – जीवो द्रव्यं भवन्नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वानामन्यतमेन पर्यायेण द्रव्यस्य पर्यायदुर्ललितवृत्तित्वादवश्यमेव भविष्यति। स हि भूत्वा च तेन किं द्रव्यत्वभूतामन्वयशक्तिमुज्झति, नोज्झति। यदि नोज्झति कथमन्यो नाम स्यात्, येन प्रकटितत्रिकोटिसत्ताकः स एव न स्यात्॥ ११२॥

चकारेण पुनर्भूत्वापि। अथवा द्वितीयव्याख्यानम्। भवन् वर्तमानकालापेक्षया, भविष्यति भाविकालापेक्षया, भूत्वा भूतकालापेक्षया चेति कालत्रये चैवं भूत्वापि किं दव्वत्तं पजहदि किं द्रव्यत्वं परित्यजति। ण चयदि द्रव्यार्थिकनयेन द्रव्यत्वं न त्यजति, द्रव्याद्भिन्नो न भवति। अण्णो कहं हवदि अन्यो भिन्नः कथं भवति। किन्तु द्रव्यान्वयशक्तिरूपेण सद्भावनिबद्धोत्पादः स एवेति द्रव्यादभिन्न इति भावार्थः

टीका :– प्रथम तो द्रव्य द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्तिको कभी भी न छोड़ता हुआ सत् (विद्यमान) ही है। और द्रव्यके जो पर्यायभूत व्यतिरेकव्यक्तिका उत्पाद होता है उसमें भी द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्तिका अच्युतपना होनेसे द्रव्य अनन्य ही है, (अर्थात् उस उत्पादमें भी अन्वयशक्ति तो अपतित-अविनष्ट-निश्चल होनेसे द्रव्य वहका वही है, अन्य नहीं।) इसलिये अनन्यपनेके द्वारा द्रव्यका सत्-उत्पाद निश्चित होता है, (अर्थात् उपरोक्त कथनानुसार द्रव्यका द्रव्यापेक्षासे अनन्यपना होनेसे, उसके सत्-उत्पाद है, – ऐसा अनन्यपने द्वारा सिद्ध होता है।)

इसी बातको (उदाहरण से) स्पष्ट किया जाता है :–

जीव द्रव्य होनेसे और द्रव्य पर्यायोंमें वर्तनेसे जीव नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्वमेंसे किसी एक पर्यायमें अवश्यमेव (परिणमित) होगा। परन्तु वह जीव उस पर्यायरूप होकर क्या द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्तिको छोड़ता है ? नहीं छोड़ता। यदि नहीं छोड़ता तो वह अन्य कैसे हो सकता है कि जिससे त्रिकोटि सत्ता (तीनप्रकारकी सत्ता, त्रैकालिक अस्तित्व) जिसके प्रगट है ऐसा वह (जीव), वही न हो ? (अर्थात् तीनों कालमें विद्यमान वह जीव अन्य नहीं, वहका वही है।)

भावार्थ :– जीव मनुष्य-देवादिक पर्यायरूप परिणमित होता हुआ भी अन्य नहीं हो जाता, अनन्य रहता है, वहका वही रहता है; क्योंकि 'वही यह देवका जीव है, जो पूर्वभवमें मनुष्य था और अमुक भवमें तिर्यंच था' ऐसा ज्ञान हो सकता है।

अथासदुत्पादमन्यत्वेन निश्चिनोति –

मणुवो ण होदि देवो देवो वा माणुसो व सिद्धो वा ।
एवं अहोज्जमाणो अणण्णभावं कधं लहदि ॥ ११३ ॥

मनुजो न भवति देवो देवो वा मानुषो वा सिद्धो वा ।
एवमभवन्ननन्यभावं कथं लभते ॥ ११३ ॥

॥ ११२ ॥ अथ द्रव्यस्यासदुत्पादं पूर्वपर्यायादन्यत्वेन निश्चिनोति – मणुवो ण हवदि देवो आकुलत्वोत्पादकमनुजदेवादिविभावपर्यायविलक्षणमनाकुलत्वरूपस्वभावपरिणतिलक्षणं परमात्मद्रव्यं

इसप्रकार जीवकी भाँति प्रत्येक द्रव्य अपनी सर्व पर्यायोंमें वहका वही रहता है, अन्य नहीं हो जाता, – अनन्य रहता है। इसप्रकार द्रव्यका अनन्यपना होनेसे द्रव्यका सत्-उत्पाद निश्चित होता है ॥ ११२ ॥

अब, असत्-उत्पादको अन्यत्वके द्वारा निश्चित करते हैं :–

गाथा ११३

अन्वयार्थ :– [मनुजः] मनुष्य [देवः न भवति] देव नहीं है, [वा] अथवा [देवः] देव [मानुषः वा सिद्धः वा] मनुष्य या सिद्ध नहीं है; [एवं अभवन्] ऐसा न होता हुआ [अनन्य भावं कथं लभते] अनन्यभावको कैसे प्राप्त हो सकता है ?

टीका :– पर्यायें पर्यायभूत स्वव्यतिरेकव्यक्तिके कालमें ही सत् (विद्यमान) होनेसे, उससे अन्य कालोंमें असत् (अविद्यमान) ही हैं। और पर्यायोंका द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्तिके साथ गुंथा हुआ (एकरूपतासे युक्त) जो क्रमानुपाती (क्रमानुसार) स्वकालमें उत्पाद होता है उसमें पर्यायभूत स्वव्यतिरेकव्यक्तिका पहले असत्पना होनेसे, पर्यायें अन्य ही हैं। इसलिये पर्यायोंकी अन्यताके द्वारा द्रव्यका – जो कि पर्यायोंके स्वरूपका कर्ता, करण और अधिकरण होनेसे पर्यायोंसे अपृथक् है उसका – असत्-उत्पाद निश्चित होता है।

इस बातको (उदाहरण देकर) स्पष्ट करते हैं :–

मानव नथी सुर, सुर पण नहि मनुज के नहि सिद्ध छे ।
ए रीत नहि होतो थको क्यम ते अनन्यपणुं धरे ? ॥ ११३ ॥

पर्याया हि पर्यायभूताया आत्मव्यतिरेकव्यक्तेः काल एव सत्त्वात्ततोऽन्यकालेषु भवन्त्यसन्त एव। यश्च पर्यायाणां द्रव्यत्वभूतयान्वयशक्त्यानुस्यूतः क्रमानुपाती स्वकाले प्रादुर्भावः तस्मिन्पर्यायभूताया आत्मव्यतिरेकव्यक्तेः पूर्वमसत्त्वात्पर्याया अन्य एव। ततः पर्यायाणामन्यत्वेन निश्चीयते पर्यायस्वरूपकर्तृकरणाधिकरणभूतत्वेन पर्यायेभ्योऽपृथग्भूतस्य द्रव्यस्यासदुत्पादः। तथाहि – न हि मनुजस्त्रिदशो वा सिद्धो वा स्यात् न हि त्रिदशो मनुजो वा सिद्धो वा स्यात्। एवमसन् कथमनन्यो नाम स्यात् येनान्य एव न स्यात्। येन च निष्पद्यमानमनुजादिपर्यायं जायमानवलयादिविकारं काञ्चनमिव जीवद्रव्यमपि प्रतिपदमन्यन्न स्यात् ।। ११३ ।।

यद्यपि निश्चयेन मनुष्यपर्याये देवपर्याये च समानं तथापि मनुजो देवो न भवति। कस्मात्। देवपर्यायकाले मनुष्यपर्यायस्यानुपलम्भात्। देवो वा माणुसो व सिद्धो वा देवो वा मनुष्यो न भवति स्वात्मोपलब्धिरूपसिद्धपर्यायो वा न भवति। कस्मात्। पर्यायाणां परस्परं भिन्नकालत्वात्, सुवर्णद्रव्ये कुण्डलादिपर्यायाणामिव। एवं अहोज्जमाणो एवमभवन्सन् अणण्णभावं कधं लहदि अनन्यभावमेकत्वं कथं लभते, न कथमपि। तत एतावदायाति असद्भावनिबद्धोत्पादः पूर्वपर्यायाद्भिन्नो भवतीति

मनुष्य वह देव या सिद्ध नहीं है, और देव, वह मनुष्य या सिद्ध नहीं है; इसप्रकार न होता हुआ अनन्य (वहका वही) कैसे हो सकता है, कि जिससे अन्य ही न हो और जिससे मनुष्यादि पर्यायें उत्पन्न होती हैं ऐसा जीव द्रव्य भी – वलयादि विकार (कंकणादि पर्यायें) जिसके उत्पन्न होती हैं ऐसे सुवर्णकी भाँति – पद-पद पर (प्रति पर्याय पर) अन्य न हो ? [जैसे कंकण, कुण्डल इत्यादि पर्यायें अन्य हैं, (भिन्न-भिन्न हैं, वे की वे ही नहीं हैं) इसलिये उन पर्यायोंका कर्ता सुवर्ण भी अन्य है, इसीप्रकार मनुष्य, देव इत्यादि पर्यायें अन्य हैं, इसलिये उन पर्यायोंका कर्त्ता जीवद्रव्य भी पर्यायापेक्षासे अन्य है।]

भावार्थ :– जीवके अनादि अनन्त होने पर भी, मनुष्य पर्यायकालमें देवपर्यायकी या स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धपर्यायकी अप्राप्ति है अर्थात् मनुष्य, देव या सिद्ध नहीं है, इसलिये वे पर्यायें अन्य अन्य हैं। ऐसा होनेसे, उन पर्यायोंका कर्त्ता, साधन और आधार जीव भी पर्यायापेक्षासे अन्यपनेको प्राप्त होता है। इसप्रकार जीवकी भाँति प्रत्येक द्रव्यके पर्यायापेक्षासे अन्यपना है। इसप्रकार द्रव्यको अन्यपना होनेसे द्रव्यके असत् – उत्पाद है, – ऐसा निश्चित होता है ।। ११३ ।।

अब, एक ही द्रव्यके अन्यपना और अनन्यपना होनेमें जो विरोध है, उसे दूर करते हैं। (अर्थात् उसमें विरोध नहीं आता, यह बतलाते हैं) :–

अथैकद्रव्यस्यान्यत्वानन्यत्वविप्रतिषेधमुद्धुनोति –

दव्वट्ठिएण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो ।
हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो ॥ ११४ ॥

द्रव्यार्थिकेन सर्वं द्रव्यं तत्पर्यायार्थिकेन पुनः ।
भवति चान्यदनन्यत्तत्काले तन्मयत्वात् ॥ ११४ ॥

॥ ११३ ॥ अथैकद्रव्यस्य पर्यायैस्सहानन्यत्वाभिधानमेकत्वमन्यत्वाभिधानमनेकत्वं च नयविभागेन दर्शयति, अथवा पूर्वोक्तसद्भावनिबद्धासद्भावनिबद्धमुत्पादद्वयं प्रकारान्तरेण समर्थयति – हवदि भवति । किं कर्तृ । सव्वं दव्वं सर्वं विवक्षिताविवक्षितजीवद्रव्यम् । किंविशिष्टं भवति । अणण्णं अनन्यमभिन्नमेकं तन्मयमिति । केन सह । तेन नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवरूपविभावपर्यायसमूहेन केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टय-

गाथा ११४

अन्वयार्थ :– [द्रव्यार्थिकेन] द्रव्यार्थिक (नय) से [सर्वं] सब [द्रव्यं] द्रव्य है; [पुनः च] और [पर्यायार्थिकेन] पर्यायार्थिक (नय) से [तत्] वह (द्रव्य) [अन्यत्] अन्य-अन्य है, [तत्काले तन्मयत्वात्] क्योंकि उस समय तन्मय होनेसे [अनन्यत्] (द्रव्य पर्यायोंसे) अनन्य है ।

टीका :– वास्तवमें सभी वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होनेसे वस्तुका स्वरूप देखनेवालोंके क्रमशः (१) सामान्य और (२) विशेषको जाननेवाली दो आँखें हैं :– (१) द्रव्यार्थिक और (२) पर्यायार्थिक ।

इनमेंसे पर्यायार्थिक चक्षुको सर्वथा बन्द करके जब मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षुके द्वारा देखा जाता है तब नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना-पर्यायस्वरूप विशेषोंमें रहनेवाले एक जीवसामान्यको देखनेवाले और विशेषोंको न देखनेवाले जीवोंको 'वह सब जीव द्रव्य है' ऐसा भासित होता है । और जब द्रव्यार्थिक चक्षुको सर्वथा बन्द करके मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षुके द्वारा देखा जाता है तब जीवद्रव्यमें रहनेवाले नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना – पर्यायस्व-

द्रव्यार्थिके बधुं द्रव्य छे; ने ते ज पर्यायार्थिके
छे अन्य, जेथी ते समय तद्रूप होई अनन्य छे ॥ ११४ ॥

रेकलक्षणः पर्यायस्तत्त्रयात्मकं, या पूर्वोत्तरव्यतिरेकस्पर्शिना चेतनत्वेन स्थितिर्यावुत्तरपूर्वव्यतिरेकत्वेन चेतनस्योत्पादव्ययौ तत्त्रयात्मकं च स्वरूपास्तित्वं यस्य नु स्वभावोऽहं स खल्वयमन्यः । यच्चाचेतनत्वान्वयलक्षणं द्रव्यं, योऽचेतनाविशेषत्वलक्षणो गुणो, योऽचेतनत्वव्यतिरेकलक्षणः पर्यायस्तत्त्रयात्मकं, या पूर्वोत्तरव्यतिरेकस्पर्शिनाचेतनत्वेन स्थितिर्यावुत्तरपूर्वव्यतिरेकत्वेनाचेतनस्योत्पादव्ययौ तत्त्रयात्मकं च स्वरूपास्तित्वम् यस्य तु स्वभावः पुद्गलस्य स खल्वयमन्यः । नास्ति मे मोहोऽस्ति स्वपरविभागः ।। १५४ ।।

शुद्धोत्पादव्ययध्रौव्यत्रयात्मकं च यत्पूर्वोक्तं स्वरूपास्तित्वं तेन कृत्वा त्रिधा सम्यगाख्यातं कथितं प्रतिपादितम् । पुनरपि कथंभूतं आत्मस्वभावम् । **सवियप्पं** सविकल्पं पूर्वोक्तद्रव्यगुणपर्यायरूपेण सभेदम् । य इत्थंभूतमात्मस्वभावं जानाति, **ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि** न मुह्यति सोऽन्यद्रव्ये, स तु भेदज्ञानी विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावमात्मतत्त्वं विहाय देहरागादिपरद्रव्ये मोहं न गच्छतीत्यर्थः ।। १५४।।

---

(१) [1]पूर्व और उत्तर व्यतिरेकको स्पर्शकरनेवाले चेतनत्वरूपसे जो ध्रौव्य और (२-३) चेतनके उत्तर तथा पूर्व व्यतिरेकरूपसे जो उत्पाद और व्यय – यह त्रयात्मक (ऐसा) स्वरूप-अस्तित्व जिसका स्वभाव है ऐसा मैं वास्तवमें यह अन्य हूँ, (अर्थात् मैं पुद्गलसे ये भिन्न रहा) । और (१) अचेतनत्वका अन्वय जिसका लक्षण है ऐसा जो द्रव्य, (२) अचेतना विशेषत्व जिसका लक्षण है ऐसा जो गुण और (३) अचेतनत्वका व्यतिरेक जिसका लक्षण है ऐसी जो पर्याय – यह त्रयात्मक (ऐसा स्वरूप-अस्तित्व) तथा (१) पूर्व और उत्तर व्यतिरेकको स्पर्शकरनेवाले अचेतनत्वरूपसे जो ध्रौव्य और (२–३) अचेतनके उत्तर तथा पूर्व व्यतिरेकरूपसे जो उत्पाद और व्यय – यह त्रयात्मक ऐसा स्वरूप-अस्तित्व जिस पुद्गलका स्वभाव है वह वास्तवमें (मुझसे) अन्य है । (इसलिये) मुझे मोह नहीं है; स्वपरका विभाग है ।

भावार्थ :– मनुष्य, देव इत्यादि अनेकद्रव्यात्मक पर्यायोंमें भी जीवका स्वरूप-अस्तित्व और प्रत्येक परमाणुका स्वरूप-अस्तित्व सर्वथा भिन्न-भिन्न है । सूक्ष्मतासे देखने पर वहाँ जीव और पुद्गलका स्वरूप-अस्तित्व (अर्थात् अपने-अपने द्रव्य-गुण-पर्याय और ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय) स्पष्टतया भिन्न जाना जा सकता है । स्व-परका भेद करनेके लिये जीवको इस स्वरूपास्तित्वको पद-पद पर लक्ष्यमें लेना योग्य है । यथा – यह (जाननेमें आता हुवा) चेतन द्रव्य-गुण-पर्याय और चेतन ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय जिसका स्वभाव है

---

[1] पूर्व अर्थात् पहलेका; और उत्तर अर्थात् बादका । (चेतन पूर्व और उत्तरकी दोनों पर्यायोंको स्पर्श करता है; इस अपेक्षासे ध्रौव्य है; बादकी अर्थात् वर्तमान पर्यायकी अपेक्षासे उत्पाद है और पहलेकी पर्यायकी अपेक्षासे व्यय है ।)

अथात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वाय परद्रव्यसंयोगकारणस्वरूपमालोचयति –

अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो ।
सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि ।। १५५ ।।

आत्मा उपयोगात्मा उपयोगो ज्ञानदर्शनं भणितः ।
सोऽपि शुभोऽशुभो वा उपयोग आत्मनो भवति ।। १५५ ।।

एवं नरनारकादिपर्यायैः सह परमात्मनो विशेषभेदकथनरूपेण प्रथमस्थले गाथात्रयं गतम् । अथात्मनः पूर्वोक्तप्रकारेण नरनारकादिपर्यायैः सह भिन्नत्वपरिज्ञानं जातं, तावदिदानीं तेषां संयोगकारणं कथ्यते – अप्पा आत्मा भवति । कथंभूतः । उवओगप्पा चैतन्यानुविधायी योऽसावुपयोगस्तेन निर्वृत्तत्वादुपयोगात्मा । उवओगो णाणदंसणं भणिदो स चोपयोगः सविकल्पं ज्ञानं निर्विकल्पं

ऐसा मैं इस (पुद्गल) से भिन्न रहा; और यह अचेतन द्रव्य-गुण-पर्याय तथा अचेतन ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय जिसका स्वभाव है ऐसा पुद्गल यह (मुझसे) भिन्न रहा। इसलिये मुझे परके प्रति मोह नहीं है; स्व-परका भेद है ।। १५४ ।।

अब, आत्माको अत्यन्त विभक्त करनेके लिये परद्रव्यके संयोगके कारणका स्वरूप कहते हैं :–

गाथा १५५

अन्वयार्थ :– [आत्मा उपयोगात्मा] आत्मा उपयोगात्मक है; [उपयोगः] उपयोग [ज्ञानदर्शनं भणितः] ज्ञान-दर्शन कहा गया है; [अपि] और [आत्मनः] आत्माका [सः उपयोगः] वह उपयोग [शुभः अशुभः वा] शुभ अथवा अशुभ [भवति] होता है।

टीका :– वास्तवमें आत्माको परद्रव्यके संयोगका कारण [1]उपयोगविशेष है। प्रथम तो उपयोग वास्तवमें आत्माका स्वभाव है क्योंकि वह चैतन्य-अनुविधायी (उपयोग चैतन्यका अनुसरण करके होनेवाला) परिणाम है। और वह उपयोग

---

[1] उपयोगविशेष=उपयोगका भेद, प्रकार या अमुक प्रकारका उपयोग। ([illegible] है; यह १५६ वीं गाथामें कहेंगे।)

छे आतमा उपयोगरूप, उपयोग दर्शन-ज्ञान छे;
उपयोग ए आत्मा तणो शुभ वा अशुभरूप होय छे ।। १५५ ।।

आत्मनो हि परद्रव्यसंयोगकारणमुपयोगविशेषः । उपयोगो हि तावदात्मनः स्वभावश्चैतन्यानुविधायिपरिणामत्वात् । स तु ज्ञानं दर्शनं च, साकारनिराकारत्वेनोभयरूपत्वाच्चैतन्यस्य । अथायमुपयोगो द्वेधा विशिष्यते शुद्धाशुद्धत्वेन । तत्र शुद्धो निरुपरागः, अशुद्धः सोपरागः । स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपत्वेन द्वैविध्यादुपरागस्य द्विविधः शुभोऽशुभश्च ।। १५५ ।।

अथात्र क उपयोगः परद्रव्यसंयोगकारणमित्यावेदयति –

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि ।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि ।। १५६ ।।

उपयोगो यदि हि शुभः पुण्यं जीवस्य संचयं याति ।
अशुभो वा तथा पापं तयोरभावे न चयोऽस्ति ।। १५६ ।।

दर्शनमिति भणितः । सो वि सुहो सोऽपि ज्ञानदर्शनोपयोगो धर्मानुरागरूपः शुभः, असुहो विषयानुरागरूपो द्वेषमोहरूपश्चाशुभः । वा वाशब्देन शुभाशुभानुरागरहितत्वेन शुद्धः । उवओगो अप्पणो हवदि इत्थंभूतस्त्रिलक्षण उपयोग आत्मनः संबन्धी भवतीत्यर्थः ।। १५५ ।। अथोपयोगस्तावन्नरनारकादिपर्यायकारणभूतस्य कर्मरूपस्य परद्रव्यस्य संयोगकारणं भवति । तावदिदानीं कस्य कर्मणः क उपयोगः कारणं भवतीति विचारयति – उवओगो जदि हि सुहो उपयोगो यदि चेत् हि स्फुटं शुभो

ज्ञान तथा दर्शन है, क्योंकि चैतन्य [1]साकार और [2]निराकार ऐसा उभयरूप है । अब इस उपयोगके शुद्ध और अशुद्ध ऐसे दो भेद किये गये हैं । उसमें, शुद्ध उपयोग निरुपराग (निर्विकार) है; और अशुद्ध उपयोग सोपराग (सविकार) है । और वह अशुद्ध उपयोग शुभ और अशुभ ऐसे दो प्रकारका है, क्योंकि उपराग विशुद्धिरूप और संक्लेशरूप ऐसा दो प्रकारका है (अर्थात् विकार मन्दकषायरूप और तीव्रकषायरूप ऐसा दो प्रकारका है) ।

भावार्थ :– आत्मा उपयोगस्वरूप है । प्रथम तो उपयोगके दो भेद हैं – शुद्ध और अशुद्ध । और फिर अशुद्ध उपयोगके दो भेद हैं, शुभ तथा अशुभ ।। १५५ ।।

---

[1] साकार=आकारवाला या भेदवाला; सविकल्प; विशेष ।
[2] निराकार=आकार रहित; भेदरहित; निर्विकल्प; सामान्य ।

उपयोग जो शुभ होय, संचय थाय पुण्य तणो तहीं ।
ने पापसंचय अशुभथी; ज्यां उभय नहि संचय नहीं ।। १५६ ।।

उपयोगो हि जीवस्य परद्रव्यसंयोगकारणमशुद्धः । स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपोपरागवशात् शुभाशुभत्वेनोपात्तद्वैविध्यः, पुण्यपापत्वेनोपात्तद्वैविध्यस्य परद्रव्यस्य संयोगकारणत्वेन निर्वर्तयति । यदा तु द्विविधस्याप्यस्याशुद्धस्याभावः क्रियते तदा खलूपयोगः शुद्ध एवावतिष्ठते । स पुनरकारणमेव परद्रव्यसंयोगस्य ।। १५६ ।।

अथ शुभोपयोगस्वरूपं प्ररूपयति –

भवति । पुण्णं जीवस्स संचयं जादि तदा काले द्रव्यपुण्यं कर्तृ जीवस्य संचयमुपचयं वृद्धिं याति बध्यत इत्यर्थः । असुहो वा तह पावं अशुभोपयोगो वा तथा तेनैव प्रकारेण पुण्यवद्द्रव्यपापं संचयं याति । तेसिमभावे ण चयमत्थि तयोरभावे न चयोऽस्ति । निर्दोषिनिजपरमात्मभावनारूपेण शुद्धोपयोगबलेन यदा तयोर्द्वयोः शुभाशुभोपयोगयोरभावः क्रियते तदोभयः संचयः कर्मबन्धो नास्तीत्यर्थः ।। १५६ ।। एवं शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयस्य सामान्यकथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाद्वयं गतम् । अथ

अब यह कहते हैं कि इनमें कौनसा उपयोग परद्रव्यके संयोगका कारण है :–

गाथा १५६

अन्वयार्थ :– [**उपयोगः**] उपयोग [**यदि हि**] यदि [**शुभः**] शुभ हो [**जीवस्य**] तो जीवके [**पुण्यं**] पुण्य [**संचयं याति**] संचयको प्राप्त होता है [**तथा वा अशुभः**] और यदि अशुभ हो [**पापं**] तो पाप संचय होता है । [**तयोः अभावे**] उनके (दोनोंके) अभावमें [**चयः नास्ति**] संचय नहीं होता ।

टीका :– जीवको परद्रव्यके संयोगका कारण अशुद्ध उपयोग है । और वह विशुद्धि तथा संक्लेशरूप उपरागके कारण शुभ और अशुभरूपसे द्विविधताको प्राप्त होता हुआ, जो पुण्य और पापरूपसे द्विविधताको प्राप्त होता है ऐसा जो परद्रव्य उसके संयोगके कारणरूपसे काम करता है । (उपराग मंदकषायरूप और तीव्रकषायरूपसे दो प्रकारका है, इसलिये अशुद्ध उपयोग भी शुभ-अशुभके भेदसे दो प्रकारका है; उसमेंसे शुभोपयोग पुण्यरूप परद्रव्यके संयोगका कारण होता है और अशुभोपयोग पापरूप परद्रव्यके संयोगका कारण होता है ।) किन्तु जब दोनों प्रकारके अशुद्धोपयोगका अभाव किया जाता है तब वास्तवमें उपयोग शुद्ध ही रहता है; और वह तो परद्रव्यके संयोगका अकारण ही है । (अर्थात् शुद्धोपयोग परद्रव्यके संयोगका कारण नहीं है ।) ।। १५६ ।।

अब शुभोपयोगका स्वरूप कहते हैं :–

शरीरं च वाचं च मनश्च परद्रव्यत्वेनाहं प्रपद्ये, ततो न तेषु कश्चिदपि मम पक्षपातोऽस्ति। सर्वत्राप्यहमत्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि। तथा हि – न खल्वहं शरीरवाङ्मनसां स्वरूपाधारभूतमचेतनद्रव्यमस्मि; तानि खलु मां स्वरूपाधारमन्तरेणाप्यात्मनः स्वरूपं धारयन्ति। ततोऽहं शरीरवाङ्मनःपक्षपातमपास्यात्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि। न च मे शरीरवाङ्मनःकारणाचेतनद्रव्यत्वमस्ति; तानि खलु मां कारणमन्तरेणापि कारणवन्ति भवन्ति। ततोऽहं तत्कारणत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः। न च मे स्वतन्त्र-

रमात्मद्रव्याद्भिन्नं यन्मनोवचनकायत्रयं निश्चयनयेन तन्नाहं भवामि। ततः कारणात्तत्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मि। ण कारणं तेसिं न कारणं तेषाम्। निर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतपरिणतेर्यदुपादानकारणभूतमात्मद्रव्यं तद्विलक्षणो मनोवचनकायानामुपादानकारणभूतः पुद्गलपिण्डो न भवामि। ततः कारणात्तत्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मि। कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता

[न वाणी] न वाणी हूँ; [तेषां कारणं न] उनका कारण नहीं हूँ [कर्ता न] कर्ता नहीं हूँ, [कारयिता न] करानेवाला नहीं हूँ; [कर्तॄणां अनुमन्ता न एव] (और) कर्ताका अनुमोदक नहीं हूँ।

टीका :— मैं शरीर, वाणी और मनको परद्रव्यके रूपमें समझता हूँ, इसलिये मुझे उनके प्रति कुछ भी पक्षपात नहीं है। मैं उन सबके प्रति अत्यन्त मध्यस्थ हूँ। वह इसप्रकार :—

वास्तवमें मैं शरीर, वाणी और मनके स्वरूपका आधारभूत ऐसा अचेतन द्रव्य नहीं हूँ, मैं स्वरूपाधार (हुए) विना भी वे वास्तवमें अपने स्वरूपको धारण करते हैं। इसलिये मैं शरीर, वाणी और मनका पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

और मैं शरीर, वाणी तथा मनका कारण ऐसा अचेतन द्रव्य नहीं हूँ। मैं कारण (हुए) विना भी वे वास्तवमें कारणवान् हैं। इसलिये उनके कारणपनेका पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

और मैं स्वतंत्ररूपसे शरीर, वाणी तथा मनका कर्ता ऐसा अचेतन द्रव्य नहीं हूँ; मैं कर्ता (हुए) विना भी वे वास्तवमें किये जाते हैं। इसलिये उनके कर्तृत्वका पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

और मैं, स्वतन्त्ररूपसे शरीर, वाणी तथा मनका कारक (कर्ता) ऐसा जो अचेतन द्रव्य है उसका प्रयोजक नहीं हूँ; मैं कर्ता–प्रयोजक विना भी (अर्थात् मैं उनके

शरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यत्वमस्ति; तानि खलु मां कर्तारमन्तरेणापि क्रियमाणानि। ततोऽहं तत्कर्तृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः। न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यप्रयोजकत्वमस्ति; तानि खलु मां कारकप्रयोजकमन्तरेणापि क्रियमाणानि। ततोऽहं तत्कारकप्रयोजकत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः। न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यानुज्ञातृत्वमस्ति; तानि खलु मां कारकानुज्ञातारमन्तरेणापि क्रियमाणानि। ततोऽहं तत्कारकानुज्ञातृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः ॥ १६० ॥

अथ शरीरवाङ्मनसां परद्रव्यत्वं निश्चिनोति –

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा।
पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ॥ १६१ ॥

देहश्च मनो वाणी पुद्गलद्रव्यात्मका इति निर्दिष्टाः।
पुद्गलद्रव्यमपि पुनः पिण्डः परमाणुद्रव्याणाम् ॥ १६१ ॥

णेव कत्तीणं कर्ता न हि कारयिता अनुमन्ता नैव कर्तॄणाम्। स्वशुद्धात्मभावनाविषये यत्कृतकारितानुमतस्वरूपं तद्विलक्षणं यन्मनोवचनकायविषये कृतकारितानुमतस्वरूपं तन्नाहं भवामि। ततः कारणात्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मीति तात्पर्यम् ॥ १६० ॥ अथ कायवाङ्मनसां शुद्धात्म-

कर्ताका प्रयोजक – उनका करानेवाला – हुए बिना भी) वे वास्तवमें किये जाते हैं। इसलिये यह मैं उनके कर्ताके प्रयोजकपनेका पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

और मैं स्वतन्त्ररूपसे शरीर, वाणी तथा मनका कारक जो अचेतन द्रव्य है, उसका अनुमोदक नहीं हूँ; मैं कर्ता – अनुमोदक बिना भी (मैं उनके कर्ताका अनुमोदक हुए बिना भी) वे वास्तवमें किये जाते हैं। इसलिये उनके कर्ताके अनुमोदकपनेका पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ ॥ १६० ॥

अब, शरीर, वाणी और मनका परद्रव्यपना निश्चित करते हैं :–

गाथा १६१

अन्वयार्थ :– [देहः च मनः वाणी] देह, मन और वाणी [पुद्गलद्रव्यात्मकाः]

मन, वाणी तेम ज देह पुद्गलद्रव्यरूप निर्दिष्ट छे ;
ने तेह पुद्गलद्रव्य बहु परमाणुओनो पिंड छे ॥ १६१ ॥

शरीरं च वाचं च मनश्च परद्रव्यत्वेनाहं प्रपद्ये, ततो न तेषु कश्चिदपि मम पक्षपातोऽस्ति। सर्वत्राप्यहमत्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि। तथा हि — न खल्वहं शरीरवाङ्मनसां स्वरूपाधारभूतमचेतनद्रव्यमस्मि; तानि खलु मां स्वरूपाधारमन्तरेणाप्यात्मनः स्वरूपं धारयन्ति। ततोऽहं शरीरवाङ्मनःपक्षपातमपास्यात्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि। न च मे शरीरवाङ्मनःकारणाचेतनद्रव्यत्वमस्ति; तानि खलु मां कारणमन्तरेणापि कारणवन्ति भवन्ति। ततोऽहं तत्कारणत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः। न च मे स्वतन्त्र-

---

रमात्मद्रव्याद्भिन्नं यन्मनोवचनकायत्रयं निश्चयनयेन तन्नाहं भवामि। ततः कारणात्तत्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मि। ण कारणं तेसिं न कारणं तेषाम्। निर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतपरिणतेर्यदुपादानकारणभूतमात्मद्रव्यं तद्विलक्षणो मनोवचनकायानामुपादानकारणभूतः पुद्गलपिण्डो न भवामि। ततः कारणात्तत्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मि। कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता

[न वाणी] न वाणी हूँ; [तेषां कारणं न] उनका कारण नहीं हूँ [कर्ता न] कर्ता नहीं हूँ, [कारयिता न] करानेवाला नहीं हूँ; [कर्तॄणां अनुमन्ता न एव] (और) कर्ताका अनुमोदक नहीं हूँ।

टीका :— मैं शरीर, वाणी और मनको परद्रव्यके रूपमें समझता हूँ, इसलिये मुझे उनके प्रति कुछ भी पक्षपात नहीं है। मैं उन सबके प्रति अत्यन्त मध्यस्थ हूँ। वह इसप्रकार :—

वास्तवमें मैं शरीर, वाणी और मनके स्वरूपका आधारभूत ऐसा अचेतन द्रव्य नहीं हूँ, मैं स्वरूपाधार (हुए) बिना भी वे वास्तवमें अपने स्वरूपको धारण करते हैं। इसलिये मैं शरीर, वाणी और मनका पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

और मैं शरीर, वाणी तथा मनका कारण ऐसा अचेतन द्रव्य नहीं हूँ। मैं कारण (हुए) बिना भी वे वास्तवमें कारणवान् हैं। इसलिये उनके कारणपनेका पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

और मैं स्वतंत्ररूपसे शरीर, वाणी तथा मनका कर्ता ऐसा अचेतन द्रव्य नहीं हूँ; मैं कर्ता (हुए) बिना भी वे वास्तवमें किये जाते हैं। इसलिये उनके कर्तृत्वका पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

और मैं, स्वतंत्ररूपसे शरीर, वाणी तथा मनका कारक (कर्ता) ऐसा जो अचेतन द्रव्य है उसका प्रयोजक नहीं हूँ; मैं कर्ता-प्रयोजक बिना भी (अर्थात् मैं उनके

शरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यत्वमस्ति; तानि खलु मां कर्तारमन्तरेणापि क्रियमाणानि । ततोऽहं तत्कर्तृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः । न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यप्रयोजकत्वमस्ति; तानि खलु मां कारकप्रयोजकमन्तरेणापि क्रियमाणानि । ततोऽहं तत्कारकप्रयोजकत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः । न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यानुज्ञातृत्वमस्ति; तानि खलु मां कारकानुज्ञातारमन्तरेणापि क्रियमाणानि । ततोऽहं तत्कारकानुज्ञातृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः ॥ १६० ॥

अथ शरीरवाङ्मनसां परद्रव्यत्वं निश्चिनोति –

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा ।
पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ॥ १६१ ॥

देहश्च मनो वाणी पुद्गलद्रव्यात्मका इति निर्दिष्टाः ।
पुद्गलद्रव्यमपि पुनः पिण्डः परमाणुद्रव्याणाम् ॥ १६१ ॥

णेव कत्तीणं कर्ता न हि कारयिता अनुमन्ता नैव कर्तृणाम् । स्वशुद्धात्मभावनाविषये यत्कृतकारितानुमतस्वरूपं तद्विलक्षणं यन्मनोवचनकायविषये कृतकारितानुमतस्वरूपं तन्नाहं भवामि । ततः कारणात्तत्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मीति तात्पर्यम् ॥ १६० ॥ अथ कायवाङ्मनसां शुद्धात्म-

कर्ताका प्रयोजक – उनका करानेवाला – हुए बिना भी) वे वास्तवमें किये जाते हैं । इसलिये यह मैं उनके कर्ताके प्रयोजकपनेका पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ ।

और मैं स्वतन्त्ररूपसे शरीर, वाणी तथा मनका कारक जो अचेतन द्रव्य है, उसका अनुमोदक नहीं हूँ; मैं कर्ता – अनुमोदक बिना भी (मैं उनके कर्ताका अनुमोदक हुए बिना भी) वे वास्तवमें किये जाते हैं । इसलिये उनके कर्ताके अनुमोदकपनेका पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ ॥ १६० ॥

अब, शरीर, वाणी और मनका परद्रव्यपना निश्चित करते हैं :–

गाथा १६१

अन्वयार्थ :– [देहः च मनः वाणी] देह, मन और वाणी [पुद्गलद्रव्यात्मकाः]

मन, वाणी तेम ज देह पुद्गलद्रव्यरूप निर्दिष्ट है ;
ने तेह पुद्गलद्रव्य बहु परमाणुओंनो पिंड है ॥ १६१ ॥

शरीरं च वाचं च मनश्च परद्रव्यत्वेनाहं प्रपद्ये, ततो न तेषु कश्चिदपि मम पक्षपातोऽस्ति । सर्वत्राप्यहमत्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि । तथा हि – न खल्वहं शरीरवाङ्मनसां स्वरूपाधारभूतमचेतनद्रव्यमस्मि; तानि खलु मां स्वरूपाधारमन्तरेणाप्यात्मनः स्वरूपं धारयन्ति । ततोऽहं शरीरवाङ्मनःपक्षपातमपास्यात्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि । न च मे शरीरवाङ्मनःकारणाचेतनद्रव्यत्वमस्ति; तानि खलु मां कारणमन्तरेणापि कारणवन्ति भवन्ति । ततोऽहं तत्कारणत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः । न च मे स्वतन्त्र-

रमात्मद्रव्याद्भिन्नं यन्मनोवचनकायत्रयं निश्चयनयेन तन्नाहं भवामि । ततः कारणात्तत्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मि । ण कारणं तेसिं न कारणं तेषाम् । निर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतपरिणतेर्यदुपादानकारणभूतमात्मद्रव्यं तद्विलक्षणो मनोवचनकायानामुपादानकारणभूतः पुद्गलपिण्डो न भवामि । ततः कारणात्तत्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मि । कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता

[न वाणी] न वाणी हूँ; [तेषां कारणं न] उनका कारण नहीं हूँ [कर्ता न] कर्ता नहीं हूँ, [कारयिता न] करानेवाला नहीं हूँ; [कर्तॄणां अनुमन्ता न एव] (और) कर्ताका अनुमोदक नहीं हूँ ।

टीका :– मैं शरीर, वाणी और मनको परद्रव्यके रूपमें समझता हूँ, इसलिये मुझे उनके प्रति कुछ भी पक्षपात नहीं है । मैं उन सबके प्रति अत्यन्त मध्यस्थ हूँ । वह इसप्रकार :–

वास्तवमें मैं शरीर, वाणी और मनके स्वरूपका आधारभूत ऐसा अचेतन द्रव्य नहीं हूँ, मैं स्वरूपाधार (हुए) विना भी वे वास्तवमें अपने स्वरूपको धारण करते हैं । इसलिये मैं शरीर, वाणी और मनका पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ ।

और मैं शरीर, वाणी तथा मनका कारण ऐसा अचेतन द्रव्य नहीं हूँ । मैं कारण (हुए) विना भी वे वास्तवमें कारणवान् हैं । इसलिये उनके कारणपनेका पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ ।

और मैं स्वतंत्ररूपसे शरीर, वाणी तथा मनका कर्ता ऐसा अचेतन द्रव्य नहीं हूँ; मैं कर्ता (हुए) विना भी वे वास्तवमें किये जाते हैं । इसलिये उनके कर्तृत्वका पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ ।

और मैं, स्वतन्त्ररूपसे शरीर, वाणी तथा मनका कारक (कर्ता) ऐसा जो अचेतन द्रव्य है उसका प्रयोजक नहीं हूँ; मैं कर्ता–प्रयोजक विना भी (अर्थात् मैं उनके

शरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यत्वमस्ति; तानि खलु मां कर्तारमन्तरेणापि क्रियमाणानि । ततोऽहं तत्कर्तृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः । न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यप्रयोजकत्वमस्ति; तानि खलु मां कारकप्रयोजकमन्तरेणापि क्रियमाणानि । ततोऽहं तत्कारकप्रयोजकत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः । न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यानुज्ञातृत्वमस्ति; तानि खलु मां कारकानुज्ञातारमन्तरेणापि क्रियमाणानि । ततोऽहं तत्कारकानुज्ञातृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः ॥ १६० ॥

अथ शरीरवाङ्मनसां परद्रव्यत्वं निश्चिनोति –

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा ।
पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ॥ १६१ ॥

देहश्च मनो वाणी पुद्गलद्रव्यात्मका इति निर्दिष्टाः ।
पुद्गलद्रव्यमपि पुनः पिण्डः परमाणुद्रव्याणाम् ॥ १६१ ॥

णैव कर्तॄणां कर्ता न हि कारयिता अनुमन्ता नैव कर्तॄणाम् । स्वशुद्धात्मभावनाविषये यत्कृतकारितानुमतस्वरूपं तद्विलक्षणं यन्मनोवचनकायविषये कृतकारितानुमतस्वरूपं तन्नाहं भवामि । ततः कारणादत्यन्तपक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मीति तात्पर्यम् ॥ १६० ॥ अथ कायवाङ्मनसां शुद्धात्म-

कर्ताका प्रयोजक — उनका करानेवाला — हुए बिना भी) वे वास्तवमें किये जाते हैं। इसलिये यह मैं उनके कर्ताके प्रयोजकपनेका पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

और मैं स्वतन्त्ररूपसे शरीर, वाणी तथा मनका कारक जो अचेतन द्रव्य है, उनका अनुमोदक नहीं हूँ; मैं कर्ता — अनुमोदक बिना भी (मैं उनके कर्ताका अनुमोदक हुए बिना भी) वे वास्तवमें किये जाते हैं। इसलिये उनके कर्ताके अनुमोदकपनेका पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ ॥ १६० ॥

अब, शरीर, वाणी और मनका परद्रव्यपना निश्चित करते हैं :—

गाथा १६१

अन्वयार्थ :— [देहः च मनः वाणी] देह, मन और वाणी [पुद्गलद्रव्यात्मकाः]

मन, वाणी तेम ज देह पुद्गलद्रव्यरूप निर्दिष्ट छे ।
ने तेह पुद्गलद्रव्य बहु परमाणुओनो पिंड छे ॥ १६१ ॥

शरीरं च वाचं च मनश्च परद्रव्यत्वेनाहं प्रपद्ये, ततो न तेषु कश्चिदपि मम पक्षपातोऽस्ति। सर्वत्राप्यहमत्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि। तथा हि – न खल्वहं शरीरवाङ्मनसां स्वरूपाधारभूतमचेतनद्रव्यमस्मि; तानि खलु मां स्वरूपाधारमन्तरेणाप्यात्मनः स्वरूपं धारयन्ति। ततोऽहं शरीरवाङ्मनःपक्षपातमपास्यात्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि। न च मे शरीरवाङ्मनःकारणाचेतनद्रव्यत्वमस्ति; तानि खलु मां कारणमन्तरेणापि कारणवन्ति भवन्ति। ततोऽहं तत्कारणत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः। न च मे स्वतन्त्र-

रमात्मद्रव्याद्भिन्नं यन्मनोवचनकायत्रयं निश्चयनयेन तन्नाहं भवामि। ततः कारणात्तत्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मि। ण कारणं तेसिं न कारणं तेषाम्। निर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतपरिणतेर्यदुपादानकारणभूतमात्मद्रव्यं तद्विलक्षणो मनोवचनकायानामुपादानकारणभूतः पुद्गलपिण्डो न भवामि। ततः कारणात्तत्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मि। कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता

[न वाणी] न वाणी हूँ; [तेषां कारणं न] उनका कारण नहीं हूँ [कर्ता न] कर्ता नहीं हूँ, [कारयिता न] करानेवाला नहीं हूँ; [कर्तॄणां अनुमन्ता न एव] (और) कर्ताका अनुमोदक नहीं हूँ।

टीका :– मैं शरीर, वाणी और मनको परद्रव्यके रूपमें समझता हूँ, इसलिये मुझे उनके प्रति कुछ भी पक्षपात नहीं है। मैं उन सबके प्रति अत्यन्त मध्यस्थ हूँ। वह इसप्रकार :–

वास्तवमें मैं शरीर, वाणी और मनके स्वरूपका आधारभूत ऐसा अचेतन द्रव्य नहीं हूँ, मैं स्वरूपाधार (हुए) बिना भी वे वास्तवमें अपने स्वरूपको धारण करते हैं। इसलिये मैं शरीर, वाणी और मनका पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

और मैं शरीर, वाणी तथा मनका कारण ऐसा अचेतन द्रव्य नहीं हूँ। मैं कारण (हुए) बिना भी वे वास्तवमें कारणवान् हैं। इसलिये उनके कारणपनेका पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

और मैं स्वतंत्ररूपसे शरीर, वाणी तथा मनका कर्ता ऐसा अचेतन द्रव्य नहीं हूँ; मैं कर्ता (हुए) बिना भी वे वास्तवमें किये जाते हैं। इसलिये उनके कर्तृत्वका पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

और मैं, स्वतन्त्ररूपसे शरीर, वाणी तथा मनका कारक (कर्ता) ऐसा जो अचेतन द्रव्य है उसका प्रयोजक नहीं हूँ; मैं कर्ता–प्रयोजक बिना भी (अर्थात् मैं उनके

शरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यत्वमस्ति; तानि खलु मां कर्तारमन्तरेणापि क्रियमाणानि । ततोऽहं तत्कर्तृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः । न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यप्रयोजकत्वमस्ति; तानि खलु मां कारकप्रयोजकमन्तरेणापि क्रियमाणानि । ततोऽहं तत्कारकप्रयोजकत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः । न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यानुज्ञातृत्वमस्ति; तानि खलु मां कारकानुज्ञातारमन्तरेणापि क्रियमाणानि । ततोऽहं तत्कारकानुज्ञातृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः ॥ १६० ॥

अथ शरीरवाङ्मनसां परद्रव्यत्वं निश्चिनोति –

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा ।
पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ॥ १६१ ॥

देहश्च मनो वाणी पुद्गलद्रव्यात्मका इति निर्दिष्टाः ।
पुद्गलद्रव्यमपि पुनः पिण्डः परमाणुद्रव्याणाम् ॥ १६१ ॥

णैव कर्तृणां कर्ता न हि कारयिता अनुमन्ता नैव कर्तृणाम् । स्वशुद्धात्मभावनाविषये यत्कृतकारितानुमतस्वरूपं तद्विलक्षणं यन्मनोवचनकायविषयं कृतकारितानुमतस्वरूपं तन्नाहं भवामि । ततः कारणात्तत्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मीति तात्पर्यम् ॥ १६० ॥ अथ कायवाङ्मनसां शुद्धात्म-

कर्ताका प्रयोजक – उनका करानेवाला – हुए बिना भी) वे वास्तवमें किये जाते हैं । इसलिये यह मैं उनके कर्ताके प्रयोजकपनेका पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ ।

और मैं स्वतन्त्ररूपसे शरीर, वाणी तथा मनका कारक जो अचेतन द्रव्य है, उसका अनुमोदक नहीं हूँ; मैं कर्ता – अनुमोदक बिना भी (मैं उनके कर्ताका अनुमोदक हुए बिना भी) वे वास्तवमें किये जाते हैं । इसलिये उनके कर्ताके अनुमोदकपनेका पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ ॥ १६० ॥

अब, शरीर, वाणी और मनका परद्रव्यपना निश्चित करते हैं :–

गाथा १६१

अन्वयार्थ :– [देहः च मनः वाणी] देह, मन और वाणी [पुद्गलद्रव्यात्मकाः]

मन, वाणी तेम ज देह पुद्गलद्रव्यरूप निर्दिष्ट है ;
ने देह पुद्गलद्रव्य वह परमाणुओंका पिंड है ॥ १६१ ॥

शरीरं च वाचं च मनश्च परद्रव्यत्वेनाहं प्रपद्ये, ततो न तेषु कश्चिदपि मम पक्षपातोऽस्ति । सर्वत्राप्यहमत्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि । तथा हि – न खल्वहं शरीरवाङ्मनसां स्वरूपाधारभूतमचेतनद्रव्यमस्मि; तानि खलु मां स्वरूपाधारमन्तरेणाप्यात्मनः स्वरूपं धारयन्ति । ततोऽहं शरीरवाङ्मनःपक्षपातमपास्यात्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि । न च मे शरीरवाङ्मनःकारणाचेतनद्रव्यत्वमस्ति; तानि खलु मां कारणमन्तरेणापि कारणवन्ति भवन्ति । ततोऽहं तत्कारणत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः । न च मे स्वतन्त्र-

---

रमात्मद्रव्याद्भिन्नं यन्मनोवचनकायत्रयं निश्चयनयेन तन्नाहं भवामि । ततः कारणात्तत्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मि । ण कारणं तेसिं न कारणं तेषाम् । निर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतपरिणतेर्यदुपादानकारणभूतमात्मद्रव्यं तद्विलक्षणो मनोवचनकायानामुपादानकारणभूतः पुद्गलपिण्डो न भवामि । ततः कारणात्तत्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मि । कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता

[न वाणी] न वाणी हूँ; [तेषां कारणं न] उनका कारण नहीं हूँ [कर्ता न] कर्ता नहीं हूँ, [कारयिता न] करानेवाला नहीं हूँ; [कर्तॄणां अनुमन्ता न एव] (और) कर्ताका अनुमोदक नहीं हूँ ।

टीका :— मैं शरीर, वाणी और मनको परद्रव्यके रूपमें समझता हूँ, इसलिये मुझे उनके प्रति कुछ भी पक्षपात नहीं है । मैं उन सबके प्रति अत्यन्त मध्यस्थ हूँ । वह इसप्रकार :—

वास्तवमें मैं शरीर, वाणी और मनके स्वरूपका आधारभूत ऐसा अचेतन द्रव्य नहीं हूँ, मैं स्वरूपाधार (हुए) विना भी वे वास्तवमें अपने स्वरूपको धारण करते हैं । इसलिये मैं शरीर, वाणी और मनका पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ ।

और मैं शरीर, वाणी तथा मनका कारण ऐसा अचेतन द्रव्य नहीं हूँ । मैं कारण (हुए) विना भी वे वास्तवमें कारणवान् हैं । इसलिये उनके कारणपनेका पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ ।

और मैं स्वतंत्ररूपसे शरीर, वाणी तथा मनका कर्ता ऐसा अचेतन द्रव्य नहीं हूँ; मैं कर्ता (हुए) विना भी वे वास्तवमें किये जाते हैं । इसलिये उनके कर्तृत्वका पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ ।

और मैं, स्वतन्त्ररूपसे शरीर, वाणी तथा मनका कारक (कर्ता) ऐसा जो अचेतन द्रव्य है उसका प्रयोजक नहीं हूँ; मैं कर्ता–प्रयोजक विना भी (अर्थात् मैं उनके

शरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यत्वमस्ति; तानि खलु मां कर्तारमन्तरेणापि क्रियमाणानि । ततोऽहं तत्कर्तृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः । न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यप्रयोजकत्वमस्ति; तानि खलु मां कारकप्रयोजकमन्तरेणापि क्रियमाणानि : ततोऽहं तत्कारकप्रयोजकत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः । न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यानुज्ञातृत्वमस्ति; तानि खलु मां कारकानुज्ञातारमन्तरेणापि क्रियमाणानि । ततोऽहं तत्कारकानुज्ञातृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः ॥ १६० ॥

अथ शरीरवाङ्मनसां परद्रव्यत्वं निश्चिनोति –

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा ।
पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ॥ १६१ ॥

देहश्च मनो वाणी पुद्गलद्रव्यात्मका इति निर्दिष्टाः ।
पुद्गलद्रव्यमपि पुनः पिण्डः परमाणुद्रव्याणाम् ॥ १६१ ॥

णैव कर्मणां कर्ता न हि कारयिता अनुमन्ता नैव कर्तॄणाम् । स्वशुद्धात्मभावनाविषये यत्कृतकारितानुमतस्वरूपं तद्विलक्षणं यन्मनोवचनकायविषयं कृतकारितानुमतस्वरूपं तन्नाहं भवामि । ततः कारणात्तत्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मीति तात्पर्यम् ॥ १६० ॥ अथ कायवाङ्मनसां शुद्धात्म-

कर्ताका प्रयोजक – उनका करानेवाला – हुए बिना भी) वे वास्तवमें किये जाते हैं । इसलिये यह मैं उनके कर्ताके प्रयोजकपनेका पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ ।

और मैं स्वतन्त्ररूपसे शरीर, वाणी तथा मनका कारक जो अचेतन द्रव्य है, उनका अनुमोदक नहीं हूँ; मैं कर्ता – अनुमोदक बिना भी (मैं उनके कर्ताका अनुमोदक हुए बिना भी) वे वास्तवमें किये जाते हैं । इसलिये उनके कर्ताके अनुमोदकपनेका पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ ॥ १६० ॥

अब, शरीर, वाणी और मनका परद्रव्यपना निश्चित करते हैं :–

गाथा १६१

अन्वयार्थ :– [देहः च मनः वाणी] देह, मन और वाणी [पुद्गलद्रव्यात्मकाः]

मन, वाणी तेम ज देह पुद्गलद्रव्यात्मक निर्दिष्ट है ;
ने देह पुद्गलद्रव्य वह परमाणुओंका पिंड है ॥ १६१ ॥

शरीरं च वाचं च मनश्च परद्रव्यत्वेनाहं प्रपद्ये, ततो न तेषु कश्चिदपि मम पक्षपातोऽस्ति। सर्वत्राप्यहमत्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि। तथा हि – न खल्वहं शरीरवाङ्मनसां स्वरूपाधारभूतमचेतनद्रव्यमस्मि; तानि खलु मां स्वरूपाधारमन्तरेणाप्यात्मनः स्वरूपं धारयन्ति। ततोऽहं शरीरवाङ्मनःपक्षपातमपास्यात्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि। न च मे शरीरवाङ्मनःकारणाचेतनद्रव्यत्वमस्ति; तानि खलु मां कारणमन्तरेणापि कारणवन्ति भवन्ति। ततोऽहं तत्कारणत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः। न च मे स्वतन्त्र-

---

रमात्मद्रव्याद्भिन्नं यन्मनोवचनकायत्रयं निश्चयनयेन तन्नाहं भवामि। ततः कारणात्तत्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मि। ण कारणं तेसिं न कारणं तेषाम्। निर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतपरिणतेर्यदुपादानकारणभूतमात्मद्रव्यं तद्विलक्षणो मनोवचनकायानामुपादानकारणभूतः पुद्गलपिण्डो न भवामि। ततः कारणात्तत्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मि। कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता

[न वाणी] न वाणी हूँ; [तेषां कारणं न] उनका कारण नहीं हूँ [कर्ता न] कर्ता नहीं हूँ, [कारयिता न] करानेवाला नहीं हूँ; [कर्तृणां अनुमन्ता न एव] (और) कर्ताका अनुमोदक नहीं हूँ।

टीका :– मैं शरीर, वाणी और मनको परद्रव्यके रूपमें समझता हूँ, इसलिये मुझे उनके प्रति कुछ भी पक्षपात नहीं है। मैं उन सबके प्रति अत्यन्त मध्यस्थ हूँ। वह इसप्रकार :–

वास्तवमें मैं शरीर, वाणी और मनके स्वरूपका आधारभूत ऐसा अचेतन द्रव्य नहीं हूँ, मैं स्वरूपाधार (हुए) विना भी वे वास्तवमें अपने स्वरूपको धारण करते हैं। इसलिये मैं शरीर, वाणी और मनका पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

और मैं शरीर, वाणी तथा मनका कारण ऐसा अचेतन द्रव्य नहीं हूँ। मैं कारण (हुए) विना भी वे वास्तवमें कारणवान् हैं। इसलिये उनके कारणपनेका पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

और मैं स्वतंत्ररूपसे शरीर, वाणी तथा मनका कर्ता ऐसा अचेतन द्रव्य नहीं हूँ; मैं कर्ता (हुए) विना भी वे वास्तवमें किये जाते हैं। इसलिये उनके कर्तृत्वका पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

और मैं, स्वतन्त्ररूपसे शरीर, वाणी तथा मनका कारक (कर्ता) ऐसा जो अचेतन द्रव्य है उसका प्रयोजक नहीं हूँ; मैं कर्ता–प्रयोजक बिना भी (अर्थात् मैं उनके

यदेतत्प्रकरणनिर्धारितं पुद्गलात्मकमन्तर्नीतवाङ्मनोद्वैतं शरीरं नाम परद्रव्यं न तावदहमस्मि, ममापुद्गलमयस्य पुद्गलात्मकशरीरत्वविरोधात् । न चापि तस्य कारणद्वारेण कर्तृद्वारेण कर्तृप्रयोजकद्वारेण कर्त्रनुमन्तृद्वारेण वा शरीरस्य कर्ताहमस्मि, ममानेकपरमाणुद्रव्यैकपिण्डपर्यायपरिणामस्याकर्तुरनेकपरमाणुद्रव्यैकपिण्डपर्यायपरिणामात्मकशरीरकर्तृत्वस्य सर्वथा विरोधात् ॥ १६२ ॥

अथ कथं परमाणुद्रव्याणां पिण्डपर्यायपरिणतिरिति संदेहमपनुदति –

ण ते मया पुग्गला कया पिंडा न च ते पुद्गला मया कृताः पिण्डाः । तम्हा हि ण देहोऽहं तस्माद्देहो न भवाम्यहं । हि स्फुटं । कत्ता वा तस्स देहस्स कर्ता वा न भवामि तस्य देहस्येति । अयमत्रार्थः — देहोऽहं न भवामि । कस्मात् । अशरीरसहजशुद्धचैतन्यपरिणतत्वेन मम देहत्वविरोधात् । कर्ता वा न भवामि तस्य देहस्य । तदपि कस्मात् । निःक्रियपरमचिज्ज्योतिःपरिणतत्वेन मम देहकर्तृत्वविरोधादिति ॥ १६२ ॥ एवं कायवाङ्मनसां शुद्धात्मना सह भेदकथनरूपेण चतुर्थस्थले गाथात्रयं

गाथा १६२

अन्वयार्थ :– [अहं पुद्गलमयः न] मैं पुद्गलमय नहीं हूँ और [ते पुद्गलाः] वे पुद्गल [मया] मेरे द्वारा [पिण्डं न कृताः] पिण्डरूप नहीं किये गये हैं, [तस्मात् हि] इसलिये [अहं न देहः] मैं देह नहीं हूँ, [वा] तथा [तस्य देहस्य कर्ता] उस देहका कर्ता नहीं हूँ ।

टीका :– प्रथम तो, जो यह प्रकरणसे निर्धारित पुद्गलात्मक शरीर नामक पर-द्रव्य है – जिसके भीतर वाणी और मनका समावेश हो जाता है – वह मैं नहीं हूँ; क्योंकि अपुद्गलमय ऐसा मैं पुद्गलात्मक शरीररूप होनेमें विरोध है । और इसीप्रकार उस (शरीर) के कारण द्वारा, कर्ता द्वारा, कर्ताके प्रयोजक द्वारा या कर्ताके अनुमोदक द्वारा शरीरका कर्ता मैं नहीं हूँ, क्योंकि मैं अनेक परमाणुद्रव्योंके एकपिंडपर्यायरूप परिणामका अकर्ता ऐसा मैं अनेक परमाणुद्रव्योंके एकपिंडपर्यायरूप परिणामात्मक शरीरका कर्तारूप होनेमें सर्वथा विरोध है ॥ १६२ ॥

अब इस संदेहको दूर करते हैं कि परमाणुद्रव्योंको पिंडपर्यायरूप परिणति कैसे होती है ? :–

[illegible]

शरीरं च वाक् च मनश्च त्रीण्यपि परद्रव्यं, पुद्गलद्रव्यात्मकत्वात् । पुद्गलद्रव्यत्वं तु तेषां पुद्गलद्रव्यस्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चितत्वात् । तथाविधपुद्गलद्रव्यं त्वनेकपरमाणुद्रव्याणामेकपिण्डपर्यायेण परिणामः । अनेकपरमाणुद्रव्यस्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वानामनेकत्वेऽपि कथंचिदेकत्वेनावभासनात् ।। १६१ ।।

अथात्मनः परद्रव्यत्वाभावं परद्रव्यकर्तृत्वाभावं च साधयति –

णाहं पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिंडं ।
तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्स देहस्स ।। १६२ ।।

नाहं पुद्गलमयो न ते मया पुद्गलाः कृताः पिण्डम् ।
तस्माद्धि न देहोऽहं कर्ता वा तस्य देहस्य ।। १६२ ।।

स्वरूपात्परद्रव्यत्वं व्यवस्थापयति – **देहो य मणो वाणी पुग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा** देहश्च मनो वाणी तिस्रोऽपि पुद्गलद्रव्यात्मका इति निर्दिष्टाः । कस्मात् । व्यवहारेण जीवेन सहैकत्वेपि निश्चयेन परमचैतन्यप्रकाशपरिणतेर्भिन्नत्वात् । पुद्गलद्रव्यं किं भण्यते । **पुग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं** पुद्गलद्रव्यं हि स्फुटं पुनः पिण्डः समूहो भवति । केषाम् । परमाणुद्रव्याणामित्यर्थः ।।१६१।। अथात्मनः शरीररूपपरद्रव्याभावं तत्कर्तृत्वाभावं च निरूपयति – **णाहं पुग्गलमइओ** नाहं पुद्गलमयः ।

पुद्गलद्रव्यात्मक **[इति निर्दिष्टाः]** हैं, ऐसा (वीतरागदेवने) कहा है **[अपि पुनः]** और **[पुद्गल द्रव्यं]** वे पुद्गलद्रव्य **[परमाणुद्रव्याणां पिण्डः]** परमाणुद्रव्योंका पिण्ड है।

टीका :– शरीर, वाणी और मन तीनों ही परद्रव्य हैं, क्योंकि वे पुद्गलद्रव्यात्मक हैं । उनके पुद्गलद्रव्यपना है, क्योंकि वे पुद्गलद्रव्यके स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्वमें निश्चित (रहे हुए) हैं । उस प्रकारका [1]पुद्गलद्रव्य अनेक परमाणुद्रव्योंका एक पिण्डपर्यायरूपसे परिणाम है, क्योंकि अनेक परमाणुद्रव्योंके स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व अनेक होने पर भी कथंचित् (स्निग्धत्व-रूक्षत्वकृत बंधपरिणामकी अपेक्षासे) एकत्वरूप अवभासित होते हैं ।। १६१ ।।

अब आत्माके परद्रव्यत्वका अभाव और परद्रव्यके कर्तृत्वका अभाव सिद्ध करते हैं :–

---

[1] शरीरादिरूप ।

हुं पौद्गलिक नथी, पुद्गलो में पिंडरूप कर्या नथी ।
तेथी नथी हुं देह वा ते देहनो कर्ता नथी ।। १६२ ।।

परमाणुर्हि द्व्यादिप्रदेशानामभावादप्रदेशः, एकप्रदेशसद्भावात्प्रदेशमात्रः, स्वयमनेकपरमाणुद्रव्यात्मकशब्दपर्यायव्यक्त्यसंभवादशब्दश्च । यतश्चतुःस्पर्शपञ्चरसद्विगन्धपञ्चवर्णानामविरोधेन सद्भावात् स्निग्धो वा रूक्षो वा स्यात्, तत एव तस्य पिण्डपर्यायपरिणतिरूपा द्विप्रदेशादित्वानुभूतिः । अथैवं स्निग्धरूक्षत्वं पिण्डत्वसाधनम् ।। १६३ ।।

अथ कीदृशं तत्स्निग्धरूक्षत्वं परमाणोरित्यावेदयति —

एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं ।
परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुभवदि ।। १६४ ।।

एकोत्तरमेकाद्यणोः स्निग्धत्वं वा रूक्षत्वम् ।
परिणामाद्भणितं यावदनन्तत्वमनुभवति ।। १६४ ।।

सयमसद्दो य स्वयं व्यक्तिरूपेणाशब्दः । एवं विशेषणत्रयविशिष्टः सन् णिद्धो वा लुक्खो वा स्निग्धो वा रूक्षो वा यतः कारणात्संभवति ततः कारणात् दुपदेसादित्तमणुभवदि द्विप्रदेशादिरूपं बन्धमनुभवतीति । तथा हि – यथायमात्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावेन बन्धरहितोऽपि पश्चादशुद्धनयेन स्निग्धस्थानीयरागभावेन रूक्षस्थानीयद्वेषभावेन यदा परिणमति तदा परमागमकथितप्रकारेण बन्धमनुभवति, तथा परमाणुरपि स्वभावेन बन्धरहितोऽपि यदा बन्धकारणभूतस्निग्धरूक्षगुणेन परिणतो भवति तदा पुद्गलान्तरेण सह विभावपर्यायरूपं बन्धमनुभवतीत्यर्थः ।। १६३ ।। अथ कीदृशं तत्स्निग्धरूक्षत्वमिति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति – एगुत्तरमेगादी एकोत्तरमेकादि । किम् । णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं स्निग्धत्वं रूक्षत्वं च कर्मतापन्नं । भणिदं भणितं कथितम् । कियत्पर्यन्तम् । जाव अणंतत्तमणुभवदि अनन्तत्वमनन्तपर्यन्तं यावदनुभवति प्राप्नोति । कस्मात्सकाशात् । परिणामादो परिणतिविशेषात्परिणामित्वादित्यर्थः । कस्य संबन्धि । अणुस्स अणोः पुद्गलपरमाणोः । तथा हि – यथा लोके जलाजागोमहिषीक्षीरे स्नेहवृद्धिवत्स्नेहस्थानीय [illegible]

अब यह बतलाते हैं कि परमाणुके वह स्निग्ध-रूक्षत्व [illegible] होता है —

गाथा १६४

अन्वयार्थ :– [अणोः] परमाणुके, [परिणामात्] [illegible] [एकादि] एकसे (एक अविभाग प्रतिच्छेदसे) लेकर [एकोत्तरं] [illegible] [यावत्] जब तक [अनन्तत्वम् अनुभवति] अनन्तपनेको [illegible] प्राप्त हो तब तक (स्निग्धत्वं वा रूक्षत्वं) [illegible]

एकांशथी आरंभी [illegible]
स्निग्धत्व वा रूक्षत्व जे परिणामथी [illegible]

परमाणोर्हि तावदस्ति परिणामः तस्य वस्तुस्वभावत्वेनानतिक्रमात् । ततस्तु परिणामादुपात्तकादाचित्कवैचित्र्यं चित्रगुणयोगित्वात्परमाणोरेकाद्येकोत्तरानन्तावसानाविभागपरिच्छेदव्यापि स्निग्धत्वं वा रूक्षत्वं वा भवति ॥ १६४ ॥

विशुद्धिसंक्लेशस्थानीयमादिं कृत्वा परमागमकथितक्रमेणोत्कृष्टविशुद्धिसंक्लेशपर्यन्तं वर्तते, तथा पुद्गलपरमाणुद्रव्येऽपि स्निग्धत्वं रूक्षत्वं च बन्धकारणभूतं पूर्वोक्तजलादितारतम्यशक्तिदृष्टान्तेनैक-गुणसंज्ञां जघन्यशक्तिमादिं कृत्वा गुणसंज्ञेनाविभागपरिच्छेदद्वितीयनामाभिधेयेन शक्तिविशेषेण वर्तते । किंपर्यन्तं । यावदनन्तसंख्यानम् । कस्मात् । पुद्गलद्रव्यस्य परिणामित्वात्, परिणामस्य वस्तु-स्वभावादेव निषेधितुमशक्यत्वादिति ॥ १६४ ॥ अथात कीदृशात्स्निग्धरूक्षत्वगुणात् पिण्डो भवतीति

[भणितम्] (जिनेन्द्रदेवने) कहा है ।

टीका :– प्रथम तो परमाणुके परिणाम होता है क्योंकि वह (परिणाम) वस्तुका स्वभाव होनेसे उल्लंघन नहीं किया जासकता । और उस परिणामके कारण जो [1]कादा-चित्क [2]विचित्रता धारण करता है ऐसा, एकसे लेकर एक-एक बढ़ते हुए अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदों तक व्याप्त होनेवाला स्निग्धत्व अथवा रूक्षत्व परमाणुके होता है क्योंकि परमाणु अनेक प्रकारके गुणोंवाला है ।

भावार्थ :– परमाणु परिणमन वाला है, इसलिये उसके स्निग्धत्व और रूक्षत्व एक अविभाग- [3]प्रतिच्छेदसे लेकर अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदों तक तरतमताको प्राप्त होते हैं ।

अब यह बतलाते हैं कि कैसे स्निग्धत्व-रूक्षत्वसे पिण्डपना होता है :–

गाथा १६५

अन्वयार्थ :– [अणुपरिणामाः] परमाणु-परिणाम, [स्निग्धाः वा रूक्षाः वा]

---

[1] कादाचित्क=किसी समय हो ऐसा; क्षणिक; अनित्य ।

[2] विचित्रता=अनेकप्रकारता; विविधता; अनेकरूपता (चिकनापन और रूखापन परिणामके कारण क्षणिक अनेकरूपता – तरतमता, तारतम्यता धारण करता है) ।

[3] किसी गुणमें (अर्थात् गुणकी पर्यायमें) अंशकल्पना करनेपर, उसका जो छोटेसे छोटा (निरंश) अंश होता है उसे उस गुणका (अर्थात् गुणकी पर्यायका) अविभाग प्रतिच्छेद कहा जाता है (बकरीसे गायके दूधमें और गायसे भैंसके दूधमें सचिक्कणताके अविभागी प्रतिच्छेद अधिक होते हैं । धूलसे राखमें और राखसे बालूमें रूक्षताके अविभागी प्रतिच्छेद अधिक होते हैं ।)

अथात्र कीदृशात्स्निग्धरूक्षत्वात्पिण्डत्वमित्यावेदयति –

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा ।
समदो दुराधिगा जदि वज्झन्ति हि आदिपरिहीणा ॥ १६५ ॥

स्निग्धा वा रूक्षा वा अणुपरिणामाः समा वा विषमा वा ।
समतो द्व्यधिका यदि बध्यन्ते हि आदिपरिहीणाः ॥ १६५ ॥

प्रश्ने समाधानं ददाति – **वज्झंति** हि बध्यन्ते हि स्फुटम् । के । कर्मतापन्नाः **अणुपरिणामा** अणुपरिणामाः । अणुपरिणामशब्देनात्र परिणामपरिणता अणवो गृह्यन्ते । कथंभूताः । **णिद्धा वा लुक्खा वा** स्निग्धपरिणामपरिणता वा रूक्षपरिणामपरिणता वा । पुनरपि किंविशिष्टाः । **समा व विसमा वा** द्विशक्तिचतुःशक्तिषट्शक्त्यादिपरिणतानां सम इति संज्ञा, त्रिशक्तिपञ्चशक्तिसप्तशक्त्यादिपरिणतानां विषम इति संज्ञा । पुनश्च किंरूपाः । **समदो दुराधिगा जदि** समतः समसंख्यानात्सकाशाद् द्वाभ्यां गुणाभ्यामधिका यदि चेत् । कथं द्विगुणाधिकत्वमिति चेत् । एको द्विगुणस्तिष्ठति द्वितीयोऽपि द्विगुण

स्निग्ध हों या रूक्ष हों **[समाः वा विषमाः वा]** सम अंशवाले हों या विषम अंशवाले हों **[यदि समतः द्व्यधिकाः]** यदि समानसे दो अधिक अंश वाले हों तो **[बध्यन्ते हि]** बंधते हैं, **[आदि परिहीनाः]** जघन्यांश वाले नहीं बंधते ।

टीका :– समानसे दो गुण (अंश) अधिक स्निग्धत्व या रूक्षत्व हो तो बंध होता है यह उत्सर्ग (सामान्य नियम) है; क्योंकि स्निग्धत्व या रूक्षत्वकी द्विगुणाधिकताका होना वह परिणामक (परिणमन करानेवाला) होनेसे बंधका कारण है ।

यदि एक गुण स्निग्धत्व या रूक्षत्व हो तो बंध नहीं होता यह अपवाद है; क्योंकि एक गुण स्निग्धत्व या रूक्षत्वके ¹परिणम्य-परिणामकताका अभाव होनेसे बंधके

---

¹ परिणम्य=परिणमन करने योग्य । [दो अंश स्निग्धतावाला [illegible] बंधकर स्कंध बननेपर, दो अंश स्निग्धतावाला परमाणु [illegible] दो अंश स्निग्धतावाला परमाणु चार अंश स्निग्धतावाले [illegible] स्निग्धतावाला परमाणु चार अंश स्निग्धतारूप परिणमित [illegible] परिणामक है और दो अधिक अंशवाला परमाणु परिणामक है [illegible] (सामान्य नियमानुसार) परिणामक हो, ऐसा नहीं, [illegible] उत्कृष्ट जघन्यभाव बंधका कारण नहीं है ।]

हो स्निग्ध अथवा रूक्ष अणु-परिणाम सम वा विषम वा,
बंधाय जो गुणद्वय अधिक; नहिं बंध होय जघन्यका । १६५.

अथात्मनः पुद्गलपिण्डानेतृत्वाभावमवधारयति –

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो ।
सुहुमेहि बादरेहि य अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं ॥ १६८ ॥

अवगाढगाढनिचितः पुद्गलकायैः सर्वतो लोकः ।
सूक्ष्मैर्बादरैश्चाप्रायोग्यैर्योग्यैः ॥ १६८ ॥

भवतीति ॥१६७॥ अथात्मा बन्धकाले बन्धयोग्यपुद्गलान् बहिर्भागान्नानयतीत्यावेदयति – **ओगाढगाढणिचिदो** अवगाह्यावगाह्य नैरन्तर्येण निचितो भृतः । स कः । **लोगो** लोकः । कथंभूतः । **सव्वदो** सर्वतः सर्वप्रदेशेषु । कैः कर्तृभूतैः । **पुग्गलकायेहिं** पुद्गलकायैः । किंविशिष्टैः । **सुहुमेहि बादरेहि य** इन्द्रियग्रहणायोग्यैः सूक्ष्मैस्तद्ग्रहणयोग्यैर्बादरैश्च । पुनश्च कथंभूतैः । **अप्पाओग्गेहिं** अतिसूक्ष्मस्थूलत्वेन कर्मवर्गणायोग्यतारहितैः । पुनश्च किंविशिष्टैः । **जोग्गेहिं** अतिसूक्ष्मस्थूलत्वाभावात्कर्म-

---

निश्चित होता है कि द्वि-अणुकादि अनन्तानन्त पुद्गलोंका पिण्डकर्ता आत्मा नहीं है ॥१६७॥

अब ऐसा निश्चित करते हैं कि (जिसप्रकार आत्मा पुद्गलपिण्डका करनेवाला नहीं उसी प्रकार) आत्मा पुद्गलपिण्डका लानेवाला (भी) नहीं है :–

गाथा १६८

अन्वयार्थ :– [**लोकः**] लोक [**सर्वतः**] सर्वतः [**सूक्ष्मैः बादरैः**] सूक्ष्म तथा बादर [**च**] और [**अप्रायोग्यैः योग्यैः**] कर्मत्वके अयोग्य तथा कर्मत्वके योग्य [**पुद्गलकायैः**] पुद्गलस्कंधोंके द्वारा [**अवगाढगाढनिचितः**] (विशिष्ट प्रकारसे) अवगाहित होकर गाढ़ (-घनिष्ठ) भरा हुआ है ।

टीका :– सूक्ष्मतया परिणत तथा बादररूप परिणत, अति सूक्ष्म अथवा अति स्थूल न होनेसे कर्मरूप परिणत होनेकी शक्तिवाले तथा अति सूक्ष्म अथवा अति स्थूल होनेसे कर्मरूप परिणत होनेकी शक्तिसे रहित – ऐसे पुद्गलकायोंके द्वारा, अवगाहकी विशिष्टताके कारण परस्पर बाधा किये बिना, स्वयमेव सर्वतः (सर्व प्रदेशोंसे) लोक

अवगाढ़ गाढ़ भरेल छे सर्वत्र पुद्गलकायथी ।
आलोक बादर-सूक्ष्मथी, कर्मत्वयोग्य-अयोग्यथी ॥ १६८ ॥

यतो हि सूक्ष्मत्वपरिणतैर्बादरपरिणतैश्चानतिसूक्ष्मत्वस्थूलत्वात् कर्मत्वपरिणमनशक्तियोगिभिरतिसूक्ष्मस्थूलतया तदयोगिभिश्चावगाहविशिष्टत्वेन परस्परमबाधमानैः स्वयमेव सर्वत एव पुद्गलकायैर्गाढं निचितो लोकः। ततोऽवधार्यते न पुद्गलपिण्डानामानेता पुरुषोऽस्ति ॥ १६८ ॥

अथात्मनः पुद्गलपिण्डानां कर्मत्वकर्तृत्वाभावमवधारयति –

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा।
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा ॥ १६९ ॥

कर्मत्वप्रायोग्याः स्कन्धा जीवस्य परिणतिं प्राप्य।
गच्छन्ति कर्मभावं न हि ते जीवेन परिणमिताः ॥ १६९ ॥

ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजसिओ ।
आहारय कम्मइओ पोग्गलदव्वप्पगा सव्वे ।। १७१ ।।

औदारिकश्च देहो देहो वैक्रियिकश्च तैजसः ।
आहारकः कार्मणः पुद्गलद्रव्यात्मकाः सर्वे ।। १७१ ।।

यतो ह्यौदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि सर्वाण्यपि पुद्गलद्रव्यात्मकानि । ततोऽवधार्यते न शरीरं पुरुषोऽस्ति ।। १७१ ।।

अथ किं तर्हि जीवस्य शरीरादिसर्वपरद्रव्यविभागसाधनमसाधारणं स्वलक्षणमित्यावेदयति –

औदारिकश्च देहः देहो वेउव्विओ य देहो वैक्रियकश्च तेजइओ तैजसिकः आहारय कम्मइयो आहारकः कार्मणश्च पुग्गलदव्वप्पगा सव्वे एते पञ्च देहा : पुद्गलद्रव्यात्मकाः सर्वेऽपि मम स्वरूपं न भवन्ति । कस्मादिति चेत् । ममाशरीरचैतन्यचमत्कारपरिणतत्वेन सर्वदैवाचेतनशरीरत्वविरोधादिति ।।१७१ । एवं पुद्गलस्कन्धानां बन्धव्याख्यानमुख्यतया द्वितीयस्थले गाथापञ्चकं गतम् । इति 'अपदेसो परमाणू' इत्यादि गाथानवकेन परमाणुस्कन्धभेदभिन्नपुद्गलानां पिण्डनिष्पत्तिव्याख्यानमुख्यतया द्वितीयविशेषान्तराधिकारः समाप्तः । अथैकोनविंशतिगाथापर्यन्तं जीवस्य पुद्गलेन सह बन्धमुख्यतया व्याख्यानं करोति, तत्र षट्स्थलानि भवन्ति । तेष्वादौ 'अरसमरूवं' इत्यादि शुद्धजीवव्याख्यानेन गाथैका, 'मुत्तो रूवादि' इत्यादिपूर्वपक्षपरिहारमुख्यतया गाथाद्वयमिति प्रथमस्थले गाथात्रयम् ।

गाथा १७१

अन्वयार्थ :– [औदारिकः च देहः] औदारिक शरीर, [वैक्रियिकः देहः] वैक्रियिक शरीर, [तैजसः] तैजस शरीर, [आहारकः] आहारक शरीर [च] और [कार्मणः] कार्मण शरीर – [सर्वे] सब [पुद्गलद्रव्यात्मकाः] पुद्गलद्रव्यात्मक हैं ।

टीका :– औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये शरीर सब पुद्गलद्रव्यात्मक हैं । इससे निश्चित होता है कि आत्मा शरीर नहीं है ।। १७१ ।।

तब फिर जीवका, शरीरादि सर्वपरद्रव्योंसे विभागका साधनभूत, असाधारण स्वलक्षण क्या है, सो कहते हैं :–

जे देह औदारिक, ने वैक्रिय-तेजस देह छे ।
कार्मण-आहारक देह जे, ते सर्व पुद्गलरूप छे ।। १७१ ।।

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ १३७ ॥

अरसमरूपमगन्धमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम् ।
जानीह्यलिङ्गग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ॥ १३७ ॥

[illegible]

[illegible]

तस्य स्वजीवद्रव्यमात्राश्रितत्वेन स्वलक्षणतां बिभ्राणं शेषद्रव्यान्तरविभागं साधयति। अलिङ्गग्राह्य इति वक्तव्ये यदलिङ्गग्रहणमित्युक्तं तद्बहुतरार्थप्रतिपत्तये। तथाहि (१) न लिंगैरिन्द्रियैर्ग्राहकतामापन्नस्य ग्रहणं यस्येत्यतीन्द्रियज्ञानमयत्वस्य प्रतिपत्तिः। (२) न लिंगैरिन्द्रियैर्ग्राह्यतामापन्नस्य ग्रहणं यस्येतीन्द्रियप्रत्यक्षाविषयत्वस्य। (३) न लिंगादिन्द्रियगम्याद्धूमादग्नेरिव ग्रहणं यस्येतीन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वकानुमानाविषयत्वस्य। (४) न लिंगादेव परैः ग्रहणं यस्येत्यनुमेयमात्रत्वाभावस्य। (५) न लिंगादेव परेषां ग्रहणं यस्येत्यनुमातृमात्रत्वाभावस्य। (६) न लिंगात्स्वभावेन ग्रहणं यस्येति प्रत्यक्षज्ञातृत्वस्य।

कथनमुख्यतया 'रत्तो बंधदि' इत्यादि गाथात्रयम्। अथ भेदभावनामुख्यत्वेन 'भणिदा पुढवी' इत्यादि सूत्रद्वयम्। तदनन्तरं जीवो रागादिपरिणामानामेव कर्ता, न च द्रव्यकर्मणामिति कथनमुख्यत्वेन 'कुव्वं सहावमादा' इत्यादि षष्ठस्थले गाथासप्तकम्। यत्र मुख्यत्वमिति वदति तत्र यथासंभवमन्योऽप्यर्थो लभ्यत इति सर्वत्र ज्ञातव्यम्। एवमेकोनविंशतिगाथाभिस्तृतीयविशेषान्तराधिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा–अथ किं तर्हि जीवस्य शरीरादिपरद्रव्येभ्यो भिन्नमन्यद्रव्यासाधारणं स्वस्वरूपमिति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति–**अरसमरूवमगंधं** रसरूपगन्धरहितत्वात्तथा चाव्याहार्यमाणा-

---

स्वजीवद्रव्याश्रित होनेसे स्वलक्षणपनेको धारण करता हुआ, आत्माका शेष अन्य द्रव्योंसे विभाग (भेद) सिद्ध करता है।

जहाँ 'अलिंगग्राह्य' कहना है वहाँ जो 'अलिंगग्रहण' कहा है, वह बहुतसे अर्थोंकी प्रतिपत्ति (प्राप्ति, प्रतिपादन) करनेके लिये है। वह इसप्रकार है:– (१) ग्राहक (ज्ञायक) जिसके लिंगोंके द्वारा अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा अतीन्द्रियज्ञानमय है' इस अर्थकी प्राप्ति होती है। (२) ग्राह्य (ज्ञेय) जिसका लिंगोंके द्वारा अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षका विषय नहीं है' इस अर्थकी प्राप्ति होती है। (३) जैसे धुंएँसे अग्निका ग्रहण (ज्ञान) होता है, उसीप्रकार लिंग द्वारा, अर्थात् इन्द्रियगम्य (इन्द्रियोंसे जानने योग्य चिह्न) द्वारा जिसका ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार 'आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमानका विषय नहीं है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (४) दूसरोंके द्वारा–मात्र लिंग द्वारा ही जिसका ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा अनुमेय मात्र (केवल अनुमानसे ही ज्ञात होने योग्य) नहीं है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (५) जिसके लिंगसे ही परका ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा अनुमातामात्र (केवल अनुमान करनेवाला ही) नहीं है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (६) जिसके

(७) न लिङ्गेनोपयोगाख्यलक्षणेन ग्रहणं ज्ञेयार्थालम्बनं यस्येति बहिरर्थालम्बनज्ञानाभावस्य । (८) न लिङ्गस्योपयोगाख्यलक्षणस्य ग्रहणं स्वयमाहरणं यस्येत्यनाहार्यज्ञानत्वस्य । (९) न लिङ्गस्योपयोगाख्यलक्षणस्य ग्रहणं परेण हरणं यस्येत्यहार्यज्ञानत्वस्य । (१०) न लिङ्गे उपयोगाख्यलक्षणे ग्रहणं सूर्य इवोपरागो यस्येति शुद्धोपयोगस्वभावस्य । (११) न लिङ्गादुपयोगाख्यलक्षणाद्ग्रहणं पौद्गलिककर्मादानं यस्येति द्रव्यकर्मासंपृक्तत्वस्य । (१२) न लिङ्गेभ्य इन्द्रियेभ्यो ग्रहणं विषयाणामुपभोगो यस्येति विषयोपभोक्तृत्वाभावस्य । (१३) न लिङ्गात्मनो वेन्द्रियादिलक्षणाद्ग्रहणं जीवस्य धारणं

यस्येति शुक्रार्तवानुविधायित्वाभावस्य। (१४) न लिंगस्य मेहनाकारस्य ग्रहणं यस्येति लौकिकसाधनमात्रत्वाभावस्य। (१५) न लिंगेनामेहनाकारेण ग्रहणं लोकव्याप्तिर्यस्येति कुहुकप्रसिद्धसाधनाकारलोकव्याप्तित्वाभावस्य। (१६) न लिंगानां स्त्रीपुन्नपुंसकवेदानां ग्रहणं यस्येति स्त्रीपुन्नपुंसकद्रव्यभावाभावस्य। (१७) न लिंगानां धर्मध्वजानां ग्रहणं

तेनालिङ्गग्रहणो भवति। तदपि कस्मात्। स्वयमेवातीन्द्रियाखण्डज्ञानसहितत्वात्। तेनैव लिङ्ग-शब्दवाच्येन चक्षुरादीन्द्रियेणान्यजीवानां यस्य ग्रहणं परिच्छेदनं कर्तुं नायाति तेनालिङ्गग्रहण उच्यते। तदपि कस्मात्। निर्विकारातीन्द्रियस्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानगम्यत्वात्। लिङ्गं धूमादि तेन धूमलिङ्गोद्भवानुमानेनाग्निवदनुमेयभूतपरपदार्थानां ग्रहणं न करोति तेनालिङ्गग्रहण इति। तदपि कस्मात्। स्वयमेवालिङ्गोद्भवातीन्द्रियज्ञानसहितत्वात्। तेनैव लिङ्गोद्भवानुमानेनाग्निग्रहणवत् परपुरुषाणां यस्यात्मनो ग्रहणं परिज्ञानं कर्तुं नायाति तेनालिङ्गग्रहण इति। तदपि कस्मात्।

विषयोंका उपभोक्ता नहीं है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (१३) लिंग द्वारा अर्थात् मन अथवा इन्द्रियादि लक्षणके द्वारा ग्रहण अर्थात् जीवत्वको धारण कर रखना जिसके नहीं है वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा शुक्र और आर्तवको अनुविधायी (अनुसार होनेवाला) नहीं है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (१४) लिंगका अर्थात् मेहनाकार (पुरुषादिकी इन्द्रियका आकार) का ग्रहण जिसके नहीं है सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा लौकिकसाधनमात्र नहीं है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (१५) लिंगके द्वारा अर्थात् अमेहनाकारके द्वारा जिसका ग्रहण अर्थात् लोकमें व्यापकत्व नहीं है सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा पाखण्डियोंके प्रसिद्ध साधनरूप आकारवाला—लोकव्याप्तिवाला नहीं है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (१६) जिसके लिंगोंका अर्थात् स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेदोंका ग्रहण नहीं है वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा द्रव्यसे तथा भावसे स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक नहीं है' इस अर्थकी प्राप्ति होती है (१७) लिंगोंका अर्थात् धर्मचिह्नोंका ग्रहण जिसके नहीं है वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्माके बहिरंग यतिलिंगोंका अभाव है' इस अर्थकी प्राप्ति होती है। (१८) लिंग अर्थात् गुण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध (पदार्थज्ञान) जिसके नहीं है सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा गुणविशेषसे आलिंगित न होने वाला ऐसा शुद्ध द्रव्य है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (१९) लिंग अर्थात् पर्याय ऐसा जो ग्रहण, अर्थात् अर्थावबोधविशेष जिसके नहीं है सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा पर्याय-विशेषसे आलिंगित न होनेवाला ऐसा शुद्ध द्रव्य है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (२०) लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञानका कारण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य

यस्येति बहिरङ्गयतिलिङ्गाभावस्य । (१८) न लिङ्गं गुणो ग्रहणमर्थावबोधो यस्येति गुणविशेषानालीढशुद्धद्रव्यत्वस्य । (१९) न लिङ्गं पर्यायो ग्रहणमर्थावबोधविशेषो यस्येति पर्यायविशेषानालीढशुद्धद्रव्यत्वस्य । (२०) न लिङ्गं प्रत्यभिज्ञानहेतुर्ग्रहणमर्थावबोधसामान्यं यस्येति द्रव्यानालीढशुद्धपर्यायत्वस्य ॥ १७२ ॥

अथ कथममूर्तस्यात्मनः स्निग्धरूक्षत्वाभावाद्बन्धो भवतीति पूर्वपक्षयति —

मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं ।
तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं ॥ १७३ ॥

मूर्तो रूपादिगुणो बध्यते स्पर्शैरन्योन्यैः ।
तद्विपरीत आत्मा बध्नाति कथं पौद्गलिकं कर्म ॥ १७३ ॥

मूर्तयोर्हि तावत्पुद्गलयो रूपादिगुणयुक्तत्वेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषादन्योन्यबन्धोऽवधार्यते एव । आत्मकर्मपुद्गलयोस्तु स कथमवधार्यते; मूर्तस्य कर्मपुद्गलस्य रूपादिगुणयुक्तत्वेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषसंभवेऽप्यमूर्तस्यात्मनो रूपादिगुणयुक्तत्वाभावेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषासंभावनया चैकाङ्गविकलत्वात् ।। १७३ ।।

अथैवममूर्तस्याप्यात्मनो बन्धो भवतीति सिद्धान्तयति –

रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि ।
दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि ।। १७४ ।।

रूपादिकै रहितः पश्यति जानाति रूपादीनि ।
द्रव्याणि गुणांश्च यथा तथा बन्धस्तेन जानीहि ।। १७४ ।।

नास्ति । कैः कृत्वा । **फासेहिं अण्णमण्णेहिं** स्निग्धरूक्षगुणलक्षणस्पर्शसंयोगैः । किंविशिष्टैः । अन्योन्यैः परस्परनिमित्तैः । **तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं** तद्विपरीतात्मा बध्नाति कथं पौद्गलं कर्मेति । अयं परमात्मा निर्विकारपरमचैतन्यचमत्कारपरिणतत्वेन बन्धकारणभूतस्निग्धरूक्षगुणस्थानीयरागद्वेषादिविभावपरिणामरहितत्वादमूर्तत्वाच्च पौद्गलं कर्म कथं बध्नाति, न कथमपीति पूर्वपक्षः ।। १७३ ।। अथैवममूर्तस्याप्यात्मनो नयविभागेन बन्धो भवतीति प्रत्युत्तरं ददाति – **रूवादिएहिं रहिदो** अमूर्तपरमचिज्ज्योतिःपरिणतत्वेन तावदयमात्मा रूपादिरहितः । तथाविधः सन्

टीका :– मूर्त ऐसे दो पुद्गल तो रूपादिगुणयुक्त होनेसे यथोक्त स्निग्धरूक्षत्वरूप स्पर्शविशेष (बंधयोग्य स्पर्श) के कारण उनका पारस्परिक बंध अवश्य समझा जा सकता है; किन्तु आत्मा और कर्मपुद्गलका बंध होना कैसे समझा जा सकता है? क्योंकि मूर्त ऐसा कर्मपुद्गल रूपादिगुणयुक्त है, इसलिये उसके यथोक्त स्निग्धरूक्षत्वरूप स्पर्शविशेषका संभव होने पर भी अमूर्त ऐसे आत्माको रूपादिगुणयुक्तता नहीं है इसलिये उसके यथोक्त स्निग्धरूक्षत्वरूप स्पर्शविशेषका असंभव होनेसे एक अंग विकल है। (अर्थात् बंधयोग्य दो अंगोंमेंसे एक अंग अयोग्य है – स्पर्शगुणरहित होनेसे बंधकी योग्यतावाला नहीं है।) ।। १७३ ।।

अब ऐसा सिद्धान्त निश्चित करते हैं कि आत्मा अमूर्त होने पर भी उसको इसप्रकार बंध होता है :–

जे रीत दर्शन-ज्ञान थाय रूपादिनुं गुणद्रव्यनुं ।
ते रीत बंधन जाण मूर्ति रहितने पण मूर्तनुं ।।१७४।।

येन प्रकारेण रूपादिरहितो रूपीणि द्रव्याणि तद्गुणांश्च पश्यति जानाति च, तेनैव प्रकारेण रूपादिरहितो रूपिभिः कर्मपुद्गलैः किल बध्यते; अन्यथा कथममूर्तो मूर्तं पश्यति जानाति चेत्यत्रापि पर्यनुयोगस्यानिवार्यत्वात्। न चैतदत्यन्तदुर्घटत्वाद्दार्ष्टान्तिकीकृतं, किन्तु दृष्टान्तद्वारेणाबालगोपालप्रकटितम्। तथा हि – यथा बालकस्य गोपालकस्य वा पृथगवस्थितं मृद्बलीवर्दं बलीवर्दं वा पश्यतो जानतश्च न बलीवर्देन सहास्ति

[illegible]

दृष्टे च तथा तद्गुणांश्च तथा । [illegible]

[illegible]

संवन्धः, विषयभावावस्थितवलीवर्दनिमित्तोपयोगाधिरूढवलीवर्दाकारदर्शनज्ञानसंबंधो वलीवर्दसंवन्धव्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव, तथा किलात्मनो नीरूपत्वेन स्पर्शशून्यत्वान्न कर्मपुद्गलैः सहास्ति संवन्धः, एकावगाहभावावस्थितकर्मपुद्गलनिमित्तोपयोगाधिरूढराग-

---

समवसरणे प्रत्यक्षजिनेश्वरं दृष्ट्वा विशेषभेदज्ञानी मन्यते मदीयाराध्योऽयमिति। तत्रापि यद्यप्यवलोकनज्ञानस्य जिनेश्वरेण सह तादात्म्यसंवन्धो नास्ति तथाप्याराध्याराधकसंवन्धोऽस्ति। तह बंधो तेण जाणीहि तथा वन्धं तेनैव दृष्टान्तेन जानीहि। अयमत्रार्थः – यद्यप्ययमात्मा निश्चयेनामूर्तस्तथाप्यनादिकर्मवन्धवशाद्व्यवहारेण मूर्तः सन् द्रव्यवन्धनिमित्तभूतं रागादिविकल्परूपं भाववन्धोपयोगं

निमित्त हैं ऐसे उपयोगारूढ़ रागद्वेषादिभावोंके साथका संबंध कर्मपुद्गलोंके साथके वंधरूप व्यवहारका साधक अवश्य है।

भावार्थ :– 'आत्मा अमूर्तिक होनेपर भी वह मूर्तिककर्मपुद्गलोंके साथ कैसे वँधता है ?' इस प्रश्नका उत्तर देते हुए आचार्यदेवने कहा है कि – आत्माके अमूर्तिक होने पर भी वह मूर्तिक पदार्थोंको कैसे जानता है ? जैसे वह मूर्तिक पदार्थोंको जानता है उसीप्रकार मूर्तिक कर्मपुद्गलोंके साथ वँधता है।

वास्तवमें अरूपी आत्माका रूपी पदार्थोंके साथ कोई संवंध न होनेपर भी अरूपीका रूपीके साथ संवंध होनेका व्यवहार भी विरोधको प्राप्त नहीं होता। जहाँ ऐसा कहा जाता है कि 'आत्मा मूर्तिक पदार्थको जानता है' वहाँ परमार्थतः अमूर्तिक आत्माका मूर्तिक पदार्थके साथ कोई संवंध नहीं है; उसका तो मात्र उस मूर्तिक पदार्थके आकाररूप होनेवाले ज्ञानके साथ ही संवंध है और उस पदार्थाकार ज्ञानके साथके संवंधके कारण ही 'अमूर्तिक आत्मा मूर्तिक पदार्थको जानता है' ऐसा अमूर्तिक-मूर्तिकका संवंधरूप व्यवहार सिद्ध होता है। इसीप्रकार जहाँ ऐसा कहा जाता है कि 'अमुक आत्माका मूर्तिक कर्मपुद्गलोंके साथ वंध है' वहाँ परमार्थतः अमूर्तिक आत्माका मूर्तिक कर्मपुद्गलोंके साथ कोई सम्वन्ध नहीं है; आत्माका तो कर्मपुद्गल जिसमें निमित्त हैं ऐसे रागद्वेषादिभावोंके साथ ही सम्वन्ध (वंध) है और उन कर्मनिमित्तक रागद्वेषादि भावोंके साथ सम्वन्ध होनेसे ही 'इस आत्माका मूर्तिक कर्मपुद्गलोंके साथ वंध है' ऐसा अमूर्तिक-मूर्तिकका वन्धरूप व्यवहार सिद्ध होता है।

यद्यपि मनुष्यको स्त्री-पुत्र-धनादिके साथ वास्तवमें कोई सम्वन्ध नहीं है, वे उस मनुष्यसे सर्वथा भिन्न हैं, तथापि स्त्री-पुत्र-धनादिके प्रति राग करनेवाले मनुष्यको रागका वन्धन होनेसे और उस रागमें स्त्री-पुत्र-धनादिके निमित्त होनेसे व्यवहारसे ऐसा अवश्य

द्वेषादिभावसंबन्धः कर्मपुद्‌गलबन्धव्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव ॥ १७४ ॥

अथ भावबन्धस्वरूपं ज्ञापयति –

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि ।
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं सो बंधो ॥ १७५ ॥

उपयोगमयो जीवो मुह्यति रज्यति वा प्रद्वेष्टि ।
प्राप्य विविधान् विषयान् यो हि पुनस्तैः स बन्धः ॥ १७५ ॥

करोति । तस्मिन्सति मूर्तद्रव्यकर्मणा सह यद्यपि तादात्म्यसंबन्धो नास्ति तथापि पूर्वोक्त दृष्टान्तेन संश्लेपसंबन्धोऽस्तीति नास्ति दोषः ॥ १७४ ॥ एवं शुद्धबुद्धैकस्वभावजीवकथनमुख्यत्वेन प्रथमगाथा, मूर्तिरहितजीवस्य मूर्तकर्मणा सह कथं बन्धो भवतीति पूर्वपक्षरूपेण द्वितीया, तत्परिहाररूपेण तृतीया चेति गाथात्रयेण प्रथमस्थलं गतम् । अथ रागद्वेषमोहलक्षणं भावबन्धस्वरूपमाख्याति – **उवओगमओ जीवो** उपयोगमयो जीवः, अयं जीवो निश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगमयस्तावत्तथाभूतोऽप्यनादिबन्धवशात्सोपाधिस्फटिकवत् परोपाधिभावेन परिणतः सन् । किं करोति । **मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि** मुह्यति रज्यति वा प्रद्वेष्टि द्वेषं करोति । किं कृत्वा पूर्वं । **पप्पा** प्राप्य । कान् । **विविधे**

कहा जाता है कि 'इस मनुष्यको स्त्री-पुत्र-धनादिका बन्धन है; इसीप्रकार, यद्यपि आत्माका कर्मपुद्‌गलोंके साथ वास्तवमें कोई सम्बन्ध नहीं है, वे आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं, तथापि रागद्वेषादि भाव करनेवाले आत्माको रागद्वेषादि भावोंका बन्धन होनेसे और उन भावोंमें कर्मपुद्‌गल निमित्त होनेसे व्यवहारसे ऐसा अवश्य कहा जासकता है कि 'इस आत्माको कर्मपुद्‌गलोंका बन्धन है' ॥ १७४ ॥

अब भावबंधका स्वरूप बतलाते हैं :–

गाथा १७५

अन्वयार्थ :– [यः हि पुनः] जो [उपयोगमयः जीवः] उपयोगमय जीव [विविधान् विषयान्] विविध विषयोंको [प्राप्य] प्राप्त करके [मुह्यति] मोह करता है, [रज्यति] राग करता है, [वा] अथवा [प्रद्वेष्टि] द्वेष करता है, [सः] वह जीव [तैः] उनके द्वारा (मोह-राग-द्वेषके द्वारा) [बन्धः] बन्धरूप है ।

विधविध विषयो पामीने उपयोग-आत्मक जीव जे ।
प्रद्वेष-राग-विमोहभावे परिणमे ते बन्ध छे ॥१७५॥

अयमात्मा सर्व एव तावत्सविकल्पनिर्विकल्पपरिच्छेदात्मकत्वादुपयोगमयः । तत्र यो हि नाम नानाकारान् परिच्छेद्यानर्थानासाद्य मोहं वा रागं वा द्वेषं वा समुपैति स नाम तैः परप्रत्ययैरपि मोहरागद्वेषैरुपरक्तात्मस्वभावत्वान्नीलपीतरक्तोपाश्रयप्रत्ययनीलपीतरक्तत्वैरुपरक्तस्वभावः स्फटिकमणिरिव स्वयमेक एव तद्भावद्वितीयत्वाद्बन्धो भवति ।। १७५ ।।

अथ भाववन्धयुक्तिं द्रव्यबन्धस्वरूपं प्रज्ञापयति –

भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसये ।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो ।। १७६ ।।

भावेन येन जीवः पश्यति जानात्यागतं विषये ।
रज्यति तेनैव पुनर्बध्यते कर्मेत्युपदेशः ।। १७६ ।।

विसये निर्विषयपरमात्मस्वरूपभावनाविपक्षभूतान्विविधपञ्चेन्द्रियविषयान् । जो हि पुणो यः पुनरित्थंभूतोऽस्ति जीवो हि स्फुटं, तेहि संबंधो तैः संबद्धो भवति, तैः पूर्वोक्तरागद्वेषमोहैः कर्तृभूतैर्मोहरागद्वेषरहितजीवस्य शुद्धपरिणामलक्षणं परमधर्ममलभमानः सन् स जीवो बद्धो भवतीति । अत्र योऽसौ रागद्वेषमोहपरिणामः स एव भाववन्ध इत्यर्थः ।। १७५ ।। अथ भाववन्धयुक्तिं द्रव्यबन्ध-

---

टीका :– प्रथम तो यह आत्मा सर्व ही उपयोगमय है, क्योंकि वह सविकल्प और निर्विकल्प प्रतिभासस्वरूप है (अर्थात् ज्ञान – दर्शनस्वरूप है ।) उसमें जो आत्मा विविधाकार प्रतिभासित होनेवाले पदार्थोंको प्राप्त करके मोह, राग अथवा द्वेष करता है, वह आत्मा – काला, पीला, और लाल [1]आश्रय जिनका निमित्त है ऐसे कालेपन, पीलेपन और लालपनके द्वारा उपरक्त स्वभाववाले स्फटिकमणिकी भाँति – पर जिनका निमित्त है ऐसे मोह, राग और द्वेषके द्वारा उपरक्त (विकारी, मलिन, कलुषित,) आत्मस्वभाववाला होनेसे, स्वयं अकेला ही बंध (बंधरूप) है, क्योंकि मोहरागद्वेषादिभाव उसका [2]द्वितीय है ।। १७५ ।।

---

[1] आश्रय=जिसमें स्फटिकमणि रखा हो वह पात्र ।

[2] द्वितीय=दूसरा ['बन्ध तो दोके बीच होता है, अकेला आत्मा बंधस्वरूप कैसे हो सकता है ?' इस प्रश्नका उत्तर यह है कि – एक तो आत्मा और दूसरा मोहरागद्वेषादिभाव होनेसे, मोहरागद्वेषादिभावके द्वारा मलिनस्वभाववाला आत्मा स्वयं ही भावबंध है ।]

जे भावथी देखे अने जाणे विषयगत अर्थने ।
तेनाथी छे उपरक्तता वळी कर्मबंधन ते वडे ।।१७६।।

अयमात्मा साकारनिराकारपरिच्छेदात्मकत्वात्परिच्छेद्यतामापद्यमानमर्थजातं येनैव मोहरूपेण रागरूपेण द्वेषरूपेण वा भावेन पश्यति जानाति च तेनैवोपरज्यत एव। योऽयमुपरागः स खलु स्निग्धरूक्षत्वस्थानीयो भावबन्धः। अथ पुनस्तेनैव पौद्गलिकं कर्म बध्यत एव, इत्येष भावबन्धप्रत्ययो द्रव्यबन्धः ।। १७६ ।।

अथ पुद्गलजीवतदुभयबन्धस्वरूपं ज्ञापयति —

स्वरूपं च प्रतिपादयति — भावेण जेण भावेन परिणामेन येन जीवो जीवः कर्ता पेच्छदि जाणादि निर्विकल्पदर्शनपरिणामेन पश्यति सविकल्पज्ञानपरिणामेन जानाति। किं कर्मतापन्नं, आगदं विसये आगतं प्राप्तं किमपीष्टानिष्टं वस्तु पञ्चेन्द्रियविषये। रज्जदि तेणेव पुणो रज्यते तेनैव पुनः आदिमध्यान्तवर्जितं रागादिदोषरहितं चिज्ज्योतिःस्वरूपं निजात्मद्रव्यमरोचमानस्तथैवाजानन्नसन् समस्तरागादिविकल्पपरिहारेणाभावयंश्च तेनैव पूर्वोक्तज्ञानदर्शनोपयोगेन रज्यते रागं करोति इति भावबन्धयुक्तिः। बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो तेन भावबन्धेन नवतरद्रव्यकर्म बध्नातीति द्रव्यबन्धस्वरूपं चेत्युपदेशः ।। १७६ ।। एवं भावबन्धकथनमुख्यतया गाथाद्वयेन द्वितीयस्थलं गतम्। अथ पूर्वनवतर-

---

अब, भावबंधकी युक्ति और द्रव्यबन्धका स्वरूप कहते हैं :—

गाथा १७६

अन्वयार्थ :— [**जीवः**] जीव [**येन भावेन**] जिस भावसे [**विषये आगतं**] विषयागत पदार्थको [**पश्यति जानाति**] देखता है और जानता है, [**तेन एव**] उसीसे [**रज्यति**] उपरक्त होता है; [**पुनः**] और उसीसे [**कर्म बध्यते**] कर्म बँधता है;— (**इति**) ऐसा (**उपदेशः**) उपदेश है।

टीका :— यह आत्मा साकार और निराकार प्रतिभासस्वरूप (ज्ञान और दर्शनस्वरूप) होनेसे प्रतिभास्य (प्रतिभासित होने योग्य) पदार्थसमूहको जिस मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप भावसे देखता है और जानता है, उसीसे उपरक्त होता है। जो यह उपराग (विकार) है वह वास्तवमें[1] स्निग्धरूक्षत्वस्थानीय भावबंध है। और उसीसे अवश्य पौद्गलिक कर्म बँधता है। इसप्रकार यह द्रव्यबंधका निमित्त भावबंध है ।। १७६ ।।

अब पुद्गलबंध, जीवबंध और उन दोनोंके बंधका स्वरूप कहते हैं :—

---

[1] स्निग्धरूक्षत्वस्थानीय=स्निग्धता और रूक्षताके समान। (जैसे पुद्गलमें विशिष्ट स्निग्धतारूक्षता वह बंध है, उसीप्रकार जीवमें रागद्वेषरूप विकार भावबन्ध है)

फासेहिं पोग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं ।
अण्णोण्णमवगाहो पोग्गलजीवप्पगो भणिदो ।। १७७ ।।

स्पर्शैः पुद्गलानां बन्धो जीवस्य रागादिभिः ।
अन्योन्यमवगाहः पुद्गलजीवात्मको भणितः ।। १७७ ।।

यस्तावदत्र कर्मणां स्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषैरेकत्वपरिणामः स केवलपुद्गलबन्धः । यस्तु जीवस्यौपाधिकमोहरागद्वेषपर्यायैरेकत्वपरिणामः स केवलजीवबन्धः । यः पुनः जीवकर्मपुद्गलयोः परस्परपरिणामनिमित्तमात्रत्वेन विशिष्टतरः परस्परमवगाहः स तदुभयबन्धः ।। १७७ ।।

पुद्गलद्रव्यकर्मणोः परस्परबन्धो, जीवस्य तु रागादिभावेन सह बन्धो, जीवस्यैव नवतरद्रव्यकर्मणा सह चेति त्रिविधबन्धस्वरूपं प्रज्ञापयति – **फासेहि पुग्गलाणं बंधो** स्पर्शैः पुद्गलानां बन्धः । पूर्वनवतर-पुद्गलद्रव्यकर्मणोर्जीवगतरागादिभावनिमित्तेन स्वकीयस्निग्धरूक्षोपादानकारणेन च परस्परस्पर्श-संयोगेन योऽसौ बन्धः स पुद्गलबन्धः । **जीवस्स रागमादीहिं** जीवस्य रागादिभिः । निरुपराग-परमचैतन्यरूपनिजात्मतत्त्वभावनाच्युतस्य जीवस्य यद्रागादिभिः सह परिणमनं स जीवबन्ध इति । **अण्णोण्णस्सवगाहो पुग्गलजीवप्पगो भणिदो** अन्योन्यस्यावगाहः पुद्गलजीवात्मको भणितः । निर्विकार-स्वसंवेदनज्ञानरहितत्वेन स्निग्धरूक्षस्थानीयरागद्वेषपरिणतजीवस्य बन्धयोग्यस्निग्धरूक्षपरिणाम-परिणतपुद्गलस्य च योऽसौ परस्परावगाहलक्षणः स इत्थंभूतबन्धो जीवपुद्गलबन्ध इति त्रिविधबन्ध-

---

गाथा १७७

अन्वयार्थ :– **[स्पर्शैः]** स्पर्शोंके साथ **[पुद्गलानां बंधः]** पुद्गलोंका बंध, **[रागादिभिः जीवस्य]** रागादिके साथ जीवका बंध और **[अन्योन्यम् अवगाहः]** अन्योन्य अवगाह वह **[पुद्गलजीवात्मकः भणितः]** पुद्गलजीवात्मक बंध कहा गया है ।

टीका :– प्रथम तो यहाँ, कर्मोंका जो स्निग्धता – रूक्षतारूप स्पर्शविशेषोंके साथ एकत्वपरिणाम है सो केवल पुद्गलबंध है; और जीवका औपाधिक मोह-राग-द्वेषरूप पर्यायोंके साथ जो एकत्व परिणाम है सो केवल जीवबंध है; और जीव तथा कर्मपुद्गल-के परस्पर परिणामके निमित्तमात्रसे जो विशिष्टतर परस्पर अवगाह है सो उभयबंध है । [अर्थात् जीव और कर्मपुद्गल एक दूसरेके परिणाममें निमित्तमात्र होवें, ऐसा (विशिष्टप्रकारका-खासप्रकारका) जो उनका एकक्षेत्रावगाहसंबंध है सो वह पुद्गल-जीवात्मक बंध है ।] ।। १७७ ।।

रागादि सह आत्मा तणो, ने स्पर्श सह पुद्गलतणो ।
अन्योन्य जे अवगाह, तेने बंध उभयात्मक कह्यो ।।१७७।।

अथ द्रव्यबन्धस्य भावबन्धहेतुकत्वमुज्जीवयति –

सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पोग्गला काया ।
पविसंति जहाजोग्गं चिट्ठंति हि जंति बज्झंति ॥ १७८ ॥

सप्रदेशः स आत्मा तेषु प्रदेशेषु पुद्गलाः कायाः ।
प्रविशन्ति यथायोग्यं तिष्ठन्ति च यान्ति बध्यन्ते ॥ १७८ ॥

अयमात्मा लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशत्वात्सप्रदेशः । अथ तेषु तस्य प्रदेशेषु कायवाङ्मनोवर्गणालम्बनः परिस्पन्दो यथा भवति तथा कर्मपुद्गलकायाः स्वयमेव

लक्षणं ज्ञातव्यम् ॥१७७॥ अथ 'वंधो जीवस्स रागमादीहिं' पूर्वसूत्रे यदुक्तं तदेव रागत्वं द्रव्यबन्धस्य कारणमिति विशेषेण समर्थयति – **सपदेसो सो अप्पा** स प्रसिद्धात्मा लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशत्वात्तावत्सप्रदेशः । **तेसु पदेसेसु पुग्गला काया** तेषु प्रदेशेषु कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलकायाः कर्तारः **पविसंति** प्रविशन्ति । कथम् । **जहाजोग्गं** मनोवचनकायवर्गणालम्बनवीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणयोगानुसारेण यथायोग्यम् । न केवलं प्रविशन्ति **चिट्ठंति हि** प्रवेशानन्तरं स्वकीयस्थितिकालपर्यन्तं तिष्ठन्ति हि स्फुटम् । न केवलं तिष्ठन्ति **जंति** स्वकीयोदयकालं प्राप्य फलं दत्वा गच्छन्ति, **बज्झंति** केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपमोक्षप्रतिपक्षभूतबन्धस्य कारणं रागादिकं लब्ध्वा पुनरपि

अब, ऐसा बतलाते हैं कि द्रव्यबंधका हेतु भावबंध है :–

गाथा १७८

अन्वयार्थ :– [सः आत्मा] वह आत्मा [सप्रदेशः] सप्रदेश है; [तेषु प्रदेशेषु] उन प्रदेशोंमें [पुद्गलाः कायाः] पुद्गलसमूह [प्रविशन्ति] प्रवेश करते हैं, [यथायोग्यं तिष्ठन्ति] यथायोग्य रहते हैं, [यान्ति] जाते हैं, [च] और [बध्यन्ते] बंधते हैं ।

टीका :– यह आत्मा लोकाकाशतुल्य असंख्यप्रदेशी होनेसे सप्रदेश है । उसके इन प्रदेशोंमें कायवर्गणा, वचनवर्गणा और मनोवर्गणाका आलम्बनवाला परिस्पन्द (कम्पन) जिस प्रकारसे होता है, उस प्रकारसे कर्मपुद्गलके समूह स्वयमेव परिस्पन्दवाले होते हुए प्रवेश भी करते हैं, रहते भी हैं, और जाते भी हैं; और यदि जीवके मोह-राग-

---

सप्रदेश छे ते जीव, जीवप्रदेशमां आवे अने ।
पुद्गलसमूह रहे यथोचित, जाय छे, बंधाय छे ॥१७८॥

यतो रागपरिणत एवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा बध्यते, न वैराग्यपरिणतः; अभिनवेन द्रव्यकर्मणा रागपरिणतो न मुच्यते वैराग्यपरिणत एव, बध्यत एव संस्पृशतैवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा चिरसंचितेन पुराणेन च, न मुच्यते रागपरिणतः; मुच्यत एव संस्पृशतैवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा चिरसंचितेन पुराणेन च वैराग्यपरिणतो, न बध्यते; ततोऽवधार्यते द्रव्यबन्धस्य साधकतमत्वाद्रागपरिणाम एव निश्चयेन बन्धः ।। १७९ ।।

अथ परिणामस्य द्रव्यबन्धसाधकतमरागविशिष्टत्वं सविशेषं प्रकटयति –

परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो ।
असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो ।। १८० ।।

परिणामाद्बन्धः परिणामो रागद्वेषमोहयुतः ।
अशुभौ मोहप्रद्वेषौ शुभो वाशुभो भवति रागः ।। १८० ।।

मुच्यते कर्मभ्यां रागरहितात्मा । मुच्यत एव शुभाशुभकर्मभ्यां रागरहितात्मा, न च बध्यते । एसो बंधसमासो एष प्रत्यक्षीभूतो बन्धसंक्षेपः । जीवाणं जीवानां सम्बन्धी । जाण णिच्छयदो जानीहि त्वं हे शिष्य, निश्चयतो निश्चयनयाभिप्रायेणेति । एवं रागपरिणाम एव बन्धकारणं ज्ञात्वा समस्तरागादिविकल्पजालत्यागेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्वे निरन्तरं भावना कर्तव्येति ।।१७९।। अथ जीवपरिणामस्य द्रव्यबन्धसाधकं रागाद्युपाधिजनितभेदं दर्शयति – परिणामादो बंधो परिणामात्स-

---

और चिरसंचित (दीर्घकालसे संचित ऐसे) पुराने द्रव्यकर्मसे बँधता ही है, मुक्त नहीं होता; वैराग्यपरिणत जीव संस्पर्श करने (सम्बन्धमें आने) वाले नवीन द्रव्यकर्मसे और चिरसंचित ऐसे पुराने द्रव्यकर्मसे मुक्त ही होता है, बँधता नहीं है; इससे निश्चित होता है कि – द्रव्यबन्धका साधकतम (उत्कृष्ट हेतु) होनेसे रागपरिणाम ही निश्चयसे बन्ध है ।। १७९ ।।

अब, परिणामका द्रव्यबन्धके साधकतम रागसे विशिष्टपना सविशेष प्रगट करते हैं (अर्थात् परिणाम द्रव्यबन्धके उत्कृष्ट हेतुभूत रागसे विशेषतावाला होता है ऐसा भेद सहित प्रगट करते हैं) :–

गाथा १८०

अन्वयार्थ :– [परिणामात् बंधः] परिणामसे बन्ध है, [परिणामः रागद्वेष-

---

परिणामथी छे बंध, राग-विमोह-द्वेषथी युक्त जे ।
छे मोह-द्वेष अशुभ, राग अशुभ वा शुभ होय छे ।।१८०।।

द्वौ विशिष्टपरिणामस्य विशेषौ, शुभपरिणामोऽशुभपरिणामश्च । तत्र पुण्यपुद्गलबन्धकारणत्वात् शुभपरिणामः पुण्यं, पापपुद्गलबन्धकारणत्वादशुभरिणामः पापम् । अविशिष्टपरिणामस्य तु शुद्धत्वेनैकत्वान्नास्ति विशेषः । स काले संसारदुःखहेतुकर्मपुद्गलक्षयकारणत्वात्संसारदुःखहेतुकर्मपुद्गलक्षयात्मको मोक्ष एव ।। १८१ ।।

अथ जीवस्य स्वपरद्रव्यप्रवृत्तिनिवृत्तिसिद्धये स्वपरविभागं दर्शयति –

भणिदा पुढविप्पमुहा जीवणिकायाध थावरा य तसा ।
अण्णा ते जीवादो जीवो वि य तेहिंदो अण्णो ।। १८२ ।।

भणिताः पृथिवीप्रमुखा जीवनिकाया अथ स्थावराश्च त्रसाः ।
अन्ये ते जीवाज्जीवोऽपि च तेभ्योऽन्यः ।। १८२ ।।

निश्चयमध्ये शुद्धोपयोगः कथं लभ्यत इति शिष्येण पूर्वपक्षे कृते सति प्रत्युत्तरं ददाति – वस्त्वेकदेशपरीक्षा तावन्नयलक्षणं, शुभाशुभशुद्धद्रव्यावलम्बनमुपयोगलक्षणं चेति; तेन कारणेनाशुद्धनिश्चयमध्येऽपि शुद्धात्मावलम्बनत्वात् शुद्धध्येयत्वात् शुद्धसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगपरिणामो लभ्यत इति नयलक्षणमुपयोगलक्षणं च यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्यम् । अत्र योऽसौ रागादिविकल्पोपाधिरहितसमाधिलक्षणशुद्धोपयोगो मुक्तिकारणं भणितः स तु शुद्धात्मद्रव्यलक्षणाद्ध्येयभूताच्छुद्धपारिणामिकभावादभेदप्रधानद्रव्यार्थिकनयेनाभिन्नोऽपि भेदप्रधानपर्यायार्थिकनयेन भिन्नः । कस्मादिति चेत् । अयमेकदेशनिरावरणत्वेन क्षायोपशमिकखण्डज्ञानव्यक्तिरूपः, स च पारिणामिकः सकलावरणरहितत्वेनाखण्डज्ञानव्यक्तिरूपः; अयं तु सादिसान्तत्वेन विनश्वरः, स च अनाद्यनन्तत्वेनाविनश्वरः । यदि पुनरेकान्तेनाभेदो भवति तर्हि घटोत्पत्तौ मृत्पिण्डविनाशवत् ध्यानपर्यायविनाशे मोक्षे जाते सति ध्येयरूपपारिणामिकस्यापि विनाशो भवतीत्यर्थः । तत एव ज्ञायते शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति, ध्यानभावनारूपो न भवति । कस्मात् । ध्यानस्य विनश्वरत्वादिति ।।१८१।। एवं द्रव्यबन्धकारणत्वात् मिथ्यात्वरागादिविकल्परूपो भावबन्ध एव निश्चयेन बन्ध इति कथनमुख्यतया गाथात्रयेण चतुर्थस्थलं गतम् । अथ जीवस्य

भावार्थ :– परके प्रति प्रवर्तमान ऐसा शुभ परिणाम वह पुण्यका कारण है और अशुभ परिणाम वह पापका कारण है; इसलिये यदि कारणमें कार्यका उपचार किया जाय तो, शुभपरिणाम वह पुण्य है और अशुभ परिणाम वह पाप । स्वात्मद्रव्यमें प्रवर्तमान ऐसा शुद्ध परिणाम मोक्षका कारण है; इसलिये यदि कारणमें कार्यका उपचार किया जाय तो, शुद्ध परिणाम वह मोक्ष है ।। १८१ ।।

अब, जीवकी स्वद्रव्यमें प्रवृत्ति और परद्रव्यसे निवृत्तिकी सिद्धिके लिये स्व-परका विभाग बतलाते हैं :–

स्थावर अने त्रस पृथ्वीआदिक जीवकाय कहेल जे ।
ते जीवथी छे अन्य तेम ज जीव तेथी अन्य छे ।।१८२।।

य एते पृथिवीप्रभृतयः षड्जीवनिकायास्त्रसस्थावरभेदेनाभ्युपगम्यन्ते ते खल्वचेतनत्वादन्ये जीवात्, जीवोऽपि च चेतनत्वादन्यस्तेभ्यः। अत्र षड्जीवनिकायात्मनः परद्रव्यमेक एवात्मा स्वद्रव्यम् ॥ १८२ ॥

अथ जीवस्य स्वपरद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन स्वपरविभागज्ञानाज्ञाने अवधारयति –

जो णवि जाणदि एवं परमप्पाणं सहावमासेज्ज।
कीरदि अज्झवसाणं अहं ममेदं ति मोहादो ॥ १८३ ॥

यो नैव जानात्येवं परमात्मानं स्वभावमासाद्य।
कुरुतेऽध्यवसानमहं ममेदमिति मोहात् ॥ १८३ ॥

स्वद्रव्यप्रवृत्तिपरद्रव्यनिवृत्तिनिमित्तं षड्जीवनिकायैः सह भेदविज्ञानं दर्शयति – **भणिदा पुढविप्पमुहा** भणिताः परमागमे कथिताः पृथिवीप्रमुखाः। ते के। **जीवणिकाया** जीवसमूहाः। अध अथ। कथंभूताः। **थावरा य तसा** स्थावराश्च त्रसाः। ते च किंविशिष्टाः। **अण्णा ते** अन्ये भिन्नास्ते। कस्मात्। **जीवादो** शुद्धबुद्धैकजीवस्वभावात्। **जीवो वि य तेहिंदो अण्णो** जीवोऽपि च तेभ्योऽन्य इति। तथाहि – टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावपरमात्मतत्त्वभावनारहितेन जीवेन यदुपार्जितं त्रसस्थावरनामकर्म तदुदयजनितत्वादचेतनत्वाच्च त्रसस्थावरजीवनिकायाः शुद्धचैतन्यस्वभावजीवाद्भिन्नाः। जीवोऽपि च तेभ्यो विलक्षणत्वाद्भिन्न इति। अत्रैवं भेदविज्ञाने जाते सति मोक्षार्थी जीवः स्वद्रव्ये प्रवृत्तिं परद्रव्ये निवृत्तिं

गाथा १८२

अन्वयार्थ :– [अथ] अब [स्थावराः च त्रसाः] स्थावर और त्रस ऐसे जो [पृथिवीप्रमुखाः] पृथ्वी आदि, [जीव निकायाः] जीवनिकाय [भणिताः] कहे गये हैं, [ते] वे [जीवात् अन्ये] जीवसे अन्य हैं, [च] और [जीवः अपि] जीव भी [तेभ्यः अन्यः] उनसे अन्य है।

टीका :– जो यह पृथ्वी इत्यादि षट् जीवनिकाय त्रसस्थावरके भेदपूर्वक माने जाते हैं, वे वास्तवमें अचेतनत्वके कारण जीवसे अन्य हैं, और जीव भी चेतनत्वके कारण उनसे अन्य है। यहाँ (यह कहा है कि) षट् जीवनिकाय आत्माको परद्रव्य है, आत्मा एक ही स्वद्रव्य है ॥ १८२ ॥

परने स्वने नहि जाणतो ए रीत पामी स्वभावने।
ते 'आ हुं, आ मुज' एम अध्यवसान मोह थकी करे ॥१८३॥

योहि नाम नैवं प्रतिनियतचेतनाचेतनत्वस्वभावेन जीवपुद्गलयोः स्वपरविभागं पश्यति स एवाहमिदं ममेदमित्यात्मात्मीयत्वेन परद्रव्यमध्यवस्यति मोहान्नान्यः । अतो जीवस्य परद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तं स्वपरपरिच्छेदाभावमात्रमेव सामर्थ्यात्स्वद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तं तदभावः ।। १८३ ।।

अथात्मनः किं कर्मेति निरूपयति –

च करोतीति भावार्थः ।।१८२।। अथैतदेव भेदविज्ञानं प्रकारान्तरेण द्रढयति – **जो णवि जाणदि एवं** यः कर्ता नैव जानात्येवं पूर्वोक्तप्रकारेण । कम् । **परं** षड्जीवनिकायादिपरद्रव्यं, **अप्पाणं** निर्दोषिपरमात्मद्रव्यरूपं निजात्मानम् । किं कृत्वा । **सहावमासेज्ज** शुद्धोपयोगलक्षणनिजशुद्धस्वभावमाश्रित्य । **कीरदि अज्झवसाणं** स पुरुषः करोत्यध्यवसानं परिणामम् । केन रूपेण । **अहं ममेदं ति** अहं ममेदमिति । ममकाराहंकारादिरहितपरमात्मभावनाच्युतो भूत्वा परद्रव्यं रागादिकमहमिति देहादिकं ममेतिरूपेण । कस्मात् । **मोहादो** मोहाधीनत्वादिति । ततः स्थितमेतत्स्वपरभेदविज्ञानबलेन स्वसंवेदनज्ञानी जीवः स्वद्रव्ये रतिं परद्रव्ये निवृत्तिं करोतीति ।।१८३।। एवं भेदभावनाकथनमुख्यतया सूत्रद्वयेन पञ्चमस्थलं गतम् । अथात्मनो निश्चयेन रागादिस्वपरिणाम एव कर्म, न च द्रव्यकर्मेति प्ररूपयति –

अब, यह निश्चित करते हैं कि – जीवको स्वद्रव्यमें प्रवृत्तिका निमित्त स्व-परके विभागका ज्ञान है, और परद्रव्यमें प्रवृत्तिका निमित्त स्व-परके विभागका अज्ञान है :–

गाथा १८३

अन्वयार्थ :– [**यः**] जो [**एवं**] इसप्रकार [**स्वभावम् आसाद्य**] स्वभावको प्राप्त करके (जीव-पुद्गलके स्वभावको निश्चित करके) [**परम् आत्मानं**] परको और स्व को [**न एव जानाति**] नहीं जानता, [**मोहात्**] वह मोहसे '[**अहम्**] यह मैं हूँ, [**इदं मम**] यह मेरा है' [**इति**] इसप्रकार [**अध्यवसानं**] अध्यवसान [**कुरुते**] करता है ।

टीका :– जो आत्मा इसप्रकार जीव और पुद्गलके (अपने-अपने) निश्चित चेतनत्व और अचेतनत्वरूप स्वभावके द्वारा स्व-परके विभागको नहीं देखता, वही आत्मा 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' इसप्रकार मोहसे परद्रव्यमें अपनेपनका अध्यवसान करता है, दूसरा नहीं । इससे (यह निश्चित हुआ कि) जीवको परद्रव्यमें प्रवृत्तिका निमित्त स्व-परके ज्ञानका अभावमात्र ही है और (कहे विना भी) सामर्थ्यसे (यह निश्चित हुआ कि) स्वद्रव्यमें प्रवृत्तिका निमित्त [1]उसका अभाव है ।

भावार्थ :– जिसे स्व-परका भेदविज्ञान नहीं है वही परद्रव्यमें अहंकार – ममकार करता है, भेदविज्ञानी नहीं । इसलिये परद्रव्यमें प्रवृत्तिका कारण भेदविज्ञानका अभाव ही है, और स्वद्रव्यमें प्रवृत्तिका कारण भेदविज्ञान ही है ।। १८३ ।।

---

[1] उसका अभाव=स्वपरके ज्ञानके अभावका अभाव; स्व-परके ज्ञानका सद्भाव ।

कुव्वं सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स ।
पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ।। १८४ ।।

कुर्वन् स्वभावमात्मा भवति हि कर्ता स्वकस्य भावस्य ।
पुद्गलद्रव्यमयानां न तु कर्ता सर्वभावानाम् ।। १८४ ।।

आत्मा हि तावत्स्वं भावं करोति, तस्य स्वधर्मत्वादात्मनस्तथाभवनशक्तिसंभवेनावश्यमेव कार्यत्वात् । स तं च स्वतन्त्रः कुर्वाणस्तस्य कर्तावश्यं स्यात्, क्रियमाणश्चात्मना स्वो भावस्तेनाप्यत्वात्तस्य कर्मावश्यं स्यात् । एवमात्मनः स्वपरिणामः कर्म । न त्वात्मा पुद्गलस्य भावान् करोति, तेषां परधर्मत्वादात्मनस्तथाभवनशक्त्यसंभवेनाकार्यत्वात् ।

कुव्वं सभावं कुर्वन्स्वभावम् । अत्र स्वभावशब्देन यद्यपि शुद्धनिश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावो भण्यते, तथापि कर्मबन्धप्रस्तावे रागादिपरिणामोऽप्यशुद्धनिश्चयेन स्वभावो भण्यते । तं स्वभावं कुर्वन् । स कः । आदा आत्मा । हवदि हि कत्ता कर्ता भवति हि स्फुटम् । कस्य । सगस्स भावस्स स्वकीयचिद्रूपस्वभावस्य रागादिपरिणामस्य । तदेव तस्य रागादिपरिणामरूपं निश्चयेन भावकर्म भण्यते । कस्मात् ।

अब यह निरूपण करते हैं कि आत्माका कर्म क्या है :-

गाथा १८४

अन्वयार्थ :- [**स्वभावं कुर्वन्**] अपने भावको करता हुआ [**आत्मा**] आत्मा [**हि**] वास्तवमें [**स्वकस्य भावस्य**] अपने भावका [**कर्ता भवति**] कर्ता है; [**तु**] परन्तु [**पुद्गलद्रव्यमयानां सर्वभावानां**] पुद्गलद्रव्यमय सर्व भावोंका [**कर्ता न**] कर्ता नहीं है ।

टीका :- प्रथम तो आत्मा वास्तवमें स्व भावको करता है, क्योंकि वह (भाव) उसका स्व धर्म है, इसलिये आत्माको उसरूप होनेकी (परिणमित होनेकी) शक्तिका संभव है, अतः वह (भाव) अवश्यमेव आत्मा का कार्य है । (इसप्रकार) वह (आत्मा) उसे (स्व भावको) स्वतंत्रतया करता हुआ उसका कर्ता अवश्य है और स्व भाव आत्माके द्वारा किया जाता हुआ आत्माके द्वारा प्राप्य होनेसे अवश्य ही आत्माका कर्म है । इसप्रकार स्व परिणाम आत्माका कर्म है ।

निज भाव करतो जीव छे कर्ता खरे निज भावनो ।
पण ते नथी कर्ता सकल पुद्गलदरवमय भावनो ।।१८४।।

यो हि नाम नैवं प्रतिनियतचेतनाचेतनत्वस्वभावेन जीवपुद्गलयोः स्वपरविभाग पश्यति स एवाहमिदं ममेदमित्यात्मात्मीयत्वेन परद्रव्यमध्यवस्यति मोहान्नान्यः । अतो जीवस्य परद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तं स्वपरपरिच्छेदाभावमात्रमेव सामर्थ्यात्स्वद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्त तदभावः ।। १८३ ।।

अथात्मनः किं कर्मेति निरूपयति –

च करोतीति भावार्थः ।।१८२।। अथैतदेव भेदविज्ञानं प्रकारान्तरेण द्रढयति – **जो णवि जाणदि एवं** यः कर्ता नैव जानात्येवं पूर्वोक्तप्रकारेण । कम् । **परं** षड्जीवनिकायादिपरद्रव्यं, **अप्पाणं** निर्दोषिपरमात्मद्रव्यरूपं निजात्मानम् । किं कृत्वा । **सहावमासेज्ज** शुद्धोपयोगलक्षणनिजशुद्धस्वभावमाश्रित्य । **कीरदि अज्झवसाणं** स पुरुषः करोत्यध्यवसानं परिणामम् । केन रूपेण । **अहं ममेदं ति** अहं ममेदमिति । ममकाराहंकारादिरहितपरमात्मभावनाच्युतो भूत्वा परद्रव्यं रागादिकमहमिति देहादिकं ममेतिरूपेण । कस्मात् । **मोहादो** मोहाधीनत्वादिति । ततः स्थितमेतत्स्वपरभेदविज्ञानबलेन स्वसंवेदनज्ञानी जीवः स्वद्रव्ये रतिं परद्रव्ये निवृत्तिं करोतीति ।।१८३।। एवं भेदभावनाकथनमुख्यतया सूत्रद्वयेन पञ्चमस्थलं गतम् । अथात्मनो निश्चयेन रागादिस्वपरिणाम एव कर्म, न च द्रव्यकर्मेति प्ररूपयति –

अब, यह निश्चित करते हैं कि – जीवको स्वद्रव्यमें प्रवृत्तिका निमित्त स्व-परके विभागका ज्ञान है, और परद्रव्यमें प्रवृत्तिका निमित्त स्व-परके विभागका अज्ञान है :–

गाथा १८३

अन्वयार्थ :– [यः] जो [एवं] इसप्रकार [स्वभावम् आसाद्य] स्वभावको प्राप्त करके (जीव-पुद्गलके स्वभावको निश्चित करके) [परम् आत्मानं] परको और स्व को [न एव जानाति] नहीं जानता, [मोहात्] वह मोहसे '[अहम्] यह मैं हूँ, [इदं मम] यह मेरा है' [इति] इसप्रकार [अध्यवसानं] अध्यवसान [कुरुते] करता है ।

टीका :– जो आत्मा इसप्रकार जीव और पुद्गलके (अपने-अपने) निश्चित चेतनत्व और अचेतनत्वरूप स्वभावके द्वारा स्व-परके विभागको नहीं देखता, वही आत्मा 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' इसप्रकार मोहसे परद्रव्यमें अपनेपनका अध्यवसान करता है, दूसरा नहीं । इससे (यह निश्चित हुआ कि) जीवको परद्रव्यमें प्रवृत्तिका निमित्त स्व-परके ज्ञानका अभावमात्र ही है और (कहे विना भी) सामर्थ्यसे (यह निश्चित हुआ कि) स्वद्रव्यमें प्रवृत्तिका निमित्त [1]उसका अभाव है ।

भावार्थ :– जिसे स्व-परका भेदविज्ञान नहीं है वही परद्रव्यमें अहंकार – ममकार करता है, भेदविज्ञानी नहीं । इसलिये परद्रव्यमें प्रवृत्तिका कारण भेदविज्ञानका अभाव ही है, और स्वद्रव्यमें प्रवृत्तिका कारण भेदविज्ञान ही है ।। १८३ ।।

[1] उसका अभाव = स्वपरके ज्ञानके अभावका अभाव; स्व-परके ज्ञानका सद्भाव ।

कुव्वं सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स ।
पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥ १८४ ॥

कुर्वन् स्वभावमात्मा भवति हि कर्ता स्वकस्य भावस्य ।
पुद्गलद्रव्यमयानां न तु कर्ता सर्वभावानाम् ॥ १८४ ॥

आत्मा हि तावत्स्वं भावं करोति, तस्य स्वधर्मत्वादात्मनस्तथाभवनशक्तिसंभवेनावश्यमेव कार्यत्वात् । स तं च स्वतन्त्रः कुर्वाणस्तस्य कर्तावश्यं स्यात्, क्रियमाणश्चात्मना स्वो भावस्तेनाप्यत्वात्तस्य कर्मावश्यं स्यात् । एवमात्मनः स्वपरिणामः कर्म । न त्वात्मा पुद्गलस्य भावान् करोति, तेषां परधर्मत्वादात्मनस्तथाभवनशक्त्यसंभवेनाकार्यत्वात् ।

कुव्वं सभावं कुर्वन्स्वभावम् । अत्र स्वभावशब्देन यद्यपि शुद्धनिश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावो भण्यते, तथापि कर्मबन्धप्रस्तावे रागादिपरिणामोऽप्यशुद्धनिश्चयेन स्वभावो भण्यते । तं स्वभावं कुर्वन् । स कः । आदा आत्मा । हवदि हि कत्ता कर्ता भवति हि स्फुटम् । कस्य । सगस्स भावस्स स्वकीयचिद्रूपस्वभावस्य रागादिपरिणामस्य । तदेव तस्य रागादिपरिणामरूपं निश्चयेन भावकर्म भण्यते । कस्मात् ।

अब यह निरूपण करते हैं कि आत्माका कर्म क्या है :—

गाथा १८४

अन्वयार्थ :— [स्वभावं कुर्वन्] अपने भावको करता हुआ [आत्मा] आत्मा [हि] वास्तवमें [स्वकस्य भावस्य] अपने भावका [कर्ता भवति] कर्ता है; [तु] परन्तु [पुद्गलद्रव्यमयानां सर्वभावानां] पुद्गलद्रव्यमय सर्व भावोंका [कर्ता न] कर्ता नहीं है ।

टीका :— प्रथम तो आत्मा वास्तवमें स्व भावको करता है, क्योंकि वह (भाव) उसका स्व धर्म है, इसलिये आत्माको उसरूप होनेकी (परिणमित होनेकी) शक्तिका संभव है, अतः वह (भाव) अवश्यमेव आत्मा का कार्य है । (इसप्रकार) वह (आत्मा) उसे (स्व भावको) स्वतंत्रतया करता हुआ उसका कर्ता अवश्य है और स्व भाव आत्माके द्वारा किया जाता हुआ आत्माके द्वारा प्राप्य होनेसे अवश्य ही आत्माका कर्म है । इसप्रकार स्व परिणाम आत्माका कर्म है ।

निज भाव करतो जीव छे कर्ता खरे निज भावनो ।
पण ते नथी कर्ता सकल पुद्गलदरवमय भावनो ॥१८४॥

स तानकुर्वाणो न तेषां कर्ता स्यात्, अक्रियमाणाश्चात्मना ते न तस्य कर्म स्युः। एवमात्मनः पुद्‌गलपरिणामो न कर्म ।। १८४ ।।

अथ कथमात्मनः पुद्‌गलपरिणामो न कर्म स्यादिति संदेहमपनुदति –

गेण्हदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि ।
जीवो पोग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु ।। १८५ ।।

गृह्णाति नैव न मुञ्चति करोति न हि पुद्‌गलानि कर्माणि ।
जीवः पुद्‌गलमध्ये वर्तमानोऽपि सर्वकालेषु ।। १८५ ।।

तप्तायःपिण्डवत्तेनात्मना प्राप्यत्वाद्व्याप्यत्वादिति । पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं चिद्रूपात्मनो विलक्षणानां पुद्‌गलद्रव्यमयानां न तु कर्ता सर्वभावानां ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपर्यायाणामिति । ततो ज्ञायते जीवस्य रागादिस्वपरिणाम एव कर्म, तस्यैव स कर्तेति ।।१८४।। अथात्मनः कथं द्रव्यकर्मरूपपरिणामः कर्म न स्यादिति प्रश्ने समाधानं ददाति – **गेण्हदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि जीवो** यथा निर्विकल्पसमाधिरतः परममुनिः परभावं न गृह्णाति न मुञ्चति न च करोत्युपादानरूपेण लोहपिण्डो वाग्नि तथायमात्मा न च गृह्णाति न च मुञ्चति न च करोत्युपादानरूपेण पुद्‌गलकर्माणीति । किं कुर्वन्नपि । **पुग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु** क्षीरनीरन्यायेन पुद्‌गलमध्ये

परन्तु, आत्मा पुद्‌गलके भावोंको नहीं करता, क्योंकि वे परके धर्म हैं, इसलिये आत्माके उस-रूप होनेकी शक्तिका असंभव होनेसे वे आत्माका कार्य नहीं हैं। (इसप्रकार) वह (आत्मा) उन्हें न करता हुआ उनका कर्ता नहीं होता और वे आत्माके द्वारा न किये जाते हुए उसका कर्म नहीं हैं। इसप्रकार पुद्‌गलपरिणाम आत्माका कर्म नहीं है ।। १८४ ।।

अव, 'पुद्‌गलपरिणाम आत्माका कर्म क्यों नहीं है' – ऐसे सन्देह को दूर करते हैं :-

गाथा १८५

अन्वयार्थ :– [जीवः] जीव [सर्वकालेषु] सभी कालोंमें [पुद्‌गलमध्ये वर्तमानः अपि] पुद्‌गलके मध्यमें रहता हुआ भी [पुद्‌गलानि कर्माणि] पौद्‌गलिक कर्मोंको [हि] वास्तवमें [गृह्णाति न एव] न तो ग्रहण करता है, [न मुंचति] न छोड़ता है, और [न करोति] न करता है ।

जीव सर्वकाले पुद्‌गलोनी मध्यमां वर्ते भले ।
पण नव ग्रहे, न तजे, करे नहि जीव पुद्‌गलकर्मने ।।१८५।।

न खल्वात्मनः पुद्गलपरिणामः कर्म, परद्रव्योपादानहानशून्यत्वात् । यो हि यस्य परिणमयिता दृष्टः स न तदुपादानहानशून्यो दृष्टः, यथाग्निरयःपिण्डस्य । आत्मा तु तुल्यक्षेत्रवर्तित्वेऽपि परद्रव्योपादानहानशून्य एव । ततो न स पुद्गलानां कर्मभावेन परिणमयिता स्यात् ।। १८५ ।।

अथात्मनः कुतस्तर्हि पुद्गलकर्मभिरुपादानं हानं चेति निरूपयति –

स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स ।
आदीयदे कदाइं विमुच्चदे कम्मधूलीहिं ।। १८६ ।।

स इदानीं कर्ता सन् स्वकपरिणामस्य द्रव्यजातस्य ।
आदीयते कदाचिद्विमुच्यते कर्मधूलिभिः ।। १८६ ।।

वर्त्तमानोऽपि सर्वकालेषु । अनेन किमुक्तं भवति । यथा सिद्धो भगवान् पुद्गलमध्ये वर्त्तमानोऽपि परद्रव्यग्रहणमोचनकरणरहितस्तथा शुद्धनिश्चयेन शक्तिरूपेण संसारी जीवोऽपीति भावार्थः ।।१८५।। अथ यद्ययमात्मा पुद्गलकर्म न करोति न च मुञ्चति तर्हि बन्धः कथं, तर्हि मोक्षोऽपि कथमिति प्रश्ने

टीका :– वास्तवमें पुद्गलपरिणाम आत्माका कर्म नहीं है, क्योंकि वह परद्रव्यके ग्रहण-त्यागसे रहित है; जो जिसका परिणमानेवाला देखा जाता है वह उसके ग्रहण-त्यागसे रहित नहीं देखा जाता; जैसे – अग्नि लोहेके गोलेमें ग्रहण-त्याग रहित होती है । आत्मा तो तुल्य क्षेत्रमें वर्तता हुआ भी (परद्रव्यके साथ एकक्षेत्रावगाही होनेपर भी) परद्रव्यके ग्रहण-त्यागसे रहित ही है । इसलिये वह पुद्गलोंको कर्मभावसे परिणमानेवाला नहीं है ।। १८५ ।।

तब (यदि आत्मा पुद्गलोंको कर्मरूप परिणमित नहीं करता तो फिर) आत्मा किसप्रकार पुद्गल कर्मोंके द्वारा ग्रहण किया जाता है और छोड़ा जाता है ? इसका अब निरूपण करते हैं :–

गाथा १८६

अन्वयार्थ :– [सः] वह [इदानीं] अभी (संसारावस्थामें) [द्रव्यजातस्य] द्रव्यसे (आत्मद्रव्यसे) उत्पन्न होनेवाले [स्वकपरिणामस्य] (अशुद्ध) स्वपरिणामका [कर्ता सन्] कर्ता होता हुआ [कर्मधूलिभिः] कर्मरजसे [आदीयते] ग्रहण किया जाता है और [कदाचित् विमुच्यते] कदाचित् छोड़ा जाता है ।

ते हाल द्रव्यजनित निज परिणामनो कर्ता बने ।
तेथी ग्रहाय अने कदापि मुकाय छे कर्मो वडे ।।१८६।।

सोऽयमात्मा परद्रव्योपादानहानशून्योऽपि सांप्रतं संसारावस्थायां निमित्तमात्रीकृतपरद्रव्यपरिणामस्य स्वपरिणाममात्रस्य द्रव्यत्वभूतत्वात्केवलस्य कलयन् कर्तृत्वं, तदेव तस्य स्वपरिणामं निमित्तमात्रीकृत्योपात्तकर्मपरिणामाभिः पुद्गलधूलीभिर्विशिष्टावगाहरूपेणोपादीयते कदाचिन्मुच्यते च ।। १८६ ।।

अथ किंकृतं पुद्गलकर्मणां वैचित्र्यमिति निरूपयति –

प्रत्युत्तरं ददाति – **स इदाणि कत्ता सं** स इदानीं कर्ता सन् । स पूर्वोक्तलक्षण आत्मा, इदानीं कोऽर्थः एवं पूर्वोक्तनयविभागेन, कर्ता सन् । कस्य । **सगपरिणामस्स** निर्विकारनित्यानन्दैकलक्षणपरमसुखामृतव्यक्तिरूपकार्यसमयसारसाधकनिश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसारविलक्षणस्य मिथ्यात्वरागादिविभावरूपस्य स्वकीयपरिणामस्य । पुनरपि किंविशिष्टस्य । **दव्वजादस्स** स्वकीयात्मद्रव्योपादानकारणजातस्य । **आदीयदे कदाई कम्मधूलीहिं** आदीयते बध्यते । काभिः । कर्मधूलीभिः कर्तृभूताभिः कदाचित्पूर्वोक्तविभावपरिणामकाले । न केवलमादीयते, **विमुच्चदे** विशेषेण मुच्यते त्यज्यते ताभिः कर्मधूलीभिः कदाचित्पूर्वोक्तकारणसमयसारपरिणतिकाले । एतावता किमुक्तं भवति । अशुद्धपरिणामेन बध्यते शुद्धपरिणामेन मुच्यत इति ।।१८६।। अथ यथा द्रव्यकर्माणि निश्चयेन स्वयमेवोत्पद्यन्ते तथा

टीका :– सो यह आत्मा परद्रव्यके ग्रहण-त्यागसे रहित होता हुआ भी अभी संसारावस्थामें, परद्रव्यपरिणामको निमित्तमात्र करते हुए केवल स्वपरिणाममात्रका – उस स्वपरिणामके द्रव्यत्वभूत होनेसे – कर्तृत्वका अनुभव करता हुआ, उसके इसी स्वपरिणामको निमित्तमात्र करके कर्मपरिणामको प्राप्त होती हुई ऐसी पुद्गलरजके द्वारा विशिष्ट अवगाहरूपसे ग्रहण किया जाता है और कदाचित् छोड़ा जाता है ।

भावार्थ :– अभी संसारावस्थामें जीव पौद्गलिक कर्मपरिणामको निमित्तमात्र करके अपने अशुद्ध परिणामका ही कर्ता होता है (क्योंकि वह अशुद्ध परिणाम स्वद्रव्यसे उत्पन्न होता है), परद्रव्यका कर्ता नहीं होता । इसप्रकार जीव अपने अशुद्ध परिणामका कर्ता होने पर जीवके उसी अशुद्ध परिणामको निमित्तमात्र करके कर्मरूप परिणमित होती हुई पुद्गलरज विशेष अवगाहरूपसे जीवको ग्रहण [1]करती है, और कभी (स्थितिके अनुसार रहकर अथवा जीवके शुद्ध परिणामको निमित्तमात्र करके) छोड़ती है ।। १८६ ।।

अब पुद्गल कर्मोंकी विचित्रता (ज्ञानावरण, दर्शनावरणादिरूप अनेकप्रकारता) को कौन करता है ? इसका निरूपण करते हैं :–

---

[1] कर्मपरिणत पुद्गलोंका जीवके साथ विशेष अवगाहरूपसे रहनेको ही यहाँ कर्मपुद्गलोंके द्वारा जीवका 'ग्रहण होना' कहा है ।

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्हि असुहम्हि रागदोसजुदो ।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं ॥ १८७ ॥

परिणमति यदात्मा शुभेऽशुभे रागद्वेषयुतः ।
तं प्रविशति कर्मरजो ज्ञानावरणादिभावैः ॥ १८७ ॥

अस्ति खल्वात्मनः शुभाशुभपरिणामकाले स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यकर्मपुद्गलपरिणामः, नवघनाम्बुनो भूमिसंयोगपरिणामकाले समुपात्तवैचित्र्यान्यपुद्गलपरिणामवत् ।

ज्ञानावरणादिविचित्रभेदरूपेणापि स्वयमेव परिणमन्तीति कथयति – **परिणमदि जदा अप्पा** परिणमति यदात्मा । समस्तशुभाशुभपरद्रव्यविषये परमोपेक्षालक्षणं शुद्धोपयोगपरिणामं मुक्त्वा यदायमात्मा परिणमति । क्व । **सुहम्हि असुहम्हि** शुभेऽशुभे वा परिणामे । कथंभूतः सन् । **रागदोसजुदो** रागद्वेषयुक्तः परिणत इत्यर्थः । **तं पविसदि कम्मरयं** तदा काले तत्प्रसिद्धं कर्मरजः प्रविशति । कैः कृत्वा ।

गाथा १८७

अन्वयार्थ :– **[यदा]** जब **[आत्मा]** आत्मा **[रागद्वेषयुतः]** रागद्वेषयुक्त होता हुआ **[शुभे अशुभे]** शुभ और अशुभमें **[परिणमति]** परिणमित होता है, तब **[कर्मरजः]** कर्मरज **[ज्ञानावरणादिभावैः]** ज्ञानावरणादिरूपसे **[तं]** उसमें **[प्रविशति]** प्रवेश करती है ।

टीका :– जैसे नये मेघजलके भूमिसंयोगरूप परिणामके समय अन्य पुद्गलपरिणाम स्वयमेव वैचित्र्यको प्राप्त होते हैं, उसीप्रकार आत्माके शुभाशुभ परिणामके समय कर्मपुद्गलपरिणाम वास्तवमें स्वयमेव विचित्रताको प्राप्त होते हैं । वह इसप्रकार है कि – जैसे, जब नया मेघजल भूमिसंयोगरूप परिणमित होता है तब अन्य पुद्गल स्वयमेव विचित्रताको प्राप्त हरियाली, कुकुरमुत्ता (छत्ता), और इन्द्रगोप (चातुर्मासमें उत्पन्न लाल कीड़ा) आदिरूप परिणमित होता है, इसीप्रकार जब यह आत्मा रागद्वेषके वशीभूत होता हुआ शुभाशुभभावरूप परिणमित होता है, तब अन्य, योगद्वारोंमें प्रविष्ट होते हुए कर्मपुद्गल स्वयमेव विचित्रताको प्राप्त ज्ञानावरणादि भावरूप परिणमित होते हैं ।

जीव रागद्वेषथी युक्त ज्यारे परिणमे शुभ-अशुभमां ।
ज्ञानावरणइत्यादिभावे कर्मधूलि प्रवेश त्यां ॥१८७॥

यो हि नाम स्वविषयमात्रप्रवृत्ताशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकव्यवहारनयाविरोधमध्यस्थः, शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकनिश्चयनयापहस्तितमोहः सन्, नाहं परेषामस्मि, न परे मे सन्तीति स्वपरयोः परस्परस्वस्वामिसंबन्धमुद्धूय, शुद्धज्ञानमेवैकमहमित्यनात्मानमुत्सृज्यात्मानमेवात्मत्वेनोपादाय परद्रव्यव्यावृत्तत्वादात्मन्येवैकस्मिन्नग्रे चिन्तां निरुणद्धि, स खल्वेकाग्रचिन्तानिरोधकस्तस्मिन्नैकाग्रचिन्तानिरोधसमये शुद्धात्मा स्यात् । अतोऽवधार्यते शुद्धनयादेव शुद्धात्मलाभः ॥ १९१ ॥

अथ ध्रुवत्वात् शुद्ध आत्मैवोपलम्भनीय इत्युपदिशति –

निराकृत्य । पश्चात् किं करोति । **णाणमहमेक्को** ज्ञानमहमेकः, सकलविमलकेवलज्ञानमेवाहं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितत्वेनैकश्च । **इदि जो झायदि** इत्यनेन प्रकारेण योऽसौ ध्यायति चिन्तयति भावयति । क्व । **झाणे** निजशुद्धात्मध्याने स्थितः **सो अप्पाणं हवदि झादा** स आत्मानं भवति ध्याता । स चिदानन्दैकस्वभावपरमात्मानं ध्याता भवतीति । ततश्च परमात्मध्यानात्तादृशमेव परमात्मानं लभते । तदपि कस्मात् । उपादानकारणसदृशं कार्यमिति वचनात् । ततो ज्ञायते शुद्धनयाच्छुद्धात्मलाभ इति ॥१९१॥ अथ ध्रुवत्वाच्छुद्धात्मानमेव भावयेऽहमिति विचारयति – 'मण्णे'

टीका :– जो आत्मा, मात्र अपने विषयमें प्रवर्तमान अशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मक (अशुद्धद्रव्यके निरूपणस्वरूप) व्यवहारनयमें अविरोधरूपसे मध्यस्थ रहकर, शुद्धद्रव्यके निरूपणस्वरूप निश्चयनयके द्वारा जिसने मोहको दूर किया है ऐसा होता हुआ, 'मैं परका नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं' इसप्रकार स्व-परके परस्पर [1]स्वस्वामिसम्बन्धको छोड़कर, 'शुद्धज्ञान ही एक मैं हूँ' इसप्रकार अनात्माको छोड़कर, आत्माको ही आत्मरूपसे ग्रहण करके, परद्रव्यसे भिन्नत्वके कारण आत्मारूप ही एक [2]अग्रमें चिन्ताको रोकता है, वह एकाग्रचिन्तानिरोधक (एक विषयमें विचारको रोकनेवाला आत्मा) उस [3]एकाग्रचिन्तानिरोधके समय वास्तवमें शुद्धात्मा होता है । इससे निश्चित होता है कि शुद्धनयसे ही शुद्धात्माकी प्राप्ति होती है ॥ १९१ ॥

अब ऐसा उपदेश देते हैं कि ध्रुवत्वके कारण शुद्धात्मा ही उपलब्ध करने योग्य है :–

---

[1] जिसपर स्वामित्व है वह पदार्थ और स्वामीके बीचके संबंधको; स्व-स्वामि संबंध कहा जाता है ।

[2] अग्र=विषय; ध्येय; आलम्बन ।

[3] एकाग्रचिन्तानिरोध=एक ही विषयमें – ध्येयमें – विचारको रोकना; [एकाग्रचिन्तानिरोध नामक ध्यान है ।]

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं ।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ॥१९२॥

एवं ज्ञानात्मानं दर्शनभूतमतीन्द्रियमहार्थम् ।
ध्रुवमचलमनालम्बं मन्येऽहमात्मकं शुद्धम् ॥१९२॥

आत्मनो हि शुद्ध आत्मैव सदहेतुकत्वेनानाद्यनन्तत्वात् स्वतःसिद्धत्वाच्च ध्रुवो, न किंचनाप्यन्यत् । शुद्धत्वं चात्मनः परद्रव्यविभागेन स्वधर्माविभागेन चैकत्वात् । तच्च ज्ञानात्मकत्वाद्दर्शनभूतत्वादतीन्द्रियमहार्थत्वादचलत्वादनालम्बत्वाच्च । तत्र ज्ञानमेवात्मनि बिभ्रतः स्वयं दर्शनभूतस्य चातन्मयपरद्रव्यविभागेन स्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम् ।

इत्यादिपदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते – मण्णे मन्ये ध्यायामि सर्वप्रकारोपादेयत्वेन भावये । स कः । अहं अहं कर्ता । कं कर्मतापन्नम् । अप्पगं सहजपरमाह्लादैकलक्षणनिजात्मानम् । किंविशिष्टम् । सुद्धं रागादिसमस्तविभावरहितम् । पुनरपि किंविशिष्टम् । धुवं टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वेन ध्रुवमविनश्वरम् । पुनरपि कथंभूतम् । एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं एवं बहुविधपूर्वोक्तप्रकारेणाखण्डैकज्ञान-

---

गाथा १९२

अन्वयार्थ :— [अहम्] मैं [आत्मकं] आत्माको [एवं] इसप्रकार [ज्ञानात्मानं] ज्ञानात्मक, [दर्शनभूतम्] दर्शनभूत, [अतीन्द्रियमहार्थं] अतीन्द्रिय महा पदार्थ [ध्रुवम्] ध्रुव, [अचलम्] अचल, [अनालम्बं] निरालम्ब और [शुद्धम्] शुद्ध [मन्ये] मानता हूँ ।

टीका :— शुद्धात्मा [1]सत् और [2]अहेतुक होनेसे अनादि-अनन्त और स्वतःसिद्ध है, इसलिये आत्माके शुद्धात्मा ही ध्रुव है, (उसके) दूसरा कुछ भी ध्रुव नहीं है । आत्मा शुद्ध इसलिये है कि उसे परद्रव्यसे विभाग (भिन्नत्व) और स्वधर्मसे अविभाग है, इसलिये एकत्व है । वह एकत्व आत्माके (१) ज्ञानात्मकपनेके कारण, (२) दर्शनभूतपनेके कारण, (३) अतीन्द्रिय महा पदार्थपनेके कारण, (४) अचलपनेके कारण, और (५) निरालम्बपनेके कारण है ।

---

[1] सत्=विद्यमान; अस्तित्ववाला; होनेवाला ।

[2] अहेतुक= जिसका कोई कारण नहीं है ऐसा; अकारण ।

अे रीत दर्शन-ज्ञान है, इन्द्रिय-अतीत महार्थ है ।
मानुं हूं—आलंबन रहित, जीव शुद्ध, निश्चल, ध्रुव है ॥१९२॥

तथा प्रतिनियतस्पर्शरसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहीण्यनेकानीन्द्रियाण्यतिक्रम्य सर्वस्पर्शरसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहकस्यैकस्य सतो महतोऽर्थस्येन्द्रियात्मकपरद्रव्यविभागेन स्पर्शादिग्रहणात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम्। तथा क्षणक्षयप्रवृत्तपरिच्छेद्यपर्याय-

दर्शनात्मकम्। पुनश्च किंरूपम्। अतीन्द्रियं [illegible] कालीन्द्रियस्वभावम्। पुनश्च कीदृशम्। महार्थं [illegible]। पुनरपि निश्चलस्वभावम्। अचलं [illegible] निरालम्बम्।

इनमेंसे (१-२) जो ज्ञानको ही अपनेमें धारण कर रखता है और जो स्वयं दर्शनभूत है ऐसे आत्माका अतन्मय (ज्ञान-दर्शन रहित ऐसा) परद्रव्यसे भिन्नत्व है और स्वधर्मसे अभिन्नत्व है, इसलिये उसके एकत्व है; (३) और जो [1]प्रतिनिश्चित स्पर्श-रस-गंध-वर्णरूप गुण तथा शब्दरूप पर्यायको ग्रहण करनेवाली अनेक इन्द्रियोंका अतिक्रम (उल्लंघन) करके, समस्त स्पर्श-रस-गंध-वर्णरूप गुणों और शब्दरूप पर्यायको ग्रहण करनेवाला एक सत् महा पदार्थ है, ऐसे आत्माका इन्द्रियात्मक परद्रव्यसे विभाग है, और स्पर्शादिके ग्रहणस्वरूप (ज्ञानस्वरूप) स्वधर्मसे अविभाग है, इसलिये उसके एकत्व है, (४) और क्षणविनाशरूपसे प्रवर्तमान ज्ञेयपर्यायोंको (प्रतिक्षण नष्ट होनेवाली ज्ञातव्य पर्यायोंको) ग्रहण करने और छोड़नेका अभाव होनेसे जो अचल है ऐसे आत्माको ज्ञेयपर्यायस्वरूप परद्रव्यसे विभाग है और [2]तन्निमित्तक ज्ञानस्वरूप स्वधर्मसे अविभाग है, इसलिये उसके एकत्व है; (५) और नित्यरूपसे प्रवर्तमान (शाश्वत ऐसा) ज्ञेयद्रव्योंके आलम्बनका अभाव होनेसे जो निरालम्ब है ऐसे आत्माका ज्ञेय परद्रव्योंसे विभाग है और तन्निमित्तक ज्ञानस्वरूप स्वधर्मसे अविभाग है, इसलिये उसके एकत्व है।

इसप्रकार आत्मा शुद्ध है क्योंकि चिन्मात्र शुद्धनय उतना ही मात्र निरूपणस्वरूप है (अर्थात् चैतन्यमात्र शुद्धनय आत्माको मात्र शुद्ध ही निरूपित करता है)। और यह एक ही (यह शुद्धात्मा एक ही) ध्रुवत्वके कारण उपलब्ध करनेयोग्य है। किसी पथिकके शरीरके अंगोंके साथ संसर्गमें आनेवाली मार्गके वृक्षोंकी अनेक छायाके समान अन्य जो अध्रुव (अन्य जो अध्रुव पदार्थ) उनसे क्या प्रयोजन है ?

---

[1] प्रतिनिश्चित=प्रतिनियत। (प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने नियत विषयको ग्रहण करती है; जैसे चक्षु वर्णको ग्रहण करती है।)

[2] ज्ञेय पर्यायें जिसकी निमित्त हैं ऐसा जो ज्ञान, उस-स्वरूप स्वधर्मसे (ज्ञानस्वरूप निजधर्मसे) आत्माकी अभिन्नता है।

ग्रहणमोक्षणाभावेनाचलस्य परिच्छेद्यपर्यायात्मकपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम् । तथा नित्यप्रवृत्तपरिच्छेद्यद्रव्यालम्बनाभावेनानालम्बस्य परिच्छेद्यपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम् । एवं शुद्ध आत्मा, चिन्मात्रशुद्धनयस्य तावन्मात्रनिरूपणात्मकत्वात् अयमेक एव च ध्रुवत्वादुपलब्धव्यः किमन्यैरध्वनीनाङ्गसंगच्छमानानेकमार्गपादपच्छायास्थानीयैरध्रुवैः ।।१९२।।

अथाध्रुवत्वादात्मनोऽन्यन्नोपलभनीयमित्युपदिशति –

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा ।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा ।।१९३।।

देहा वा द्रविणानि वा सुखदुःखे वाथ शत्रुमित्रजनाः ।
जीवस्य न सन्ति ध्रुवा ध्रुव उपयोगात्मक आत्मा ।।१९३।।

पुनरपि किंविशिष्टम् । अणालंबं स्वाधीनद्रव्यत्वेन सालम्बनं भरितावस्थमपि समस्तपराधीनपरद्रव्यालम्बनरहितत्वेन निरालम्बनमित्यर्थः ।। १९२ ।। अथात्मनः पृथग्भूतं देहादिकमध्रुवत्वान्न भावनीयमित्याख्याति – ण संति धुवा ध्रुवा अविनश्वरा नित्या न सन्ति । कस्य । जीवस्स जीवस्य ।

भावार्थ :– आत्मा (१) ज्ञानात्मक, (२) दर्शनरूप, (३) इन्द्रियोंके बिना ही सबको जाननेवाला महा पदार्थ, (४) ज्ञेय-परपर्यायोंका ग्रहण–त्याग न करनेसे अचल और (५) ज्ञेय-परद्रव्योंका आलम्बन न लेनेसे निरालम्ब है; इसलिये वह एक है।

इसप्रकार एक होनेसे वह शुद्ध है। ऐसा शुद्धात्मा ध्रुव होनेसे, वही एक उपलब्ध करने योग्य है ।। १९२ ।।

अब, ऐसा उपदेश देते हैं कि अध्रुवपनेके कारण आत्माके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी उपलब्ध करने योग्य नहीं है :–

गाथा १९३

अन्वयार्थ :– [देहाः वा] शरीर, [द्रविणानि वा] धन, [सुखदुःखे] सुखदुःख [वा अथ] अथवा [शत्रुमित्रजनाः] शत्रुमित्रजन (यह कुछ) [जीवस्य] जीवके [ध्रुवाः न सन्ति] ध्रुव नहीं हैं; [ध्रुवः] ध्रुव तो [उपयोगात्मकः आत्मा] उपयोगात्मक आत्मा है ।

लक्ष्मी, शरीर, सुख-दुःख अथवा शत्रु-मित्र जनो अरे ।
जीवने नथी कंई ध्रुव, ध्रुव उपयोग-आत्मक जीव छे ।।१९३।।

आत्मनो हि परद्रव्याविभागेन परद्रव्योपरज्यमानस्वधर्मविभागेन चाशुद्धत्वनिबन्धनं न किंचनाप्यन्यदसद्धेतुमत्त्वेनाद्यन्तवत्त्वात्परतः सिद्धत्वाच्च ध्रुवमस्ति। ध्रुव उपयोगात्मा शुद्ध आत्मैव। अतोऽध्रुवं शरीरादिकमुपलभ्यमानमपि नोपलभे, शुद्धात्मानमुपलभे ध्रुवम् ॥ १९३ ॥

अथैवं शुद्धात्मोपलम्भात्किं स्यादिति निरूपयति –

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं ॥ १९४ ॥

य एवं ज्ञात्वा ध्यायति परमात्मानं विशुद्धात्मा।
साकारोऽनाकारः क्षपयति स मोहदुर्ग्रन्थिम् ॥ १९४ ॥

के ते। देहा वा दविणा वा देहा वा द्रव्याणि वा, सर्वप्रकारशुचिभूताद्देहरहितात्परमात्मनो विलक्षणा औदारिकादिपञ्चदेहास्तथैव च पञ्चेन्द्रियभोगोपभोगसाधकानि परद्रव्याणि च। न केवलं देहादयो ध्रुवा न भवन्ति, सुहदुक्खा वा निर्विकारपरमानन्दैकलक्षणस्वात्मोत्थसुखामृतविलक्षणानि सांसारिकसुखदुःखानि वा। अध अहो भव्याः सत्तुमित्तजणा शत्रुमित्रादिभावरहितादात्मनो भिन्नाः शत्रुमित्रादिजनाश्च। यद्येतत् सर्वमध्रुवं तर्हि किं ध्रुवमिति चेत्। धुवो ध्रुवः शाश्वतः। स कः। अप्पा निजात्मा। किंविशिष्टः। उवओगप्पगो त्रैलोक्योदरविवरवर्तित्रिकालविषयसमस्तद्रव्यगुणपर्याययुगपत्परिच्छित्तिसमर्थकेवलज्ञानदर्शनोपयोगात्मक इति। एवमध्रुवत्वं ज्ञात्वा ध्रुवस्वभावे स्वात्मनि भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥ १९३ ॥ एवमशुद्धनयादशुद्धात्मलाभो भवतीति कथनेन प्रथमगाथा।

टीका :– जो परद्रव्यसे अभिन्न होनेके कारण और परद्रव्यके द्वारा [1]उपरक्त होनेवाले स्वधर्मसे भिन्न होनेके कारण आत्माको अशुद्धपनेका कारण है, ऐसा (आत्माके अतिरिक्त) दूसरा कोई भी ध्रुव नहीं है, क्योंकि वह [2]असत् और [3]हेतुमान् होनेसे आदि-अन्तवाला और परतःसिद्ध है; ध्रुव तो उपयोगात्मक शुद्ध आत्मा ही है। ऐसा होनेसे मैं उपलभ्यमान अध्रुव ऐसे शरीरादिको–वे उपलब्ध होने

---

[1] उपरक्त=मलिन; विकारी [परद्रव्यके निमित्तसे आत्माका स्वधर्म उपरक्त होता है।]

[2] असत्=अस्तित्व रहित (अनित्य); [धन-देहादिक पुद्गल पर्याय हैं, इसलिये असत् हैं, इसीलिये आदि-अन्तवाली हैं।]

[3] हेतुमान्=सहेतुक; जिसकी उत्पत्तिमें कोई भी निमित्त हो ऐसा। [देह-धनादिकी उत्पत्तिमें कोई भी निमित्त होता है, इसलिये वे परतः सिद्ध हैं; स्वतः सिद्ध नहीं।]

-आ जाणी, शुद्धात्मा बनी, ध्यावे परम निज आत्मने।
साकार अण-आकार हो, ते मोहग्रंथि क्षय करे ॥१९४॥

अमुना यथोदितेन विधिना शुद्धात्मानं ध्रुवमधिगच्छतस्तस्मिन्नेव प्रवृत्तेः शुद्धात्मत्वं स्यात्; ततोऽनन्तशक्तिचिन्मात्रस्य परमस्यात्मन एकाग्रसंचेतनलक्षणं ध्यानं स्यात्; ततः साकारोपयुक्तस्यानाकारोपयुक्तस्य वाविशेषेणैकाग्रचेतनप्रसिद्धेरासंसारबद्धदृढतरमोहदुर्ग्रन्थेरुद्ग्रथनं स्यात् । अतः शुद्धात्मोपलम्भस्य मोहग्रन्थिभेदः फलम् ।। १९४ ।।

शुद्धनयाच्छुद्धात्मलाभो भवतीति कथनेन द्वितीया । ध्रुवत्वादात्मैव भावनीय इति प्रतिपादनेन तृतीया । आत्मनोऽन्यदध्रुवं न भावनीयमिति कथनेन चतुर्थी चेति शुद्धात्मव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयं गतम् । अथैवं पूर्वोक्तप्रकारेण शुद्धात्मोपलम्भे सति किं फलं भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरमाह – झादि ध्यायति जो यः कर्ता । कम् । अप्पगं निजात्मानम् । कथंभूतम् । परं परमानन्तज्ञानादिगुणाधारत्वात्परमुत्कृष्टम् । किं कृत्वा पूर्वम् । एवं जाणित्ता एवं पूर्वोक्तप्रकारेण स्वात्मोपलम्भलक्षणस्वसंवेदनज्ञानेन ज्ञात्वा । कथंभूतः सन् ध्यायति । विसुद्धप्पा ख्यातिपूजालाभादिसमस्तमनोरथजालरहितत्वेन विशुद्धात्मा सन् । पुनरपि कथंभूतः सागारोऽणागारो सागारोऽनागारः । अथवा साकारानाकारः । सहाकारेण विकल्पेन वर्तते साकारो ज्ञानोपयोगः, अनाकारो निर्विकल्पो दर्शनोपयोगस्ताभ्यां युक्तः साकारानाकारः । अथवा साकारः सविकल्पो गृहस्थः, अनाकारो निर्विकल्पस्तपोधनः । अथवा सहाकारेण लिङ्गेन चिह्नेन वर्तते साकारो यतिः, अनाकारश्चिह्नरहितो गृहस्थः । खवेदि सो मोहदुग्गंठि य एवंगुणविशिष्टः क्षपयति स मोहदुर्ग्रन्थिम् । मोह एव दुर्ग्रन्थिः मोहदुर्ग्रन्थिः शुद्धात्मरुचिप्रतिबन्धको दर्शनमोहस्तम् । ततः स्थितमेतत् – आत्मोपलम्भस्य मोहग्रन्थिविनाश एव

पर भी – उपलब्ध नहीं करता, और ध्रुव ऐसे शुद्धात्माको उपलब्ध करता हूँ ।।१९३।।

इसप्रकार शुद्धात्माकी उपलब्धिसे क्या होता है यह अब निरूपण करते हैं :–

गाथा १९४

अन्वयार्थ :– [**यः**] जो [**एवं ज्ञात्वा**] ऐसा जानकर [**विशुद्धात्मा**] विशुद्धात्मा होता हुआ [**परमात्मानं**] परम आत्माका [**ध्यायति**] ध्यान करता है, [**सः**] वह – [**साकारः अनाकारः**] साकार हो या अनाकार [**मोहदुर्ग्रंथिं**] मोहदुर्ग्रंथिका [**क्षपयति**] क्षय करता है ।

टीका :– इस यथोक्त विधिके द्वारा जो शुद्धात्माको ध्रुव जानता है, उसे उसीमें प्रवृत्तिके द्वारा शुद्धात्मत्व होता है; इसलिये अनन्तशक्तिवाले [1]चिन्मात्र परम आत्माका [2]एकाग्रसंचेतनलक्षण ध्यान होता है; और इसलिये (उस ध्यानके कारण) साकार (सविकल्प) उपयोगवालेको या अनाकार (निर्विकल्प) उपयोगवालेको – दोनोंको

---

१ चिन्मात्र = चैतन्यमात्र [परम आत्मा केवल चैतन्यमात्र है, जो कि अनन्त शक्तिवाला है ।]

२ एक अग्रका (विषयका, ध्येयका) संचेतन अर्थात् अनुभवन ध्यानका लक्षण है ।

निखातकीलितमज्जितसमावर्तितप्रतिबिम्बितवत्तत्र क्रमप्रवृत्तानन्तभूतभवद्भाविविचित्र-पर्यायप्राग्भारमगाधस्वभावं गम्भीरं समस्तमपि द्रव्यजातमेकक्षण एव प्रत्यक्षयन्तं ज्ञेयज्ञायकलक्षणसंबन्धस्यानिवार्यत्वेनाशक्यविवेचनत्वादुपात्तवैश्वरूप्यमपि सहजानन्तशक्ति-ज्ञायकस्वभावेनैकरूप्यमनुज्झन्तमासंसारमनयैव स्थित्या स्थितं मोहेनान्यथाध्यवस्यमानं शुद्धात्मानमेष मोहमुत्खाय यथास्थितमेवातिनिःप्रकम्पः संप्रतिपद्ये । स्वयमेव भवतु चास्यैवं दर्शनविशुद्धिमूलया सम्यग्ज्ञानोपयुक्ततयात्यन्तमव्याबाधरतत्वात्साधोरपि साक्षात्सिद्धभूतस्य स्वात्मनस्तथाभूतानां परमात्मनां च नित्यमेव तदेकपरायणत्वलक्षणो भावनमस्कारः ॥ २०० ॥

सन् । उवट्ठिदो उपस्थितः परिणतः । क्व । णिम्ममत्तम्मि समस्तपरद्रव्यममकाराहंकाररहितत्वेन निर्ममत्वलक्षणे परमसाम्याभिधाने वीतरागचारित्रे तत्परिणतनिजशुद्धात्मस्वभावे वा । तथाहि – अहं तावत्केवलज्ञानदर्शनस्वभावत्वेन ज्ञायकैकटङ्कोत्कीर्णस्वभावः । तथाभूतस्य सतो मम न केवलं स्वस्वाम्यादयः परद्रव्यसंबन्धा न सन्ति । निश्चयेन ज्ञेयज्ञायकसंबन्धो नास्ति । ततः कारणात्समस्त-परद्रव्यममत्वरहितो भूत्वा परमसाम्यलक्षणे निजशुद्धात्मनि तिष्ठामीति । किंच 'उवसंपयामि सम्मं' इत्यादिस्वकीयप्रतिज्ञां निर्वाहयन्स्वयमपि मोक्षमार्गपरिणतिं स्वीकरोत्येवं यदुक्तं गाथापातनिका-प्रारम्भे तेन किमुक्तं भवति – ये तां प्रतिज्ञां गृहीत्वा सिद्धिं गतास्तैरेव सा प्रतिज्ञा वस्तुवृत्त्या समाप्ति नीता । कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पुनर्ज्ञानदर्शनाधिकारद्वयरूपग्रन्थसमाप्तिरूपेण समाप्ति नीता, शिवकुमार-महाराजेन तु तद्ग्रन्थश्रवणेन च । कस्मादिति चेत् । ये मोक्षं गतास्तेषां सा प्रतिज्ञा परिपूर्णा जाता, न च तेषाम् । कस्मात् । चरमदेहत्वाभावादिति ॥ २०० ॥ एवं ज्ञानदर्शनाधिकारसमाप्तिरूपेण चतुर्थस्थले गाथाद्वयं गतम् ।

प्रतिबिम्बित हुए हों, इसप्रकार – एक क्षणमें ही जो (शुद्धात्मा) प्रत्यक्ष करता है, [1]ज्ञेयज्ञायकलक्षण संबंधकी अनिवार्यताके कारण ज्ञेय-ज्ञायकको भिन्न करना अशक्य होनेसे विश्वरूपता को प्राप्त होनेपर भी जो (शुद्धात्मा) सहज अनन्तशक्तिवाले ज्ञायकस्वभावके द्वारा एकरूपताको नहीं छोड़ता, जो अनादि संसारसे इसी स्थितिमें (ज्ञायक भावरूप ही) रहा है और जो मोहके द्वारा दूसरे रूपमें जाना – माना जाता है उस शुद्धात्माको यह मैं मोहको उखाड़ फेंककर, अतिनिष्कम्प रहता हुआ यथास्थित (जैसाका तैसा) ही प्राप्त करता हूँ।

इसप्रकार दर्शनविशुद्धि जिसका मूल है ऐसी, सम्यग्ज्ञानमें उपयुक्तताके कारण अत्यन्त अव्याबाध (निर्विघ्न) लीनता होनेसे, साधु होने पर भी साक्षात् सिद्धभूत

---

[1] ज्ञेयज्ञायकस्वरूप सम्बन्ध टाला नहीं जासकता, इसलिये यह अशक्य है कि ज्ञेय ज्ञायकमें ज्ञात न हों, इसलिये आत्मा मानों समस्त द्रव्यरूपताको प्राप्त होता है।

शालिनी छन्द

जैनं ज्ञानं ज्ञेयतत्त्वप्रणेतृ
स्फीतं शब्दब्रह्म सम्यग्विगाह्य ॥
संशुद्धात्मद्रव्यमात्रैकवृत्त्या
नित्यं युक्तैः स्थीयतेऽस्माभिरेवम् ॥ १० ॥

शालिनी छन्द

ज्ञेयीकुर्वन्नञ्जसासीमविश्वं
ज्ञानीकुर्वन् ज्ञेयमाक्रान्तभेदम् ।
आत्मीकुर्वन् ज्ञानमात्मान्यभासि
स्फूर्जत्यात्मा ब्रह्म संपद्य सद्यः ॥ ११ ॥

एवं निजशुद्धात्मभावनारूपमोक्षमार्गेण ये सिद्धिं गता ये च तदाराधकास्तेषां दर्शनाधिकारापेक्षयावसानमङ्गलार्थं ग्रन्थापेक्षया मध्यमङ्गलार्थं च तत्पदाभिलाषी भूत्वा नमस्कारं करोति—

दंसणसंसुद्धाणं सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताणं ।
अव्वाबाधरदाणं णमो णमो सिद्धसाहूणं ॥ *१४॥

णमो णमो नमो नमः। पुनः पुनर्नमस्करोमीति भक्तिप्रकर्षं दर्शयति। केभ्यः। सिद्धसाहूणं सिद्धसाधुभ्यः। सिद्धशब्दवाच्यस्वात्मोपलब्धिलक्षणार्हत्सिद्धेभ्यः, साधुशब्दवाच्यमोक्षसाधकाचार्योपाध्यायसाधुभ्यः। पुनरपि कथंभूतेभ्यः। दंसणसंसुद्धाणं मूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलरहितसम्यग्दर्शनसंशुद्धेभ्यः। पुनरपि कथंभूतेभ्यः। सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताणं संशयादिरहितं सम्यग्ज्ञानं, तस्योपयोगः सम्यग्ज्ञानोपयोगः, योगो निर्विकल्पसमाधिर्वीतरागचारित्रमित्यर्थः, ताभ्यां युक्ताः सम्यग्ज्ञानोपयोगयुक्तास्तेभ्यः। पुनश्च किंरूपेभ्यः। अव्वाबाधरदाणं सम्यग्ज्ञानादिभावनोत्पन्नाव्याबाधानन्तसुखरतेभ्यश्च ॥*१४॥ इति नमस्कारगाथासहितस्थलचतुष्टयेन चतुर्थविशेषान्तराधिकारः समाप्तः।

ऐसा यह निज आत्माको तथा तथाभूत (सिद्धभूत) परमात्माओंको, ¹उसीमें परायणता जिसका लक्षण है ऐसा भावनमस्कार सदा ही ²स्वयमेव हो ॥ २०० ॥

[अब श्लोक द्वारा जिनेन्द्रोक्त शब्दब्रह्मके सम्यक् अभ्यासका फल कहा जाता है] –

अर्थ :– इसप्रकार ज्ञेयतत्त्वको समझानेवाले जैन ज्ञानमें – विशाल शब्दब्रह्ममें – –सम्यक्तया अवगाहन करके (डुबकी लगाकर, गहराईमें उतरकर, निमग्न होकर) हम मात्र शुद्धआत्मद्रव्यरूप एक वृत्तिसे (परिणतिसे) सदा युक्त रहते हैं ॥ १० ॥

¹ उसीमें परायणता [illegible] ; भाववंदन। [illegible]

² स्वयमेव [illegible]

वसन्ततिलका छन्द

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि
द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम् ।
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं
द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ।। १२ ।।

एवं 'अत्थित्तणिच्छिदस्स हि' इत्याद्येकादशगाथापर्यन्तं शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयमुख्यत्वेन प्रथमो विशेषान्तराधिकारस्तदनन्तरं 'अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य' इत्यादिगाथानवकपर्यन्तं पुद्गलानां परस्परबन्धमुख्यत्वेन द्वितीयो विशेषान्तराधिकारस्ततः परं 'अरसमरूवं' इत्याद्यकोनविंशतिगाथापर्यंन्तं जोवस्य पुद्गलकर्मणा सह बन्धमुख्यत्वेन तृतीयो विशेषान्तराधिकारस्ततश्च 'ण चयदि जो दु मर्मात्ति' इत्यादिद्वादशगाथापर्यन्तं विशेषभेदभावनाचूलिकाव्याख्यानरूपश्चतुर्थो विशेषान्तराधिकार इत्येकाधिकपञ्चाशद्गाथाभिर्विशेषान्तराधिकारचतुष्टयेन विशेषभेदभावनाभिधानश्चतुर्थोऽन्तराधिकारः समाप्तः ।

इति **श्रीजयसेनाचार्य**कृतायां तात्पर्यवृत्तौ 'तम्हा तस्स णमाइं' इत्यादिपञ्चत्रिंशद्गाथापर्यन्तं सामान्यज्ञेयव्याख्यानं, तदनन्तरं 'दव्वं जीवं' इत्याद्येकोनविंशतिगाथापर्यन्तं जीवपुद्गलधर्मादिभेदेन विशेषज्ञेयव्याख्यानं, ततश्च 'सपदेसेहिं समग्गो' इत्यादिगाथाष्टकपर्यन्तं सामान्यभेदभावना, ततः परं

[अब श्लोकके द्वारा मुक्तात्माके ज्ञानकी महिमा गाकर ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापनाधिकारकी पूर्णाहुति की जा रही है ।]:–

अर्थ :– आत्मा ब्रह्मको (परमात्मत्वको, सिद्धत्वको) शीघ्र प्राप्त करके, असीम (अनन्त) विश्वको शीघ्रतासे (एक समयमें) ज्ञेयरूप करता हुआ, भेदोंको प्राप्त ज्ञेयोंको ज्ञानरूप करता हुआ (अनेक प्रकारके ज्ञेयोंको ज्ञानमें जानता हुआ) और स्व-परप्रकाशक ज्ञानको आत्मारूप करता हुआ, प्रगट–दैदीप्यमान होता है ।। ११ ।।

[अब श्लोक द्वारा, द्रव्य और चरणका संबंध बतलाकर, ज्ञेयतत्व – प्रज्ञापन नामक द्वितीयाधिकारकी और चरणानुयोगसूचक चूलिका नामक तृतीयाधिकारकी संधि बतलाई जाती है ।] :–

अर्थ :– चरण द्रव्यानुसार होता है और द्रव्य चरणानुसार होता है – इसप्रकार वे दोनों परस्पर अपेक्षासहित हैं; इसलिये या तो द्रव्यका आश्रय लेकर अथवा तो चरणका आश्रय लेकर मुमुक्षु (ज्ञानी, मुनि) मोक्षमार्गमें आरोहण करो ।

इति तत्त्वदीपिकायां प्रवचनसारवृत्तौ श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापनो नाम द्वितीयः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ॥ २ ॥

'अत्थित्तणिच्छिदस्स हि' इत्याद्येकाधिकपञ्चाशद्गाथापर्यंन्तं विशेषभेदभावना चेत्यन्तराधिकार-चतुष्टयेन त्रयोदशाधिकशतगाथाभिः सम्यग्दर्शनाधिकारनामा ज्ञेयाधिकारापरसंज्ञो द्वितीयो महा-धिकारः समाप्तः ॥ २ ॥

इसप्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत) श्री प्रवचनसार शास्त्रकी श्रीमदमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित तत्वदीपिकानामक टीकाका यह **'ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन'** नामक द्वितीयश्रुतस्कंध (का भाषानुवाद) समाप्त हुआ।



— ३ —

चरणानुयोगसूचक चूलिका

अथ परेषां चरणानुयोगसूचिका चूलिका ।

तत्र —

❀ इन्द्रवज्रा छन्द ❀

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः
द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ ।
बुद्ध्वेति कर्माविरताः परेऽपि
द्रव्याविरुद्धं चरणं चरंतु ।। १३ ।।

इति चरणाचरणे परान् प्रयोजयति —

कार्य प्रत्यत्रैव ग्रन्थः समाप्त इति ज्ञातव्यम् । कस्मादिति चेत् । 'उवसंपयामि सम्मं' इति प्रतिज्ञासमाप्तेः । अतःपरं यथाक्रमेण सप्ताधिकनवतिगाथापर्यन्तं चूलिकारूपेण चारित्राधिकार-व्याख्यानं प्रारभ्यते । तत्र तावदुत्सर्गरूपेण चारित्रस्य संक्षेपव्याख्यानम् । तदनन्तरमपवादरूपेण तस्यैव

— ३ —

चरणानुयोगसूचक चूलिका

अब दूसरोंको चरणानुयोगकी सूचक [1]चूलिका है ।

[उसमें, प्रथम श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव श्लोकके द्वारा अब इस—आगामी गाथाकी उत्थानिका करते हैं ।]

[अर्थ :—] द्रव्यकी सिद्धिमें चरणकी सिद्धि है, और चरणकी सिद्धिमें द्रव्यकी सिद्धि है — यह जानकर, कर्मोंसे (शुभाशुभ भावों से) अविरत दूसरे भी, द्रव्यसे अविरुद्ध चरण (चारित्र) का आचरण करो ।

— इसप्रकार (श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव इस आगामी गाथाके द्वारा) दूसरोंको चरण (चारित्र) के आचरण करनेमें युक्त करते (जोड़ते) हैं ।

[1] चूलिका=जो शास्त्रमें नहीं कहा गया है उसका व्याख्यान करना, अथवा कहे गये का विशेष व्याख्यान करना या दोनोंका यथायोग्य व्याख्यान करना ।

'एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं । पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ।। सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे । समणे य णाणदंसणचरित्ततव-वीरियायारे ।। ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं । वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ।।'

एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे ।।
पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ।। २०१ ।।

एवं प्रणम्य सिद्धान् जिनवरवृषभान् पुनः पुनः श्रमणान् ।
प्रतिपद्यतां श्रामण्यं यदीच्छति दुःखपरिमोक्षम् ।। २०१ ।।

चारित्रस्य विस्तरव्याख्यानम् । ततश्च श्रामण्यापरनाममोक्षमार्गव्याख्यानम् । तदनन्तरं शुभोपयोग-व्याख्यानमित्यन्तराधिकारचतुष्टयं भवति । तत्रापि प्रथमान्तराधिकारे पञ्च स्थलानि । 'एवं पणमिय सिद्धे' इत्यादिगाथासप्तकेन दीक्षाभिमुखपुरुषस्य दीक्षाविधानकथनमुख्यतया प्रथमस्थलम् । अतःपरं 'वदसमिदिंदिय' इत्यादि मूलगुणकथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाद्वयम् । तदनन्तरं गुरुव्यवस्थाज्ञापनार्थं 'लिंगग्गहणे' इत्यादि एका गाथा, तथैव प्रायश्चित्तकथनमुख्यतया 'पयदम्हि' इत्यादि गाथाद्वयमिति समुदायेन तृतीयस्थले गाथात्रयम् । अथाचारादिशास्त्रकथितक्रमेण तपोधनस्य संक्षेपसमाचारकथनार्थं 'अधिवासे व' इत्यादि चतुर्थस्थले गाथात्रयम् । तदनन्तरं भावहिंसाद्रव्यहिंसापरिहारार्थं 'अपयत्ता वा चरिया' इत्यादि पञ्चमस्थले सूत्रषट्कमित्येकविंशतिगाथाभिः स्थलपञ्चकेन प्रथमान्तराधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा – अथासन्नभव्यजीवांश्चारित्रे प्रेरयति – पडिवज्जदु प्रतिपद्यतां स्वीकरोतु ।

[अब गाथाके प्रारंभ करनेसे पूर्व उसकी संधिके लिये श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने पंच परमेष्ठीको नमस्कार करनेके लिये निम्नप्रकारसे ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन अधिकारकी प्रथम तीन गाथायें लिखी हैं :–

"एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदंधोदघाइकम्ममलं ।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ।।
सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे ।
समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे ।।
ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं ।
वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ।।"[1]

[अब, इस अधिकारकी गाथा प्रारंभ करते हैं :–]

[1] यह, ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापनकी [illegible] गाथायें हैं ।

ए रीत प्रणमी सिद्ध, जिनवरवृषभ, मुनिने फरी-फरी ।
श्रामण्य अंगीकृत करो, अभिलाष जो दुःखमुक्तिनो ।। २०१ ।।

यथा ममात्मना दुःखमोक्षार्थिना, 'किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं। अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेवि सव्वेसिं ।। तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज। उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ।।' इति अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधूनां प्रणतिवन्दनात्मकनमस्कारपुरःसरं विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानं साम्यनाम श्रामण्यमवान्तर-ग्रन्थसन्दर्भोभयसंभावितसौस्थित्यं स्वयं प्रतिपन्नं, परेषामात्मापि यदि दुःखमोक्षार्थी तथा

किम् । सामण्णं श्रामण्यं चारित्रम् । यदि किम् । इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं यदि चेत् दुःखपरिमोक्ष-मिच्छति । स कः कर्ता । परेषामात्मा । कथं प्रतिपद्यताम् । एवं एवं पूर्वोक्तप्रकारेण 'एस सुरासुर-मणुसिंद' इत्यादिगाथापञ्चकेन पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारं कृत्वा ममात्मना दुःखमोक्षार्थिनान्यैः पूर्वोक्त-भव्यैर्वा यथा तच्चारित्रं प्रतिपन्नं तथा प्रतिपद्यताम् । किं कृत्वा पूर्वम् । पणमिय प्रणम्य । कान् । सिद्धे अञ्जनपादुकादिसिद्धिविलक्षणस्वात्मोपलब्धिसिद्धिसमेतसिद्धान् । जिणवरवसहे सासादनादिक्षीण-कषायान्ता एकदेशजिना उच्यन्ते, शेषाश्चानागारकेवलिनो जिनवरा भण्यन्ते, तीर्थंकरपरमदेवाश्च जिनवरवृषभा इति, तान् जिनवरवृषभान् । न केवलं तान् प्रणम्य, पुणो पुणो समणे चिच्चमत्कारमात्र-निजात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयाचरणप्रतिपादनसाधकत्वोद्यतान् श्रमणशब्दवा-च्यानाचार्योपाध्यायसाधूंश्च पुनः पुनः प्रणम्येति । किंच पूर्वं ग्रन्थप्रारम्भकाले साम्यमाश्रयामीति

गाथा २०१

अन्वयार्थ :– [यदि दुःखपरिमोक्षम् इच्छति] यदि दुःखोंसे परिमुक्त होनेकी (छुटकारा पानेकी) इच्छा हो तो, [एवं] पूर्वोक्त प्रकारसे (ज्ञानतत्व-प्रज्ञापनकी प्रथम तीन गाथाओंके अनुसार) [पुनः पुनः] बारंबार [सिद्धान्] सिद्धोंको, [जिनवरवृषभान्] जिनवरवृषभोंको (अर्हन्तोंको) तथा [श्रमणान्] श्रमणोंको [प्रणम्य] प्रणाम करके, [श्रामण्यं प्रतिपद्यताम्] (जीव) श्रामण्यको अंगीकार करो ।

टीका :– जैसे दुःखोंसे मुक्त होनेके अर्थी मेरे आत्माने – [1]"किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं। अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव सव्वेसिं ।। तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज। उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती।" इसप्रकार अर्हन्तों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों तथा साधुओंको [2]प्रणाम-वंदनात्मक नमस्कारपूर्वक [3]विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधान साम्यनामक श्रामण्यको – जिसका इस ग्रंथमें कहे हुए (ज्ञानतत्व-प्रज्ञापन और ज्ञेयतत्वप्रज्ञापन नामक) दो अधिकारोंकी रचना द्वारा सुस्थितपन हुआ है

---

[1] यह, ज्ञानतत्वप्रज्ञापनकी चौथी और पाँचवीं गाथायें हैं।

[2] नमस्कार प्रणाम-वंदनमय है। (विशेषके लिये देखो पृष्ठ ४ का फुटनोट)

[3] विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधान=जिसमें विशुद्ध दर्शन और ज्ञान प्रधान है ऐसा। [साम्य नामक श्रामण्यमें विशुद्ध दर्शन [illegible] ज्ञान प्रधान है।]

तत्प्रतिपद्यताम् । यथानुभूतस्य तत्प्रतिपत्तिवर्त्मनः प्रणेतारो वयमिमे तिष्ठाम इति ॥२०१॥

अथ श्रमणो भवितुमिच्छन् पूर्वं किं किं करोतीत्युपदिशति —

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं ।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं ॥ २०२ ॥

आपृच्छ्य बन्धुवर्गं विमोचितो गुरुकलत्रपुत्रैः ।
आसाद्य ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारम् ॥ २०२ ॥

शिवकुमारमहाराजनामा प्रतिज्ञां करोतीति भणितम्, इदानीं तु महात्मना चारित्रं प्रतिपन्नमिति पूर्वापरविरोधः । परिहारमाह — ग्रन्थप्रारम्भात्पूर्वमेव दीक्षा गृहीता तिष्ठति, परं किंतु ग्रन्थकरणव्याजेन क्वाप्यात्मानं भावनापरिणतं दर्शयति, क्वापि शिवकुमारमहाराजं, क्वाप्यन्यं भव्यजीवं वा । तेन कारणेनात्र ग्रन्थे पुरुषनियमो नास्ति, कालनियमो नास्तीत्यभिप्रायः ॥ २०१ ॥ अथ श्रमणो भवितुमिच्छन्पूर्वं क्षमितव्यं करोति — 'उवट्ठिदो होदि सो समणो' इत्यग्रे षष्ठगाथायां यद्व्याख्यानं तिष्ठति तन्मनसि धृत्वा पूर्वं किं कृत्वा श्रमणो भविष्यतीति व्याख्याति — आपिच्छ आपृच्छ्य पृष्ट्वा । कम् । बंधुवग्गं बन्धुवर्गं गोत्रम् । ततः कथंभूतो भवति । विमोचिदो विमोचितस्त्यक्तो भवति । कैः कर्तृभूतैः । गुरुकलत्तपुत्तेहिं पितृमातृकलत्रपुत्रैः । पुनरपि किं कृत्वा श्रमणो भविष्यति । आसिज्ज आसाद्य आश्रित्य । कम् । णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारमिति । अथ विस्तरः — अहो बन्धुवर्गपितृमातृकलत्रपुत्राः, अयं मदीयात्मा सांप्रतमुद्भिन्नपरमविवेकज्योतिस्सन् स्वकीयचिदानन्दैकस्वभावं परमात्मानमेव निश्चयनयेनानादिबन्धुवर्गं पितरं मातरं कलत्रं पुत्रं चाश्रयति, तेन कारणेन मां मुञ्चत यूयमिति क्षमितव्यं करोति । ततश्च किं करोति । परमचैतन्यमात्र-

---

उसे — स्वयं अंगीकार किया, उसीप्रकार दूसरोंका आत्मा भी, यदि दुःखोंसे मुक्त होनेका अर्थी (इच्छुक) हो तो, उसे अंगीकार करे । उस (श्रामण्य) को अंगीकार करनेका जो [1]यथानुभूत मार्ग है उसके प्रणेता हम यह खड़े हैं ॥ २०१ ॥

अब, श्रमण होनेका इच्छुक पहले क्या-क्या करता है उसका उपदेश करते हैं :—

गाथा २०२

अन्वयार्थ :— (श्रामण्यार्थी) [बन्धुवर्गम् आपृच्छ्य] बन्धुवर्गसे विदा मांगकर [गुरुकलत्रपुत्रैः विमोचितः] बड़ोंसे, स्त्री और पुत्रसे मुक्त किया हुआ [ज्ञानदर्शन-

[1] यथानुभूत = जैसा (हमने) अनुभव किया है वैसा ।

बंधुजनोनी विदाय लई, स्त्री-पुत्र-वडीलोथी छूटी ।
दृग-ज्ञान-तप-चारित्र-वीर्याचार अंगीकृत करी ॥ २०२ ॥

यो हि नाम श्रमणो भवितुमिच्छति स पूर्वमेव बन्धुवर्गमापृच्छते, गुरुकलत्रपुत्रेभ्य आत्मानं विमोचयति, ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारमासीदति । तथाहि – एवं बन्धुवर्गमापृच्छते, अहो इदंजनशरीरबन्धुवर्गवर्तिन आत्मानः, अस्य जनस्य आत्मा न किंचनापि युष्माकं भवतीति निश्चयेन यूयं जानीत; तत आपृष्टा यूयं; अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादिबन्धुमुपसर्पति । अहो इदंजनशरीरजनकस्यात्मन्, अहो इदंजनशरीरजनन्या आत्मन्, अस्य जनस्यात्मा न युवाभ्यां जनितो भवतीति निश्चयेन

निजात्मतत्त्वसर्वप्रकारोपादेयरुचिपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिसमस्तपरद्रव्येच्छानिवृत्तिलक्षणतपश्चरण-स्वशक्त्यनवगूहनवीर्याचाररूपं निश्चयपञ्चाचारमाचारादिचरणग्रन्थकथिततत्साधकव्यवहारपञ्चाचारं चाश्रयतीत्यर्थः । अत्र यद्गोत्रादिभिः सह क्षमितव्यव्याख्यानं कृतं तदत्रातिप्रसंगनिषेधार्थम् । तत्र

चारित्रतपोवीर्याचारम् आसाद्य] ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचारको अंगीकार करके…………

टीका :– जो श्रमण होना चाहता है, वह पहले ही बंधुवर्गसे (सगेसंबंधियोंसे) विदा माँगता है, गुरुजनों (बड़ों) से, स्त्री और पुत्रोंसे अपनेको छुड़ाता है, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचारको अंगीकार करता है । वह इस-प्रकार है :–

बंधुवर्गसे इसप्रकार विदा लेता है :– अहो ! इस पुरुषके शरीरके बंधुवर्गमें प्रवर्तमान आत्माओ ! इस पुरुषका आत्मा किंचित्‌मात्र भी तुम्हारा नहीं है, – इसप्रकार तुम निश्चयसे जानो । इसलिये मैं तुमसे विदा लेता हूँ । जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज अपने आत्मारूपी अपने अनादिबंधुके पास जारहा है ।

अहो ! इस पुरुषके शरीरके जनक (पिता) के आत्मा ! अहो ! इस पुरुषके शरीरकी जननी (माता) के आत्मा ! इस पुरुषका आत्मा तुम्हारे द्वारा जनित (उत्पन्न) नहीं है, ऐसा तुम निश्चयसे जानो । इसलिये तुम इस आत्माको छोड़ो । जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज आत्मारूपी अपने अनादिजनकके पास जारहा है । अहो ! इस पुरुषके शरीरकी रमणी (स्त्री) के आत्मा ! तू इस पुरुषके आत्माको रमण नहीं कराता, ऐसा तू निश्चयसे जान । इसलिये तू इस आत्माको छोड़ । जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज अपनी स्वानुभूतिरूपी अनादि-रमणीके पास जारहा है । अहो ! इस पुरुषके शरीरके पुत्र आत्मा ! तू इस पुरुषके आत्माका जन्य (उत्पन्न किया गया – पुत्र) नहीं है, ऐसा तू निश्चयसे जान । इसलिये तू इस

युवां जानीतं; तत इममात्मानं युवां विमुञ्चतं; अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादिजनकमुपसर्पति । अहो इदंजनशरीररमण्या आत्मन्, अस्य जनस्यात्मानं न त्वं रमयसीति निश्चयेन त्वं जानीहि; तत इममात्मानं विमुञ्च; अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः स्वानुभूतिमेवात्मनोऽनादिरमणीमुपसर्पति । अहो इदंजनशरीरपुत्रस्यात्मन्, अस्य जनस्यात्मनो न त्वं जन्यो भवसीति निश्चयेन त्वं जानीहि; तत इममात्मानं विमुञ्च; अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादिजन्यमुपसर्पति । एवं गुरुकलत्रपुत्रेभ्य आत्मानं विमोचयति । तथा अहो कालविनयोपधानबहुमानानिह्नवार्थव्यञ्जनतदुभयसंपन्नत्वलक्षणज्ञानाचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे । अहो

नियमो नास्ति । कथमिति चेत् । पूर्वकाले प्रचुरेण भरतसगररामपाण्डवादयो राजान एव जिनदीक्षां गृह्णन्ति, तत्परिवारमध्ये यदा कोऽपि मिथ्यादृष्टिर्भवति तदा धर्मस्योपसर्गं करोतीति । यदि पुनः कोऽपि मन्यते गोत्रसम्मतं कृत्वा पश्चात्तपश्चरणं करोमि तस्य प्रचुरेण तपश्चरणमेव नास्ति, कथमपि

आत्माको छोड़ । जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज आत्मारूपी अपने अनादि जन्यके पास जारहा है । —इसप्रकार बड़ोंसे, स्त्रीसे और पुत्रसे अपनेको छुड़ाता है ।

(यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि जो जीव मुनि होना चाहता है वह कुटुम्बसे सर्वप्रकारसे विरक्त ही होता है । इसलिये कुटुम्बकी सम्मतिसे ही मुनि होनेका नियम नहीं है । इसप्रकार कुटुम्बके भरोसे रहने पर तो, यदि कुटुम्ब किसीप्रकारसे सम्मति ही नहीं दे तो मुनि ही नहीं हुआ जासकेगा । इसप्रकार कुटुम्बको सम्मत करके ही मुनित्वके धारण करनेका नियम न होने पर भी, कुछ जीवोंके मुनि होनेसे पूर्व वैराग्यके कारण कुटुम्बको समझानेकी भावनासे पूर्वोक्त प्रकारसे वचन निकलते हैं । ऐसे वैराग्यके वचन सुनकर, कुटुम्बमें यदि कोई अल्पसंसारी जीव हो तो वह भी वैराग्यको प्राप्त होता है ।)

(अब निम्न प्रकारसे पंचाचारको अंगीकार करता है ।)

(जिसप्रकार बंधुवर्गसे विदा ली, अपनेको बड़ोंसे, स्त्री और पुत्रसे छुड़ाया, उसीप्रकार — अहो काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, अर्थ, व्यंजन और तदुभयसंपन्न ज्ञानाचार ! मैं यह निश्चयसे जानता हूँ कि तू शुद्धात्माका नहीं है; तथापि मैं तुझे तब तक अंगीकार करता हूँ जबतक कि तेरे प्रसादसे शुद्धात्माको उपलब्ध

ततो हि श्रामण्यार्थी प्रणतोऽनुगृहीतश्च भवति । तथाहि — आचरिताचरितसमस्त-विरतिप्रवृत्तिसमानात्मरूपश्रामण्यत्वात् श्रमणं, एवंविधश्रामण्याचरणाचारणप्रवीणत्वात् गुणाढ्यं, सकललौकिकजननिःशङ्कसेवनीयत्वात् कुलक्रमागतक्रौर्यादिदोषवर्जितत्वाच्च कुलविशिष्टं, अन्तरङ्गशुद्धरूपानुमापकबहिरङ्गशुद्धरूपत्वात् रूपविशिष्टं, शैशववार्धक्यकृत-

कुलरूपवयोभिर्विशिष्टत्वात् कुलरूपवयोविशिष्टम् । इट्ठदरं समणेहिं अतिशयेन इष्टम् । कैः । श्रमणैः निज-परमात्मतत्त्वभावनासहितसमचित्तश्रमणैरन्याचार्यैः । गणिं एवंविधगुणविशिष्टं परमात्मभावना-साधकदीक्षादायकमाचार्यम् । तं पि पणदो न केवलं तमाचार्यमाश्रितो भवति, प्रणतोऽपि भवति । केन रूपेण । पडिच्छ मं हे भगवन्, अनन्तज्ञानादिजिनगुणसम्पत्तिकारणभूताया अनादिकालेऽत्यन्तदुर्लभाया भावसहितजिनदीक्षायाः प्रदानेन प्रसादेन मां प्रतीच्छ स्वीकुरु । चेदि अणुगहिदो न केवलं प्रणतो

गाथा २०३

अन्वयार्थ :– [श्रमणं] जो श्रमण है, [गुणाढ्यं] गुणाढ्य है, [कुलरूपवयो विशिष्टं] कुल, रूप तथा वयसे विशिष्ट है, और [श्रमणैः इष्टतरं] श्रमणोंको अति इष्ट है [तम् अपि गणिनं] ऐसे गणीको [माम् प्रतीच्छ इति] 'मुझे स्वीकार करो' ऐसा कहकर [प्रणतः] प्रणत होता है (प्रणाम करता है) [च] और [अनुगृहीतः] अनुगृहीत होता है ।

टीका :– पश्चात् श्रामण्यार्थी प्रणत और अनुगृहीत होता है । वह इसप्रकार है कि – आचरण करनेमें और आचरण करानेमें आनेवाली समस्त विरतिकी प्रवृत्तिके [1]समान आत्मरूप – ऐसे श्रामण्यपनेके कारण जो 'श्रमण' है; ऐसे श्रामण्यका आचरण करनेमें और आचरण करानेमें प्रवीण होनेसे जो 'गुणाढ्य' है; सर्व लौकिक जनोंके द्वारा निःशंकतया सेवा करने योग्य होनेसे और कुलक्रमागत (कुलक्रमसे उतर आनेवाले) क्रूरतादि दोषोंसे रहित होनेसे जो 'कुलविशिष्ट है; अंतरंग शुद्धरूपका अनुमान करानेवाला बहिरंग शुद्धरूप होनेसे जो 'रूपविशिष्ट' है, बालकत्व और वृद्धत्वसे होनेवाली [2]बुद्धिविक्लवताका अभाव होनेसे तथा [3]यौवनोद्रेककी विक्रियासे रहित बुद्धि होनेसे जो 'वयविशिष्ट' है; और यथोक्त श्रामण्यका आचरण करने तथा आचरण कराने सम्बन्धी [4]पौरुषेय दोषोंको

[1] समान=तुल्य, बराबर, एकसा, मिलता हुआ । [विरतिकी प्रवृत्तिके तुल्य आत्माका रूप अर्थात् विरतिकी प्रवृत्तिसे मिलती हुई – समान आत्मदशा सो श्रामण्य है ।]

[2] विक्लवता=अस्थिरता; विकलता ।

[3] यौवनोद्रेक=यौवनका जोश, यौवनकी अतिशयता ।

[4] पौरुषेय=मनुष्यके लिये संभवित ।

बुद्धिविक्लवत्वाभावाद्यौवनोद्रेकविक्रियाविविक्तबुद्धित्वाच्च वयोविशिष्टं, निःशेषितयथोक्त-श्रामण्याचरणाचारणविषयपौरुषेयदोषत्वेन मुमुक्षुभिरभ्युपगततरत्वात् श्रमणैरिष्टतरं च गणिनं शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसाधकमाचार्यं शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसिद्धया मामनुगृहाणेत्युपसर्पन् प्रणतो भवति । एवमियं ते शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसिद्धिरिति तेन प्रार्थितार्थेन संयुज्यमानोऽनुगृहीतो भवति ॥२०३॥

अथातोऽपि कीदृशो भवतीत्युपदिशति –

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि ।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूवधरो ॥ २०४ ॥

नाहं भवामि परेषां न मे परे नास्ति ममेह किंचित् ।
इति निश्चितो जितेन्द्रियः जातो यथाजातरूपधरः ॥ २०४ ॥

भवति, तेनाचार्येणानुगृहीतः स्वीकृतश्च भवति । हे भव्य, निस्सारसंसारे दुर्लभबोधिं प्राप्य निजशुद्धात्मभावनारूपया निश्चयचतुर्विधाराधनया मनुष्यजन्म सफलं कुर्वित्यनेन प्रकारेणानुगृहीतो भवतीत्यर्थः ॥२०३॥ अथ गुरुणा स्वीकृतः सन् कीदृशो भवतीत्युपदिशति – णाहं होमि परेसिं नाहं

निःशेषतया नष्ट कर देनेसे मुमुक्षुओंके द्वारा (प्रायश्चित्तादिके लिये) जिनका बहुआश्रय लिया जाता है इसलिये जो 'श्रमणोंको अतिइष्ट' है, ऐसे गणीके निकट – शुद्धात्मतत्त्वकी उपलब्धिके साधक आचार्यके निकट – 'शुद्धात्मतत्त्वकी उपलब्धिरूप सिद्धिसे मुझे अनुगृहीत करो' ऐसा कहकर (श्रामण्यार्थी) जाता हुआ प्रणत होता है । 'इसप्रकार यह तुझे शुद्धात्मतत्त्वकी उपलब्धिरूप सिद्धि' ऐसा (कहकर) उस गणीके द्वारा (वह श्रामण्यार्थी) [1]प्रार्थित अर्थसे संयुक्त किया जाता हुआ अनुगृहीत होता है ॥२०३॥

पश्चात् वह कैसा होता है, सो उपदेश करते हैं :-

गाथा २०४

अन्वयार्थ :- [अहं] मैं [परेषां] दूसरोंका [न भवामि] नहीं हूँ [परे मे न] पर मेरे नहीं हैं, [इह] इस लोकमें [मम] मेरा [किंचित्] कुछ भी [न अस्ति] नहीं है – [इति निश्चितः] ऐसा निश्चयवान् और [जितेन्द्रियः] जितेन्द्रिय होता हुआ [यथाजातरूपधरः] यथाजातरूपधर (सहजरूपधारी) [जातः] होता है ।

[1] प्रार्थित अर्थात् प्रार्थना करके मांगी गई वस्तु ।

परनो न हुं, पर छे न मुज, मारुं नथी कंई पण जगे;
–ए रीत निश्चित ने जितेंद्रिय साहजिकरूपधर बने ॥ २०४ ॥

आत्मनो हि तावदात्मना यथोदितक्रमेण यथाजातरूपधरस्य जातस्यायथाजातरूपधरत्वप्रत्ययानां मोहरागद्वेषादिभावानां भवत्येवाभावः, तदभावात्तु तद्भावभाविनो निवसनभूषणधारणस्य मूर्धजव्यञ्जनपालनस्य सकिंचनत्वस्य सावद्ययोगयुक्तत्वस्य शरीरसंस्कारकरणत्वस्य चाभावाद्यथाजातरूपत्वमुत्पाटितकेशश्मश्रुत्वं शुद्धत्वं हिंसादिरहितत्वमप्रतिकर्मत्वं च भवत्येव, तदेतद्बहिरंगं लिंगम् । तथात्मनो यथाजातरूपधरत्वापसारिता-

---

ज्योतिर्विलक्षणा बाह्यद्रव्ये ममत्वबुद्धिर्मूर्च्छा भण्यते, मनोवाक्कायव्यापाररहितचिच्चमत्कारप्रतिपक्षभूत आरम्भो व्यापारस्ताभ्यां मूर्च्छारम्भाभ्यां विमुक्तं मूर्च्छारम्भविमुक्तम् । जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं निर्विकारस्वसंवेदनलक्षण उपयोगः, निर्विकल्पसमाधिर्योगः, तयोरुपयोगयोगयोः शुद्धिरुपयोगयोगशुद्धिस्तया युक्तम् । ण परावेक्खं निर्मलानुभूतिपरिणतेः परस्य परद्रव्यस्यापेक्षया रहितं,न परापेक्षम् ।

टीका :– प्रथम तो अपनेसे, यथोक्तक्रमसे [1]यथाजातरूपधर हुए आत्माके [2]अयथाजातरूपधरपनेके कारणभूत मोहरागद्वेषादिभावोंका अभाव होता ही है; और उनके अभावके कारण, जो कि उनके सद्भावमें होते हैं ऐसे (१) वस्त्राभूषणका धारण, (२) सिर और डाढ़ी-मूछोंके बालोंका रक्षण, (३) [3]सकिंचनत्व, (४) सावद्ययोगसे युक्तता तथा (५) शारीरिक संस्कारका करना, इन (पाँचों) का अभाव होता है; जिससे (उस आत्माके) (१) जन्मसमयके रूप जैसा रूप, (२) सिर और डाढ़ी-मूछके बालोंका लोंच, (३) शुद्धत्व, (४) हिंसादिरहितता तथा (५) अप्रतिकर्मत्व (शारीरिक शृंगार-संस्कारका अभाव) होता ही है । इसलिये यह बहिरंग लिंग है ।

और फिर, आत्माके यथाजातरूपधरपने से दूर किया गया जो अयथाजातरूपधरपना, उसके कारणभूत मोहरागद्वेषादिभावोंका अभाव होनेसे ही जो उनके सद्भावमें होते हैं ऐसे जो (१) ममत्वके और [4]कर्मप्रक्रमके परिणाम, (२) शुभाशुभ उपरक्त उपयोग और [5]तत्पूर्वक तथाविध योगकी अशुद्धिसे युक्तता तथा (३) परद्रव्यसे सापेक्षता; इस (तीनों) का अभाव होता है; इसलिये (उस आत्माके) (१) मूर्छा और आरम्भसे रहितता, (२) उपयोग और योगकी शुद्धिसे युक्तता तथा (३) परकी अपेक्षासे रहितता होती ही है । इसलिये यह अंतरंग लिंग है ।।२०५ – २०६।।

---

[1] यथाजातरूपधर=(आत्माका) सहजरूप धारण करनेवाला ।

[2] अयथाजातरूपधर=(आत्माका) असहजरूप धारण करनेवाला ।

[3] सकिंचन=जिसके पास कुछ भी (परिग्रह) हो ऐसा ।

[4] कर्मप्रक्रम=कामको अपने ऊपर लेना; काममें युक्त होना, कामकी व्यवस्था ।

[5] तत्पूर्वक=उपरक्त (मलिन) उपयोगपूर्वक ।

यथाजातरूपधरत्वप्रत्ययमोहरागद्वेषादिभावानामभावादेव तद्भावभाविनो ममत्वकर्मप्रक्रमपरिणामस्य शुभाशुभोपरक्तोपयोगतत्पूर्वकतथाविधयोगाशुद्धियुक्तत्वस्य परद्रव्यसापेक्षत्वस्य चाभावान्मूर्च्छारम्भवियुक्तत्वमुपयोगयोगशुद्धियुक्तत्वमपरापेक्षत्वं च भवत्येव, तदेतदन्तरंगं लिंगम् ॥ २०५ । २०६ ॥

अथैतदुभयलिंगमादायैतदेतत्कृत्वा च श्रमणो भवतीति भवतिक्रियायां बन्धुवर्गप्रच्छनक्रियादिशेषसकलक्रियाणां चैककर्तृकत्वमुद्योतयन्नियता श्रामण्यप्रतिपत्तिर्भवतीत्युपदिशति —

आदाय तं पि लिंगं गुरुणा परमेण तं णमंसित्ता ।
सोच्चा सवदं किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो ॥ २०७ ॥

आदाय तदपि लिंगं गुरुणा परमेण तं नमस्कृत्य ।
श्रुत्वा सव्रतां क्रियामुपस्थितो भवति स श्रमणः ॥ २०७ ॥

अपुणब्भवकारणं पुनर्भवविनाशकशुद्धात्मपरिणामाविपरीतापुनर्भवस्य मोक्षस्य कारणमपुनर्भवकारणम् । जेण्हं जिनस्य संबन्धीदं जिनेन प्रोक्तं वा जैनम् । एवं पञ्चविशेषणविशिष्टं भवति । किम् । लिंगं भावलिङ्गमिति । इति द्रव्यलिङ्गभावलिङ्गस्वरूपं ज्ञातव्यम् ॥ २०५ । २०६ ॥ अथैतल्लिङ्गद्वयमादाय पूर्वं भाविनैगमनयेन यदुक्तं पञ्चाचारस्वरूपं तदिदानीं स्वीकृत्य [illegible] स्वस्थो भूत्वा श्रमणो भवतीत्याख्याति — आदाय तं पि लिंगं आदाय गृहीत्वा [illegible] लिङ्गद्वयमपि । कथंभूतम् । दत्तमिति क्रियाध्याहारः । केन दत्तम् । गुरुणा परमेण [illegible]-

अब (श्रामण्यार्थी) इन दोनों लिंगोंको ग्रहण करके और इतना-इतना करके श्रमण होता है — इसप्रकार *भवतिक्रियामें, बंधुवर्गसे विदा लेनेरूप क्रियासे लेकर समस्त क्रियाओंका एक कर्ता दिखलाते हुए, इतनेसे (अर्थात् इतना करनेसे) श्रामण्यकी प्राप्ति होती है, ऐसा उपदेश करते हैं :—

गाथा २०७

अन्वयार्थ :— [परमेण गुरुणा] परम गुरुके द्वारा प्रदत्त [तदपि लिंगम्] उन दोनों लिंगोंको [आदाय] ग्रहण करके, [तं नमस्कृत्य] उन्हें नमस्कार करके [सव्रतां क्रियां]

* भवतिक्रिया = होनेरूप क्रिया ।

यहीं परमगुरु-दो देत लिंग, नमस्कार करी तेमने ;
व्रत ने क्रिया सुणी, थई उपस्थित, थाय छे मुनिराज ए ॥ २०७ ॥

ततोऽपि श्रमणो भवितुमिच्छन् लिङ्गद्वैतमादाय गुरुं नमस्यति, व्रतक्रिये शृणोति, अथोपतिष्ठते; उपस्थितश्च पर्याप्तश्रामण्यसामग्रीकः श्रमणो भवति। तथाहि – तत इदं यथाजातरूपधरत्वस्य गमकं बहिरंगमन्तरंगमपि लिंगं प्रथममेव गुरुणा परमेणार्हद्भट्टारकेण तदात्वे च दीक्षाचार्येण तदादानविधानप्रतिपादकत्वेन व्यवहारतो दीयमानत्वाद्दत्तमादानक्रियया संभाव्य तन्मयो भवति। ततो भाव्यभावकभावप्रवृत्तेतरेतरसंवलनप्रत्यस्त-

रूपेणार्हद्भट्टारकेण, दीक्षाकाले तु दीक्षागुरुणा। लिङ्गग्रहणानन्तरं तं पणमित्ता तं गुरुं नमस्कृत्य, सोच्चा तदनन्तरं श्रुत्वा। काम्। किरियं क्रियां बृहत्प्रतिक्रमणाम्। किंविशिष्टाम्। सवदं सव्रतां व्रतारोपणसहिताम्। उवट्ठिदो ततश्चोपस्थितः स्वस्थः सन् होदि सो समणो स पूर्वोक्तस्तपोधन इदानीं श्रमणो भवतीति। इतो विस्तरः– पूर्वोक्तलिङ्गद्वयग्रहणानन्तरं पूर्वसूत्रोक्तपञ्चाचारमाश्रयति,

श्रुत्वा] व्रत सहित क्रियाको सुनकर [उपस्थितः] उपस्थित (आत्माके समीप स्थित) होता हुआ [सः] वह [श्रमणः भवति] श्रमण होता है।

टीका :– तत्पश्चात् श्रमण होनेका इच्छुक दोनों लिंगोंको ग्रहण करता है, गुरुको नमस्कार करता है, व्रत तथा क्रियाको सुनता है और उपस्थित होता है; उपस्थित होता हुआ श्रामण्यकी सामग्री पर्याप्त (परिपूर्ण) होनेसे श्रमण होता है। वह इसप्रकार –

परम गुरु – प्रथम ही अर्हंतभट्टारक और उस समय (दीक्षाकालमें) दीक्षाचार्य – इस यथाजातरूपधरत्वके सूचक बहिरंग तथा अंतरंग लिगके ग्रहणकी-विधिके प्रतिपादक होनेसे, व्यवहारसे उस लिंगके देनेवाले हैं। इसप्रकार उनके द्वारा दिये गये उन लिंगोंको ग्रहण क्रियाके द्वारा संभावित-सम्मानित करके (श्रामण्यार्थी) तन्मय होता है। और फिर जिन्होंने सर्वस्व दियाहै ऐसे [1]मूल और उत्तर परमगुरुको, [2]भाव्यभावकताके कारण प्रवर्तित *इतरेतरमिलनके कारण जिसमेंसे स्व-परका विभाग अस्त होगया है ऐसी नमस्कार क्रियाके द्वारा संभावित करके-सम्मानित करके [3]भावस्तुति वन्दनामय होता है। पश्चात् सर्व सावद्ययोगके प्रत्याख्यानस्वरूप एक महाव्रतको सुननेरूप श्रुतज्ञानके द्वारा समयमें परिणमित होते हुए आत्माको जानता हुआ [4]सामायिकमें आरूढ़ होता है। पश्चात्

[1] मूल परमगुरु अर्हन्तदेव तथा उत्तरपरमगुरु दीक्षाचार्यके प्रति अत्यन्त आराध्यभावके कारण आराध्य परमगुरु और आराधक ऐसे निजका भेद अस्त होजाता है।

[2] भाव्य और भावकके अर्थके लिये देखो पृष्ठ ८ का पाद टिप्पण।

*इसका स्पष्टीकरण प्रथमकी ५ गाथाओंके टिप्पण पत्र में देखिये।

[3] भावस्तुतिवन्दनामय=भावस्तुतिमय और भाववन्दनामय।

[4] समयमें (आत्मद्रव्यमें, निजद्रव्यस्वभावमें) परिणमित होना सो सामायिक है।

मितस्वपरविभागत्वेन दत्तसर्वस्वमूलोत्तर परमगुरुनमस्क्रियया संभाव्य भावस्तववन्दनामयो भवति । ततः सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणैकमहाव्रतश्रवणात्मना श्रुतज्ञानेन समये भवन्तमात्मानं जानन् सामायिकमधिरोहति । ततः प्रतिक्रमणालोचनप्रत्याख्यानलक्षणक्रियाश्रवणात्मना श्रुतज्ञानेन त्रैकालिककर्मभ्यो विविच्यमानमात्मानं जानन्नतीतप्रत्युत्पन्नानुपस्थितकायवाङ्मनःकर्मविविक्तत्वमधिरोहति । ततः समस्तावद्यकर्मायतनं कायमुत्सृज्य यथाजातरूपं स्वरूपमेकमेकाग्रेणालम्ब्य व्यवतिष्ठमान उपस्थितो भवति उपस्थितस्तु सर्वत्र समदृष्टित्वात्साक्षाच्छ्रमणो भवति ॥ २०७ ॥

अथाविच्छिन्नसामायिकाधिरूढोऽपि श्रमणः कदाचिच्छेदोपस्थापनमर्हतीत्युपदिशति-

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च ॥२०८॥

ततश्चानन्तज्ञानादिगुणस्मरणरूपेण भावनमस्कारेण तथैव तद्गुणप्रतिपादक[illegible] च गुरुं नमस्करोति । ततः परं समस्तशुभाशुभपरिणामनिवृत्तिरूपं [illegible] परमसामायिकव्रतमारोहति स्वीकरोति । मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च [illegible] समस्तशुभाशुभकर्मभ्यो भिन्ना निजशुद्धात्मपरिणतिलक्षणा या तु क्रिया सा निश्चयेन [illegible] भण्यते । व्रतारोपणानन्तरं तां च शृणोति । ततो निर्विकल्प[illegible] भवति । ततश्चैवं परिपूर्णश्रमणसामग्र्यां सत्यां परिपूर्णश्रमणो भवतीत्यर्थः ॥ [illegible] दीक्षाभिमुखपुरुषस्य दीक्षाविधानकथनमुख्यत्वेन प्रथमस्थले [illegible] सामायिकसंयमे यदा च्युतो भवति तदा सविकल्पं छेदोपस्थापन[illegible]

[1]प्रतिक्रमण-आलोचना-प्रत्याख्यान-स्वरूप क्रियाओं [illegible] कर्मों से विविक्त (भिन्न) किये जानेवाले आत्माको जानता [illegible] मन-वचन-कायसंबंधी कर्मोंसे विविक्तता (भिन्नता) में आरूढ़ [illegible] सावद्य कर्मोंके [2]आयतनभूत कायका उत्सर्ग (उपेक्षा) करके [illegible] रूपको एकाग्रतया अवलम्बित करके रहता हुआ, [illegible] होता हुआ, सर्वत्र समदृष्टिपनेके कारण साक्षात् श्रमण होता है [illegible]

अविच्छिन्न सामायिकमें आरूढ़ हुआ होने पर भी [illegible] योग्य है, ऐसा अब उपदेश करते हैं :—

[1] [illegible]
[2] [illegible]

एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिंपण्णत्ता ।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ।।२०९।। [जुग्मं]

व्रतसमितीन्द्रियरोधो लोचावश्यकमचेलमस्नानम् ।
क्षितिशयनमदन्तधावनं स्थितिभोजनमेकभक्तं च ।। २०८ ।।
एते खलु मूलगुणाः श्रमणानां जिनवरैः प्रज्ञप्ताः ।
तेषु प्रमत्तः श्रमणः छेदोपस्थापको भवति ।। २०९ ।। [युग्मम्]

वदसमिदिंदियरोधो व्रतानि च समितयश्चेन्द्रियरोधश्च व्रतसमितीन्द्रियरोधः । **लोचावस्सयं** लोचश्चावश्यकानि च लोचावश्यकं, "समाहारस्यैकवचनम्" । **अचेलमण्हाणं खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च** अचेलकास्नानक्षितिशयनादन्तधावनस्थितिभोजनैकभक्तानि । **एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता** एते खलु स्फुटं अष्टाविंशतिमूलगुणाः श्रमणानां जिनवरैः प्रज्ञप्ताः । **तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि** तेषु मूलगुणेषु यदा प्रमत्तः च्युतो भवति । सः कः । श्रमणस्तपोधनस्तदाकाले छेदोपस्थापको भवति । छेदे व्रतखण्डने सति पुनरप्युपस्थापकश्छेदोपस्थापक इति । तथाहि – निश्चयेन

गाथा २०८-२०९

अन्वयार्थ :– [**व्रतसमितीन्द्रियरोधः**] व्रत, समिति, इन्द्रियरोध, [**लोचावश्यकम्**] लोच, आवश्यक, [**अचेलम्**] अचेलपना, [**अस्नानं**] अस्नान, [**क्षितिशयनम्**] भूमिशयन, [**अदंतधावनं**] अदंतधावन, [**स्थितिभोजनम्**] खड़े-खड़े भोजन, [**च**] और [**एकभक्तं**] एकवार आहार – [**एते**] ये [**खलु**] वास्तवमें [**श्रमणानां मूलगुणाः**] श्रमणोंके मूलगुण [**जिनवरैः प्रज्ञप्ताः**] जिनवरोंने कहे हैं; [**तेषु**] उनमें [**प्रमत्तः**] प्रमत्त होता हुआ [**श्रमणः**] श्रमण [**छेदोपस्थापकः भवति**] छेदोपस्थापक होता है ।

टीका :– सर्व सावद्ययोगके प्रत्याख्यानस्वरूप एक महाव्रतकी व्यक्तियाँ (विशेष, प्रगटताएँ) होनेसे हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहकी विरतिस्वरूप पांच प्रकारके व्रत तथा उसकी [1]परिकरभूत पाँच प्रकारकी समिति, पांच प्रकारका इन्द्रिय-

---

[1] परिकर=अनुसरण करनेवाला समुदाय; अनुचरसमूह; [समिति, इन्द्रियरोध, इत्यादि गुण पांच व्रतोंके पीछे पीछे होते ही है, इसलिये समिति इत्यादि गुण पांच व्रतोंका परिकर अर्थात् अनुचर समूह है] ।

व्रत, समिति, लुंचन, आवश्यक, अणचेल, इन्द्रियरोधनं, ।
नहि स्नान-दातण, एक भोजन, भूशयन, स्थितिभोजनं ।। २०८ ।।
–आ मूलगुण श्रमणो तणा जिनदेवथी प्रज्ञप्त छे ।
तेमां प्रमत्त थतां श्रमण छेदोपस्थापक थाय छे ।। २०९ ।।

सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणैकमहाव्रतव्यक्तिवशेन हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहविरत्यात्मकं पञ्चतयं व्रतं, तत्परिकरश्च पञ्चतयी समितिः पञ्चतय इन्द्रियरोधो लोचः षट्तयमावश्यकमचेलक्यमस्नानं क्षितिशयनमदन्तधावनं स्थितिभोजनमेकभक्तश्चैवं एते निर्विकल्पसामायिकसंयमविकल्पत्वात् श्रमणानां मूलगुणा एव। तेषु यदा निर्विकल्पसामायिकसंयमाधिरूढत्वेनानभ्यस्तविकल्पत्वात्प्रमाद्यति तदा केवलकल्याणमात्रार्थिनः कुण्डलवलयांगुलीयादिपरिग्रहः किल श्रेयान्, न पुनः सर्वथा कल्याणलाभ एवेति संप्रधार्य विकल्पेनात्मानमुपस्थापयन् छेदोपस्थापको भवति ॥ २०८ । २०९ ॥

अथास्य प्रव्रज्यादायक इव छेदोपस्थापकः परोऽप्यस्तीत्याचार्यविकल्पप्रज्ञापनद्वारेणोपदिशति –

मूलमात्मा, तस्य केवलज्ञानाद्यनन्तगुणा मूलगुणास्ते च निर्विकल्पसमाधिरूपेण परमसामायिकाभिधानेन निश्चयैकव्रतेन मोक्षबीजभूतेन मोक्षे जाते सति सर्वे प्रकटा भवन्ति। तेन कारणेन तदेव सामायिकं मूलगुणव्यक्तिकारणत्वात् निश्चयमूलगुणो भवति। यदा पुनर्निर्विकल्पसमाधौ समर्थो न भवत्ययं जीवस्तदा यथा कोऽपि सुवर्णार्थी पुरुषः सुवर्णमलभमानस्तत्पर्यायानपि कुण्डलादीन् गृह्णाति, न च सर्वथा त्यागं करोति; तथायं जीवोऽपि निश्चयमूलगुणाभिधानपरमसमाध्यभावे छेदोपस्थापनं चारित्रं गृह्णाति। छेदे सत्युपस्थापनं छेदोपस्थापनम्। अथवा छेदेन व्रतभेदेनोपस्थापनं छेदोपस्थापनम्। तच्च संक्षेपेण पञ्चमहाव्रतरूपं भवति। तेषां व्रतानां च रक्षणार्थं पञ्चसमित्यादिभेदेन पुनरष्टाविंशतिमूलगुणभेदा भवन्ति। तेषां च मूलगुणानां रक्षणार्थं द्वाविंशतिपरीषहजयद्वादशविधतपश्चरणभेदेन चतुस्त्रिंशदुत्तरगुणा भवन्ति। तेषां च रक्षणार्थं देवमनुष्यतिर्यगचेतनकृतचतुर्विधोपसर्गजयद्वादशानुप्रेक्षाभावनादयश्चेत्यभिप्रायः ॥ २०८ । २०९ ॥ [illegible]

अशुद्धोपयोगोऽन्तरंगच्छेदः परप्राणव्यपरोपो बहिरंगः। तत्र परप्राणव्यपरोपसद्भावे तदसद्भावे वा तदविनाभाविनाप्रयताचारेण प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगसद्भावस्य सुनिश्चितहिंसाभावप्रसिद्धेः, तथा तद्विनाभाविना प्रयताचारेण प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगासद्भावपरस्य परप्राणव्यपरोपसद्भावेऽपि बन्धाप्रसिद्ध्या सुनिश्चितहिंसाऽभावप्रसिद्धेश्चान्तरंग एव

हिंसारूपेण द्विविधच्छेदमाख्याति — मरदु व जियदु व जीवो, अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा म्रियतां वा जीवतु वा जीवः, प्रयत्नरहितस्य निश्चिता हिंसा भवति; बहिरंगान्यजीवस्य मरणेऽमरणे वा, निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणप्रयत्नरहितस्य निश्चयशुद्धचैतन्यप्राणव्यपरोपणरूपा निश्चयहिंसा भवति। **पयदस्स णत्थि बंधो** बाह्याभ्यन्तरप्रयत्नपरस्य नास्ति बन्धः। केन। **हिंसामेत्तेण** द्रव्यहिंसामात्रेण।

वैठने, खड़े होने, चलने इत्यादिमें अप्रयत आचरण होता है वहाँ नियमसे अशुद्धोपयोग तो होता ही है, इसलिये अप्रयत आचरण छेद ही है, हिंसा ही है ।। २१६ ।।

अव, छेदके अन्तरंग और बहिरंग ऐसे दो प्रकार बतलाते हैं :—

गाथा २१७

अन्वयार्थः— [**जीवः**] जीव [**म्रियतां वा जीवतु वा**] मरे या जिये, [**अयताचारस्य**] अप्रयत आचारवालेके [**हिंसा**] (अंतरंग) हिंसा [**निश्चिता**] निश्चित है; [**प्रयतस्य समितस्य**] [1]प्रयतके, [2]समितिवान्के [**हिंसामात्रेण**] (बहिरंग) हिंसामात्रसे [**बन्धः**] बंध [**नास्ति**] नहीं है ।

टीका :— अशुद्धोपयोग अंतरंग छेद है; परप्राणोंका व्यपरोप (विच्छेद) वह बहिरंगछेद है । इनमेंसे अन्तरंग छेद ही विशेष बलवान है, बहिरंग छेद नहीं; क्योंकि — परप्राणोंके व्यपरोपका सद्भाव हो या असद्भाव, जो अशुद्धोपयोगके विना नहीं होता ऐसे [3]अप्रयत आचारसे प्रसिद्ध होनेवाला (जाननेमें आनेवाला) अशुद्धोपयोगका सद्भाव

---

[1] प्रयत=प्रयत्नशील, सावधान, संयमी [प्रयत्नके अर्थके लिये देखो गाथा २११ का फुटनोट ।]

[2] शुद्धात्मस्वरूपमें (मुनित्वोचित) सम्यक् 'इति' अर्थात् परिणति वह निश्चय समिति है । और उस दशामें होनेवाली (हठ रहित) ईर्या-भाषादि संबन्धी शुभ परिणति वह व्यवहारसमिति है । [जहाँ शुद्धात्मस्वरूपमें सम्यक् परिणतिरूप दशा नहीं होती वहाँ शुभ परिणति हठ सहित होती है; वह शुभपरिणति व्यवहारसमिति भी नहीं है ।]

[3] अशुद्धोपयोगके विना अप्रयत आचार कभी नहीं होता, इसलिये जिसके अप्रयत आचार वर्तता है उसके अशुद्ध उपयोग अवश्यमेव होता है । इसप्रकार अप्रयत आचारके द्वारा अशुद्ध उपयोग प्रसिद्ध होता है—जाना जाता है ।

छेदो बलीयान् न पुनर्बहिरंगः । एवमप्यन्तरंगच्छेदायतनमात्रत्वाद्बहिरंगच्छेदोऽभ्युपगम्येतैव ॥ २१७ ॥

अथ सर्वथान्तरंगच्छेदः प्रतिषेध्य इत्युपदिशति –

कथंभूतस्य पुरुषस्य । समिदस्स समितस्य शुद्धात्मस्वरूपे सम्यगितो गतः परिणतः समितस्तस्य समितस्य, व्यवहारेणेर्यादिपञ्चसमितियुक्तस्य च । अयमत्रार्थः—स्वस्थभावनारूपनिश्चयप्राणस्य विनाशकारणभूता रागादिपरिणतिर्निश्चयहिंसा भण्यते, रागाद्युत्पत्तेर्बहिरङ्गनिमित्तभूतः परजीवघातो व्यवहारहिंसेति द्विधा हिंसा ज्ञातव्या । किन्तु विशेषः—बहिरङ्गहिंसा भवतु वा मा भवतु, स्वस्थभावनारूपनिश्चयप्राणघाते सति निश्चयहिंसा नियमेन भवतीति । ततः कारणात्सैव मुख्येति ॥ २१७ ॥ अथ तमेवार्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां दृढयति –

उच्चालियम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए ।
आबाधेज्ज कुलिंगं मरिज्ज तं जोगमासेज्ज ॥ *१५ ॥

जिसके पाया जाता है उसके हिंसाके सद्भावकी प्रसिद्धि सुनिश्चित है; और इसप्रकार जो अशुद्धोपयोगके बिना होता है ऐसे 'प्रयत आचारसे प्रसिद्ध होनेवाला अशुद्धोपयोगका असद्भाव जिसके पाया जाता है उसके, परप्राणोंके व्यपरोपके सद्भावमें भी बंधकी अप्रसिद्धि होनेसे, हिंसाके अभावकी प्रसिद्धि सुनिश्चित है । ऐसा होने पर भी (अर्थात् अंतरंग छेद ही विशेष बलवान है बहिरंग छेद नहीं, ऐसा होनेपर भी) बहिरंग छेद अंतरंग छेदका आयतनमात्र है, इसलिये उसे (बहिरंग छेदको) स्वीकार तो करना ही चाहिये अर्थात् उसे मानना ही चाहिये ।

भावार्थ:— शुद्धोपयोगका हनन होना सो अन्तरंग हिंसा—अन्तरंग छेद है, और दूसरेके प्राणोंका विच्छेद होना बहिरंग हिंसा—बहिरंग छेद है ।

जीव मरे या न मरे, जिसके अप्रयत आचरण है उसके शुद्धोपयोगका हनन होनेसे अन्तरंग हिंसा होती ही है और इसलिये अन्तरंग छेद होता ही है । जिसके प्रयत आचरण है उसके, परप्राणोंके व्यपरोपरूप बहिरंग हिंसाके—बहिरंग छेदके—सद्भावमें भी, शुद्धोपयोगका हनन नहीं होनेसे अन्तरंग हिंसा नहीं होती और इसलिये अन्तरंग छेद नहीं होता ॥ २१७ ॥

अब, सर्वथा अन्तरंग छेद निषिद्ध—त्याज्य है ऐसा उपदेश करते हैं –

* [illegible]

अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो ।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो ।। २१८ ।।

अयताचारः श्रमणः षट्स्वपि कायेषु वधकर इति मतः ।
चरति यतं यदि नित्यं कमलमिव जले निरुपलेपः ।। २१८ ।।

ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो य देसिदो समये ।
मुच्छा परिग्गहो च्चिय अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो ।। *१६ ।। (जुम्मं)

उच्चालियम्हि पाए उत्क्षिप्ते चालिते सति पादे । कस्य । इरियासमिदस्स ईर्यासमितितपोधनस्य । क्व । णिग्गमत्थाए विवक्षितस्थानान्निर्गमस्थाने । आबाधेज्ज आबाध्येत पीड्येत । स कः । कुलिंगं सूक्ष्मजन्तुः । न केवलमाबाध्येत, मरिज्ज म्रियतां वा । किं कृत्वा । तं जोगमासेज्ज तं पूर्वोक्तं पादयोगं पादसंघट्टनमाश्रित्य प्राप्येति । ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो य देसिदो समये न हि तस्य तन्निमित्तो बन्धः सूक्ष्मोऽपि देशितः समये; तस्य तपोधनस्य तन्निमित्तो सूक्ष्मजन्तुघातनिमित्तो बन्धः सूक्ष्मोऽपि स्तोकोऽपि नैव दृष्टः समये परमागमे । दृष्टान्तमाह—मुच्छा परिग्गहो च्चिय मूर्च्छा परिग्रहश्चैव अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो अध्यात्मप्रमाणतो दृष्ट इति । अयमत्रार्थः—' मूर्च्छा परिग्रहः' इति सूत्रे यथाध्यात्मानुसारेण मूर्च्छारूपरागादिपरिणामानुसारेण परिग्रहो भवति, न च बहिरङ्गपरिग्रहानुसारेण; तथात्र सूक्ष्मजन्तुघातेऽपि यावतांशेन स्वस्थभावचलनरूपा रागादिपरिणति-

---

गाथा २१८

अन्वयार्थ :— [**अयताचारः श्रमणः**] अप्रयत आचारवाला श्रमण [**षट्सु अपि कायेषु**] छहों काय संबंधी [**वधकरः**] वधका करनेवाला [**इति मतः**] माननेमें—कहनेमें आया है; [**यदि**] यदि [**नित्यं**] सदा [**यतं चरति**] प्रयतरूपसे आचरण करे तो [**जले कमलम् इव**] जलमें कमल की भांति [**निरुपलेपः**] निर्लेप कहा गया है ।

टीका :— जो अशुद्धोपयोगके विना नहीं होता ऐसे अप्रयत आचारके द्वारा प्रसिद्ध (ज्ञात) होनेवाला अशुद्धोपयोगका सद्भाव हिंसक ही है, क्योंकि छहकायके प्राणोंके व्यपरोपके आश्रयसे होनेवाले बंधकी प्रसिद्धि है; और जो अशुद्धोपयोगके विना होता है ऐसे प्रयत आचारसे प्रसिद्ध होनेवाला अशुद्धोपयोगका असद्भाव अहिंसक ही है, क्योंकि परके आश्रयसे होनेवाले लेशमात्र भी बंधका अभाव होनेसे जलमें झूलते हुए कमलकी भाँति निर्लेपताकी प्रसिद्धि है । इसलिये उन-उन सर्वप्रकारसे अशुद्धोपयोगरूप

मुनि यत्नहीन आचारवंत छ कायनो हिंसक कह्यो ।
जलकमलवत् निर्लेप भाख्यो, नित्य यत्नसहित जो ।। २१८ ।।

यतस्तदविनाभाविना अप्रयताचारत्वेन प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगसद्भावः षट्कायप्राणव्यपरोपप्रत्ययबन्धप्रसिद्ध्या हिंसक एव स्यात् । यतश्च तद्विनाभाविना प्रयताचारत्वेन प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगासद्भावः परप्रत्ययबन्धलेशस्याप्यभावाज्जलदुर्ललितं कमलमिव निरुपलेपत्वप्रसिद्धेरहिंसक एव स्यात् । ततस्तैस्तैः सर्वैः प्रकारैरशुद्धोपयोगरूपोऽन्तरङ्गच्छेदः प्रतिषेध्यो यैर्यैस्तदायतनमात्रभूतः परप्राणव्यपरोपरूपो बहिरङ्गच्छेदो दूरादेव प्रतिषिद्धः स्यात् ॥ २१८ ॥

अथैकान्तिकान्तरंगच्छेदत्वादुपधिस्तद्वत्प्रतिषेध्य इत्युपदिशति –

हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्ठम्हि ।
बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्वं ॥ २१९ ॥

भवति वा न भवति बन्धो मृते जीवेऽथ कायचेष्टायाम् ।
बन्धो ध्रुवमुपधेरिति श्रमणास्त्यक्तवन्तः सर्वम् ॥ २१९ ॥

लक्षण भावहिंसा तावन्मांशेन बन्धो भवति, न च पादसंघट्टनमात्रेण । [illegible] परिणतिलक्षणभावहिंसा नास्ति । ततः कारणाद्बन्धोऽपि नास्तीति ॥ *१५-१६ ॥ अथ निश्चयहिंसारूपोऽन्तरङ्गच्छेदः सर्वथा प्रतिषेध्य इत्युपदिशति – अपयत्ताचारो [illegible] रहितत्वेन अयत्नाचारः प्रयत्नरहितः । स कः । समणो [illegible] । छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो षट्स्वपि कायेषु वधकरो हिंसाकर इति मतः [illegible] । कथं । यथा भवति जदं चरं यत्नपरं, करोति यदि चेत्, [illegible] पत्रेवो कमलमिव जले निरुपलेप इति । [illegible] परिणतपुरुषः षड्जीवकुले लोके विचरन्नपि यद्यपि [illegible] नास्ति । ततः कारणान्निश्चयपरमात्मभावनाबलेन [illegible] ॥

अन्तरंग छेद निषेध्य — त्यागने योग्य है, [illegible] परप्राणव्यपरोपरूप बहिरंग छेद अत्यन्त निषिद्ध है ।

भावार्थ :— शास्त्रोंमें अप्रयत-आचारवाले अशुद्धोपयोगीको [illegible] है और प्रयत-आचारवाले शुद्धोपयोगीको अहिंसक कहा है । [illegible] प्रकारसे सब यतनकी हिंसाका निषेध किया गया है, इस-लिए [illegible] अशुद्धोपयोगका निषेध समझना चाहिये ॥ २१८ ॥

[illegible]
[illegible] ॥ २१९ ॥

यथा हि कायव्यापारपूर्वकस्य परप्राणव्यपरोपस्याशुद्धोपयोगसद्भावासद्भावाभ्यामनैकान्तिकबन्धत्वेन छेदत्वमनैकान्तिकमिष्टं, न खलु तथोपधेः, तस्य सर्वथा तदविनाभावित्वप्रसिद्ध्यदैकान्तिकाशुद्धोपयोगसद्भावस्यैकान्तिकबन्धत्वेन छेदत्वमैकान्तिकमेव। अत

अथ वहिरङ्गजीवघाते वन्धो भवति, न भवति वा, परिग्रहे सति नियमेन भवतीति प्रतिपादयति - हवदि व ण हवदि बंधो भवति वा न भवति वन्धः। कस्मिन्सति। मदम्हि जीवे मृते सत्यन्यजीवे। अध अहो। कस्यां सत्याम्। कायचेट्ठम्हि कायचेष्टायाम्। तर्हि कथं वन्धो भवति। बंधो धुवमुवधीदो वन्धो भवति ध्रुवं निश्चितम्। कस्मात्। उपधेः परिग्रहात्सकाशात्। इदि इति हेतोः समणा छड्डिया सव्वं श्रमणा महाश्रमणाः सर्वज्ञाः पूर्वं दीक्षाकाले शुद्धबुद्धैकस्वभावं निजात्मानमेव परिग्रहं कृत्वा, शेषं समस्तं वाह्याभ्यन्तरपरिग्रहं छर्दितवन्तस्त्यक्तवन्तः। एवं ज्ञात्वा शेषतपोधनैरपि निजपरमात्मपरिग्रह स्वीकारं कृत्वा, शेषः सर्वोऽपि परिग्रहो मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च त्यजनीय

अब, उपधि (परिग्रह) को ऐकान्तिक अन्तरंग-छेदत्व होनेसे उपधि अन्तरंग छेदकी भाँति त्याज्य है, ऐसा उपदेश करते हैं :–

गाथा २१९

अन्वयार्थ :– [**अथ**] अब (उपधिके संबंधमें ऐसा है कि), [**कायचेष्टायाम्**] कायचेष्टापूर्वक [**जीवे मृते**] जीवके मरने पर [**बन्धः**] बंध [**भवति**] होता है [**वा**] अथवा [**न भवति**] नहीं होता; [**उपधेः**] (किन्तु) उपधिसे-परिग्रहसे [**ध्रुवम् बंधः**] निश्चय ही बंध होता है; [**इति**] इसलिये [**श्रमणाः**] श्रमणों (अर्हन्तदेवों) ने [**सर्वं**] सर्व परिग्रहको [**त्यक्तवन्तः**] छोड़ा है।

टीका :– जैसे कायव्यापारपूर्वक परप्राणव्यपरोपको अशुद्धोपयोगके सद्भाव और असद्भावके द्वारा अनैकांतिक बंधरूप होनेसे उसे (कायव्यापारपूर्वक परप्राणव्यपरोपको) छेदपना [1]अनैकांतिक माना गया है, वैसा उपधि–परिग्रह का नहीं है। परिग्रह सर्वथा अशुद्धोपयोगके बिना नहीं होता, ऐसा जो परिग्रहका सर्वथा अशुद्धोपयोगके साथ अविनाभावित्व है उससे प्रसिद्ध होनेवाले [2]ऐकान्तिक अशुद्धोपयोगके सद्भावके कारण परिग्रह तो ऐकान्तिक बंधरूप है, इसलिये उसे (परिग्रहको) छेदपना ऐकान्तिक ही है। इसीलिये भगवन्त अर्हन्तोंने – परम श्रमणोंने – स्वयं ही पहले ही सर्व परिग्रहको छोड़ा है; और इसीलिये दूसरोंको भी, अन्तरंग छेदकी भाँति प्रथम ही सर्व परिग्रह छोड़ने योग्य है, क्योंकि वह (परिग्रह) अन्तरंग छेदके बिना नहीं होता।

---

[1] अनैकान्तिक=अनिश्चित; नियमरूप न हो; ऐकांतिक न हो।

[2] ऐकान्तिक=निश्चित; अवश्यंभावी; नियमरूप।

एव भगवन्तोऽर्हन्तः परमाः श्रमणाः स्वयमेव प्रागेव सर्वमेवोपधिं प्रतिषिद्धवन्तः । अत एव चापरैरप्यन्तरङ्गच्छेदवत्तदनान्तरीयकत्वात्प्रागेव सर्व एवोपधिः प्रतिषेध्यः ॥ २१९ ॥

*वक्तव्यमेव किल यत्तदशेषमुक्त-
मेतावतैव यदि चेतयतेऽत्र कोऽपि ।
व्यामोहजालमतिदुस्तरमेव नूनं
निश्चेतनस्य वचसामतिविस्तरेऽपि ॥ १४ ॥

इति । अयेदमुक्तं भवति — शुद्धचैतन्यलक्षणनिश्चयप्राणे रागादिपरिणामलक्षणनिश्चयहिंसया पातिते सति नियमेन बन्धो भवति । परजीवघाते पुनर्भवति वा न भवतीति नियमो नास्ति, परद्रव्ये ममत्वरूप-मूर्च्छापरिग्रहेण तु नियमेन भवत्येवेति ॥ २१९ ॥ एवं भावहिंसाव्याख्यानमुख्यत्वेन पञ्चमस्थले

भावार्थ :— अशुद्धोपयोगका असद्भाव हो, तथापि कायकी हलनचलनादि क्रिया होनेसे परजीवोंके प्राणोंका घात होजाता है। इसलिये कायचेष्टापूर्वक परप्राणोंके घातसे बंध होनेका नियम नहीं है; — अशुद्धोपयोगके सद्भावमें होनेवाले कायचेष्टापूर्वक परप्राणोंके घातसे तो बंध होता है, और अशुद्धोपयोगके असद्भावमें होनेवाले कायचेष्टापूर्वक परप्राणोंके घातसे बंध नहीं होता; इसप्रकार कायचेष्टापूर्वक होनेवाले परप्राणोंके घातसे बंधका होना अनैकान्तिक होनेसे उसके छेदत्व अनैकान्तिक है — नियमरूप नहीं है।

जैसे भावके बिना भी परप्राणोंका घात हो जाता है, उसीप्रकार भाव न हो तथापि परिग्रहका ग्रहण हो जाय, ऐसा कभी नहीं हो सकता। जहाँ परिग्रहका ग्रहण होता है वहाँ अशुद्धोपयोगका सद्भाव अवश्य होता ही है। इसलिये परिग्रहसे बंधका होना ऐकान्तिक-निश्चित-नियमरूप है। इसलिये परिग्रह [illegible] ऐसा होनेसे ही परम श्रमण ऐसे अर्हन्त भगवन्तोंने पहलेसे ही सर्व परिग्रहका त्याग किया है और अन्य श्रमणोंको भी पहलेसे ही सर्व परिग्रहका त्याग करना चाहिये। ॥ २१९ ॥

[अब, 'कहींसे [illegible] है' [illegible]]

[अर्थ] :— जो कहने योग्य ही था वह [illegible] कहा गया है, इतनेसे ही यदि यहाँ कोई चेत जाय — समझ ले तो, [illegible] तथापि निश्चेतन (जड़वत्, नासमझ) को व्यामोहका जाल वास्तवमें अति दुस्तर है।

---

*वसन्ततिलका छन्द

अथान्तरङ्गच्छेदप्रतिषेध एवायमुपधिप्रतिषेध इत्युपदिशति –

ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी ।
अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिदो ॥ २२० ॥

न हि निरपेक्षस्त्यागो न भवति भिक्षोराशयविशुद्धिः ।
अविशुद्धस्य च चित्ते कथं नु कर्मक्षयो विहितः ॥ २२० ॥

गाथाषट्कं गतम् । इति पूर्वोक्तक्रमेण 'एवं पणमिय सिद्धे' इत्याद्येकविंशतिगाथाभिः स्थलपञ्चकेनोत्सर्गचारित्रव्याख्याननामा प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्तः । अतः परं चारित्रस्य देशकालापेक्षयापहृतसंयमरूपेणापवादव्याख्यानार्थं पाठक्रमेण त्रिंशद्गाथाभिर्द्वितीयोऽन्तराधिकारः प्रारभ्यते । तत्र चत्वारि स्थलानि भवन्ति । तस्मिन्प्रथमस्थले निर्ग्रन्थमोक्षमार्गस्थापनामुख्यत्वेन 'ण हि णिरवेक्खो चागो' इत्यादि गाथापञ्चकम् । अत्र टीकायां गाथात्रयं नास्ति । तदनन्तरं सर्वसावद्यप्रत्याख्यानलक्षणसामायिकसंयमासमर्थानां यतीनां संयमशौचज्ञानोपकरणनिमित्तमपवादव्याख्यानमुख्यत्वेन 'छेदो जेण ण विज्जदि' इत्यादि सूत्रत्रयम् । तदनन्तरं स्त्रीनिर्वाणनिराकरणप्रधानत्वेन 'पेच्छदि ण हि इह लोगं' इत्याद्येकादश गाथा भवन्ति । **ताश्चामृतचन्द्रटीकायां** न सन्ति । ततः परं सर्वोपेक्षासंयमासमर्थस्य तपोधनस्य देशकालापेक्षया किंचित्संयमसाधकशरीरस्य निरवद्याहारादिसहकारिकारणं ग्राह्यमिति पुनरप्यपवादविशेषव्याख्यानमुख्यत्वेन 'उवयरणं जिणमग्गे' इत्याद्येकादशगाथा भवन्ति । अत्र टीकायां गाथाचतुष्टयं नास्ति । एवं मूलसूत्राभिप्रायेण त्रिंशद्गाथाभिः, टीकापेक्षया पुनर्द्वादशगाथाभिः द्वितीयान्तराधिकारे समुदायपातनिका । तथाहि—अथ भावशुद्धिपूर्वकबहिरङ्गपरिग्रहपरित्यागे कृते सति अभ्यन्तरपरिग्रहपरित्यागः कृत एव भवतीति निर्दिशति—**ण हि णिरवेक्खो चागो** न हि निरपेक्षस्त्यागः यदि चेत्, परिग्रहत्यागः सर्वथा निरपेक्षो न भवति किंतु किमपि वस्त्रपात्रादिकं ग्राह्यमिति भवता भण्यते, तर्हि हे शिष्य **ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी** न भवति भिक्षोराशयविशुद्धिः, तदा सापेक्षपरिणामे सति

अब, इस उपधि (परिग्रह) का निषेध वह अंतरंग छेदका ही निषेध है, ऐसा उपदेश करते हैं :–

गाथा २२०

अन्वयार्थ :– [**निरपेक्षः त्यागः न हि**] यदि निरपेक्ष (किसी भी वस्तुकी अपेक्षा-रहित) त्याग न हो तो [**भिक्षोः**] भिक्षुके [**आशयविशुद्धिः**] भावकी विशुद्धि [**न भवति**] नहीं होती; [**च**] और [**चित्ते अविशुद्धस्य**] जो भावमें अविशुद्ध है उसके [**कर्मक्षयः**] कर्मक्षय [**कथं नु**] कैसे [**विहितः**] हो सकता है ?

निरपेक्ष त्याग न होय तो नहि भावशुद्धि भिक्षुने ।
ने भावमां अविशुद्धने क्षय कर्मनो कइ रीत बने ॥ २२० ॥

न खलु बहिरङ्गसंगसद्भावे तुषसद्भावे तण्डुलगताशुद्धत्वस्येवाशुद्धोपयोगरूपस्यान्तरङ्गच्छेदस्य प्रतिषेधः, तद्भावे च न शुद्धोपयोगमूलस्य कैवल्यस्योपलम्भः । अतोऽशुद्धोपयोगरूपस्यान्तरंगच्छेदस्य प्रतिषेधं प्रयोजनमपेक्ष्योपधेर्विधीयमानः प्रतिषेधोऽन्तरंगच्छेदप्रतिषेध एव स्यात् ॥ २२० ॥

अथैकान्तिकान्तरंगच्छेदत्वमुपधेर्विस्तरेणोपदिशति—

किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स ।
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि ॥ २२१ ॥

कथं तस्मिन्नास्ति मूर्च्छा आरम्भो वा असंयमस्तस्य ।
तथा परद्रव्ये रतः कथमात्मानं प्रसाधयति ॥ २२१ ॥

भिक्षोस्तपोधनस्य चित्तशुद्धिर्न भवति । अविशुद्धस्य हि चित्ते शुद्धात्मभावनारूपा शुद्धिर्नास्ति तस्य तपोधनस्य चित्ते मनसि हि स्फुटं कहं नु कम्मक्खओ विहिओ कथं नु कर्मक्षयो विहितः उचितो, न कथमपि । अनेनैतदुक्तं भवति—यथा बहिरङ्गतुषसद्भावे सति तण्डुलस्याभ्यन्तरशुद्धिं कर्तुं नायाति तथा विद्यमाने वा बहिरङ्गपरिग्रहाभिलाषे सति निर्मलशुद्धात्मानुभूतिरूपां चित्तशुद्धिं कर्तुं नायाति । यदि पुनर्विशिष्टवैराग्यपूर्वकपरिग्रहत्यागो भवति तदा चित्तशुद्धिर्भवत्येव [illegible] तु न भवति ॥ २२० ॥ अथ तमेव परिग्रहत्यागं द्रढयति —

गेण्हदि व चेलखंडं भायणमत्थि त्ति भणिदमिह सुत्ते ।
जदि सो चत्तालंबो हवदि कहं वा अणारंभो ॥ * १० ॥
वत्थक्खंडं दुद्दियभायणमण्णं च गेण्हदि णियदं ।
विज्जदि पाणारंभो विक्खेवो तस्स चित्तम्मि ॥ * ११ ॥
गेण्हइ विधुणइ धोवइ सोसेइ जदं तु आदवे खित्ता ।
पत्तं च चेलखंडं विभेदि परदो य पालयदि ॥ * १२ ॥

टीका :— जैसे छिलकेके सद्भावमें [illegible], अशुद्धताका त्याग (नाश, अभाव) नहीं होता, [illegible] अशुद्धोपयोगरूप अंतरंग छेदका त्याग नहीं [illegible] कैवल्य (मोक्ष) की उपलब्धि नहीं होती। [illegible] योगरूप अंतरंग छेदके निषेधरूप प्रयोजन [illegible] जानेवाला उपधिका निषेध वह अंतरंग [illegible]

आरंभ, असंयम [illegible] मूर्छा न [illegible] — [illegible]
परद्रव्यरत जो होय [illegible] ॥ २२१ ॥

उपधिसद्भावे हि ममत्वपरिणामलक्षणाया मूर्च्छायास्तद्विषयकर्मप्रक्रमपरिणामलक्षणस्यारम्भस्य शुद्धात्मरूपहिंसनपरिणामलक्षणस्यासंयमस्य वावश्यंभावित्वात्तथोपधि-

---

गेण्हदि व चेलखंडं गृह्णाति वा चेलखण्डं वस्त्रखण्डं, **भायणं** भिक्षाभाजनं वा **अत्थि त्ति भणिदं** अस्तीति भणितमास्ते । क्व । **इह सुत्ते** इह विवक्षितागमसूत्रे **जदि** यदि चेत् । **सो चत्तालंबो हवदि कहं** निरालम्बनपरमात्मतत्त्वभावनाशून्यः सन् स पुरुषो वहिर्द्रव्यालम्बनरहितः कथं भवति, न कथमपि ; **वा अणारंभो** निःक्रियनिरारम्भनिजात्मतत्त्वभावनारहितत्वेन निरारम्भो वा कथं भवति, किंतु सारम्भ एव; इति प्रथमगाथा । **वत्थक्खंडं दुद्दियभायणं** वस्त्रखण्डं दुग्धिकाभाजनं **अण्णं च गेण्हदि** अन्यच्च गृह्णाति कम्बलमृदुशयनादिकं यदि चेत् । तदा किं भवति । **णियदं विज्जदि पाणारंभो** निजशुद्धचैतन्यलक्षणप्राणविनाशरूपो परजीवप्राणविनाशरूपो वा नियतं निश्चितं प्राणारम्भः प्राणवधो विद्यते, न केवलं प्राणारम्भः, **विक्खेवो तस्स चित्तम्मि** अविक्षिप्तचित्तपरमयोगरहितस्य सपरिग्रहपुरुषस्य विक्षेपस्तस्य विद्यते चित्ते मनसीति । इति द्वितीयगाथा । **गेण्हइ** स्वशुद्धात्मग्रहणशून्यः सन् गृह्णाति किमपि वहिर्द्रव्यं; **विधुणइ** कर्मधूलिं विहाय वहिरङ्गधूलिं विधूनोति विनाशयति; **धोवइ** निर्मलपरमात्मतत्त्वमलजनकरागादिमलं विहाय वहिरङ्गमलं धौति प्रक्षालयति; **सोसेइ जदं तु आदवे खित्ता** निर्विकल्पध्यानातपेन संसारनदीशोषणमकुर्वन् शोपयति शुष्कं करोति यतं तु यत्नपरं तु यथा भवति । किं कृत्वा । आतपे निक्षिप्य । किं तत् । **पत्तं व चेलखंडं** पात्रं वस्त्रखण्डं वा । **बिभेदि** निर्भयशुद्धात्मतत्त्वभावनाशून्यः सन् विभेति भयं करोति । कस्मात्सकाशात् । **परदो य** परतश्चौरादेः । **पालयदि** परमात्मभावनां न पालयन्न रक्षन्परद्रव्यं किमपि पालयतीति तृतीयगाथा ॥ *१७-१६ ॥

अव, 'उपधि वह ऐकान्तिक अन्तरंग छेद है' ऐसा विस्तारसे उपदेश करते हैं :-

गाथा २२१

अन्वयार्थ :– [**तस्मिन्**] उपधिके सद्भावमें [**तस्य**] उस (भिक्षु) के [**मूर्च्छा**] मूर्छा, [**आरम्भः**] आरंभ [**वा**] या [**असंयमः**] असंयम [**नास्ति**] न हो [**कथं**] यह कैसे हो सकता है ? (कदापि नहीं हो सकता), [**तथा**] तथा [**परद्रव्ये रतः**] जो परद्रव्यमें रत हो वह [**आत्मानं**] आत्माको [**कथं**] कैसे [**प्रसाधयति**] साध सकता है ?

टीका :– उपधिके सद्भावमें, (१) ममत्व-परिणाम जिसका लक्षण है ऐसी मूर्छा, (२) उपधि संबंधी [1]कर्मप्रक्रमके परिणाम जिसका लक्षण है ऐसा आरम्भ, अथवा (३) शुद्धात्मस्वरूपकी हिंसारूप परिणाम जिसका लक्षण है ऐसा असंयम अवश्यमेव होता ही है; तथा उपधि जिसका द्वितीय हो (अर्थात् आत्मासे अन्य ऐसा परिग्रह जिसने ग्रहण किया हो) उसके परद्रव्य में रतपना (-लीनता) होनेके कारण शुद्धात्मद्रव्यकी साधकताका अभाव होता है; इससे उपधिके ऐकान्तिक अन्तरंग छेदपना निश्चित होता ही है।

---

१ कर्मप्रक्रम = काममें युक्त होना; कामकी व्यवस्था ।

द्वितीयस्य परद्रव्यरतत्वेन शुद्धात्मद्रव्यप्रसाधकत्वाभावाच्च ऐकान्तिकान्तरंगच्छेदत्वमुपधेरवधार्यत एव । इदमत्र तात्पर्यमेवंविधत्वमुपधेरवधार्य स सर्वथा संन्यस्तव्यः ॥ २२१ ॥

अथ कस्यचित्क्वचित्कदाचित्कथंचित्कश्चिदुपधिरप्रतिषिद्धोऽप्यस्तीत्यपवादमुपदिशति –

छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स ।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता ॥ २२२ ॥

छेदो येन न विद्यते ग्रहणविसर्गेषु सेवमानस्य ।
श्रमणस्तेनेह वर्ततां कालं क्षेत्रं विज्ञाय ॥ २२२ ॥

अथ सपरिग्रहस्य नियमेन चित्तशुद्धिर्नश्यतीति विस्तरेणाख्याति—[illegible] मूर्च्छा [illegible] ममत्वरहितचिच्चमत्कारपरिणतेर्विसदृशा मूर्च्छा कथं नास्ति, [illegible] कायिकसनपुरुषे । आरंभो वा मनोवचनकायक्रियारहितपरमचैतन्यप्रतिबन्धक आरम्भो [illegible] कथं नास्ति, किन्त्वस्त्येव; असंजमो तस्स शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणासंयमो वा कथं नास्ति, [illegible] सपरिग्रहस्य । तध परदव्वम्मि रदो तथैव निजात्मद्रव्यात्परद्रव्ये रतः [illegible] सपरिग्रहपुरुषः कथमात्मानं प्रसाधयति, न कथमपीति ॥ २२१ ॥ [illegible] सर्वोपधनार्थं निर्ग्रन्थमोऽक्षमार्गस्थापनमुख्यत्वेन प्रथमस्थले [illegible] पेक्षासंयमसाधकत्वभावे सत्याहारसंयमशौचज्ञानोपकरणादिकं [illegible]—छेदो

यहाँ यह तात्पर्य है कि—'उपधि ऐसी है, [illegible]', ऐसा निश्चित करके उसे सर्वथा छोड़ना चाहिये ॥ [illegible] ॥

अब, 'किसीके कहीं कभी किसी प्रकार कोई [illegible] वादका उपदेश करते हैं :—

गाथा २२२

अन्वयार्थ :—[ग्रहणविसर्गेषु] [illegible] विसर्जनमें सेवन करनेमें [येन] जिससे [सेवमानस्य] [illegible] [न विद्यते] नहीं होता, [तेन] [illegible] [काल क्षेत्र] [illegible] जानकर, [इह] इस लोकमें [श्रमणः] श्रमण [वर्तताम्] [illegible]

[illegible]

[illegible]

व्यञ्जकदर्शनादिपर्यायतत्परिणतपुरुषविनीतताभिप्रायप्रवर्तकचित्तपुद्गलाश्च भवन्ति ।

लिंगम्हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खपदेसेसु स्त्रीणां लिङ्गे योनिप्रदेशे, स्तनान्तरे, नाभिप्रदेशे, कक्षप्रदेशे च, **भणिदो सुहुमुप्पादो** एतेषु स्थानेषु सूक्ष्ममनुष्यादिजीवोत्पादो भणितः । एते पूर्वोक्तदोषाः पुरुषाणां किं न भवन्तीति चेत् । एवं न वक्तव्यं, स्त्रीषु बाहुल्येन भवन्ति । न चास्तित्व-मात्रेण समानत्वम् । एकस्य विषकणिकास्ति, द्वितीयस्य च विषपर्वतोऽस्ति, किं समानत्वं भवति । किंतु पुरुषाणां प्रथमसंहननबलेन दोषविनाशको मुक्तियोग्यविशेषसंयमोऽस्ति । **तासिं कह संजमो होदि** ततः कारणात्तासां कथं संयमो भवतीति ।। *२६ ।। अथ स्त्रीणां तद्भवमुक्तियोग्यां सकलकर्मनिर्जरां निषेधयति –

जदि दंसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता ।
घोरं चरदि व चरियं इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा ।। *२७ ।।

जदि दंसणेण सुद्धा यद्यपि दर्शनेन सम्यक्त्वेन शुद्धा, **सुत्तज्झयणे चावि संजुत्ता** एकादशाङ्ग-सूत्राध्ययनेनापि संयुक्ता, **घोरं चरदि व चरियं** घोरं पक्षोपवासमासोपवासादि चरति वा चारित्रं, **इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा** तथापि स्त्रीजनस्य तद्भवकर्मक्षययोग्या सकलनिर्जरा न भणितेति भावः । किंच यथा प्रथमसंहननाभावात्स्त्री सप्तमनरकं न गच्छति, तथा निर्वाणमपि । "पुंवेदं वेदंता पुरिसा जे खवगसेढिमारूढा । सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति" इति गाथाकथितार्थाभिप्रायेण भावस्त्रीणां कथं निर्वाणमिति चेत् । तासां भावस्त्रीणां प्रथमसंहननमस्ति, द्रव्यस्त्रीवेदाभावात्तद्भव-मोक्षपरिणामप्रतिबन्धकतीव्रकामोद्रेकोऽपि नास्ति । द्रव्यस्त्रीणां प्रथमसंहननं नास्तीति कस्मिन्नागमे कथितमास्ते इति चेत् । तत्रोदाहरणगाथा – "अंतिमतिगसंघडणं णियमेण य कम्मभूमिमहिलाणं । आदिमतिगसंहडणं णत्थि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं" ।। अथ मतम् – यदि मोक्षो नास्ति तर्हि भवदीयमते किमर्थं निर्ग्रन्थमहाव्रतारोपणम् । परिहारमाह – तदुपचारेण कुलव्यवस्थानिमित्तम् । न चोपचारः साक्षाद्भवितुमर्हति, अग्निवत् क्रूरोऽयं देवदत्त इत्यादिवत् । तथाचोक्तम् – मुख्याभावे सति प्रयोजने

गुरु द्वारा कहे जाने पर ¹आत्मतत्त्व-द्योतक, ²सिद्ध उपदेशरूप वचनपुद्गल; तथा (३) जिनका अध्ययन किया जाता है ऐसे, नित्यबोधक, अनादिनिधन शुद्ध आत्मतत्त्वको प्रकाशित करनेमें समर्थ श्रुतज्ञानके साधनभूत शब्दात्मक सूत्रपुद्गल; और (४) शुद्ध आत्मतत्त्वको व्यक्त करनेवाली जो दर्शनादिक पर्यायें, उनरूपसे परिणमित पुरुषके प्रति ³विनीततारूप अभिप्राय प्रवर्तित करनेवाले चित्तपुद्गल । (अपवादमार्गमें जिस उपकरणका निषेध नहीं है उसके उपरोक्त चार भेद हैं ।)

इदमत्र तात्पर्यं, कायवद्वचनमनसी अपि न वस्तुधर्मः ॥२२५॥

निमित्तेनोपचारः प्रवर्तते । किंतु यदि तद्भवे मोक्षो भवति स्त्रीणां तर्हि शतवर्षदीक्षिताया अर्जिकाया अद्यदिने दीक्षितः साधुः कथं वन्द्यो भवति । सैव प्रथमतः किं न वन्द्या भवति साधोः । किंतु भवन्मते मल्लितीर्थंकरः स्त्रीति कथ्यते, तदप्ययुक्तम् । तीर्थंकरा हि सम्यग्दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशभावनाः पूर्वभवे भावयित्वा पश्चाद्भवन्ति । सम्यग्दृष्टेः स्त्रीवेदकर्मणो बन्ध एव नास्ति, कथं स्त्री भविष्यतीति । किंच यदि मल्लितीर्थंकरो वान्यः कोऽपि वा स्त्री भूत्वा निर्वाणं गतः तर्हि स्त्रीरूपप्रतिमाराधना किं न क्रियते भवद्भिः । यदि पूर्वोक्तदोषाः सन्ति स्त्रीणां तर्हि सीतारुक्मिणीकुन्तीद्रौपदीसुभद्राप्रभृतयो जिनदीक्षां गृहीत्वा विशिष्टतपश्चरणेन कथं षोडशस्वर्गं गता इति चेत् । परिहारमाह — तत्र दोषो नास्ति, तस्मात्स्वर्गादागत्य पुरुषवेदेन मोक्षं यास्यन्त्यग्रे । तद्भवमोक्षो नास्ति, भवान्तरे भवतु, को दोष इति । इदमत्र तात्पर्यम् — स्वयं वस्तुस्वरूपमेव ज्ञातव्यं, परं प्रति विवादो न कर्तव्यः । कस्मात् । विवादे रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति, ततश्च शुद्धात्मभावना नश्यतीति ॥*२७॥ अथोपसंहाररूपेण स्त्रीव्रतस्थानं दर्शयति —

तम्हा तं पडिरूवं लिंगं तासिं जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।
कुलरूववओजुत्ता समणीओ तस्समाचारा ॥*२८॥

तम्हा यस्मात्तद्भवे मोक्षो नास्ति तस्मात्कारणात् **तं पडिरूवं लिंगं तासिं जिणेहिं णिद्दिट्ठं** तत्प्रतिरूपं वस्त्रप्रावरणसहितं लिङ्गं चिह्नं लाञ्छनं तासां स्त्रीणां जिनवरैः सर्वज्ञैर्निर्दिष्टं कथितम् । **कुलरूववओजुत्ता समणीओ** लोकदुगुञ्छारहितत्वेन जिनदीक्षायोग्यं कुलं भण्यते, अन्तरङ्गनिर्विकार-चित्तशुद्धिज्ञापकं बहिरङ्गनिर्विकारं रूपं भण्यते, शरीरभङ्गरहितं वा अतिबाल्यवृद्धत्वबुद्धिवैकल्यरहितं वयो भण्यते, तैः कुलरूपवयोभिर्युक्ताः कुलरूपवयोयुक्ता भवन्ति । [illegible] किंविशिष्टाः । **तस्समाचारा** तासां स्त्रीणां [illegible] आचरणं यासां तास्तत्समाचारा इति ॥*२९॥ [illegible]

वण्णेसु तीसु एक्को [illegible]
सुमुहो कुंछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि [illegible]

वण्णेसु तीसु एक्को वर्णेषु त्रिषु [illegible] आरोग्यः । **तवोसहो वयसा** [illegible] निर्विकार [illegible] रहितं वा, स भवति सुमुखः । **कुंछारहिदो** [illegible] जोग्गो [illegible] [illegible]

भावार्थ :— [illegible]

अथाप्रतिषिद्धशरीरमात्रोपधिपालनविधानमुपदिशति

इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्हि लोगम्हि ।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो ॥२२६॥

इहलोकनिरापेक्षः अप्रतिबद्धः परस्मिन् लोके ।
युक्ताहारविहारो रहितकषायो भवेत् श्रमणः ॥२२६॥

जो रयणत्तयणासो सो भंगो जिणवरेहिं णिद्दिट्ठो ।
सेसं भंगेण पुणो ण होदि सल्लेहणाअरिहो ॥ *३० ॥

जो रयणत्तयणासो सो भंगो जिणवरेहिं णिद्दिट्ठो यो रत्नत्रयनाशः स भङ्गो जिनवरैर्निर्दिष्टः। विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपो योऽसौ निश्चयरत्नत्रयस्वभाव-स्तस्य विनाशः स एव निश्चयेन नाशो भङ्गो जिनवरैर्निर्दिष्टः। **सेसं भंगेण पुणो** शेषभङ्गेन पुनः शेषखण्डमुण्डवातवृषणादिभङ्गेन **ण होदि सल्लेहणाअरिहो** न भवति सल्लेखनार्हः। लोकदुगुञ्छाभयेन निर्ग्रन्थरूपयोग्यो न भवति। कौपीनग्रहणेन तु भावनायोग्यो भवतीत्यभिप्रायः ॥ *३० ॥ एवं स्त्रीनिर्वाणनिराकरणव्याख्यानमुख्यत्वेनैकादशगाथाभिस्तृतीयं स्थलं गतम्। अथ पूर्वोक्तस्योपकरण-रूपापवादव्याख्यानस्य विशेषविवरणं करोति – **इदि भणिदं** इति भणितं कथितम्। किम्। **उवयरणं** उपकरणम्। क्व। **जिणमग्गे** जिनोक्तमोक्षमार्गे। किमुपकरणम्। **लिंगं** शरीराकारपुद्गलपिण्डरूपं द्रव्यलिङ्गम्। किंविशिष्टम्। **जहजादरूवं** यथाजातरूपं, यथाजातरूपशब्देनात्र व्यवहारेण संगपरित्याग-युक्तं नग्नरूपं, निश्चयेनाभ्यन्तरेण शुद्धबुद्धैकस्वभावं परमात्मस्वरूपं। **गुरुवयणं पि य** गुरुवचनमपि, निर्विकारपरमचिज्ज्योतिःस्वरूपपरमात्मतत्त्वप्रतिबोधकं सारभूतं सिद्धोपदेशरूपं गुरूपदेशवचनम्। न केवलं गुरूपदेशवचनं, **सुत्तज्झयणं च** आदिमध्यान्तवर्जितजातिजरामरणरहितनिजात्मद्रव्य-प्रकाशकसूत्राध्ययनं च, परमागमवाचनमित्यर्थः। **णिद्दिट्ठं** उपकरणरूपेण निर्दिष्टं कथितम्। **विणओ** स्वकीयनिश्चयरत्नत्रयशुद्धिर्निश्चयविनयः, तदाधारपुरुषेषु भक्तिपरिणामो व्यवहारविनयः। उभयोऽपि विनयपरिणाम उपकरणं भवतीति निर्दिष्टः। अनेन किमुक्तं भवति – निश्चयेन चतुर्विधमेवो-पकरणम्। अन्यदुपकरणं व्यवहार इति ॥ २२५ ॥ अथ युक्ताहारविहारलक्षणतपोधनस्य स्वरूप-माख्याति–**इहलोगणिरावेक्खो** इहलोकनिरापेक्षः, टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावनिजात्मसंवित्तिविनाशक-

---

परिग्रह उपकरणभूत हैं, इसलिये अपवादमार्ग में उनका निषेध नहीं है, तथापि वे वस्तुधर्म नहीं हैं ॥२२५॥

अब, अनिषिद्ध ऐसा जो शरीर मात्र उपधि उसके पालनकी विधिका उपदेश करते हैं :–

आ लोकमां निरपेक्ष ने परलोक-अणप्रतिबद्ध छे ।
साधु कषायरहित, तेथी युक्त आ'र-विहारी छे ॥२२६॥

अनादिनिधनैकरूपशुद्धात्मतत्त्वपरिणतत्वादखिलकर्मपुद्गलविपाकात्यन्तविविक्तस्वभावत्वेन रहितकषायत्वात्तदात्वमनुष्यत्वेऽपि समस्तमनुष्यव्यवहारबहिर्भूतत्वेनेहलोकनिरापेक्षत्वात्तथाभविष्यदमर्त्यादिभावानुभूतितृष्णाशून्यत्वेन परलोकाप्रतिबद्धत्वाच्च, परिच्छेद्यार्थोपलम्भप्रसिद्धयर्थप्रदीपपूरणोत्सर्पणस्थानीयाभ्यां शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भप्रसिद्धयर्थतच्छरीरसंभोजनसंचलनाभ्यां युक्ताहारविहारो हि स्यात् श्रमणः । इदमत्र तात्पर्यम्—यतो हि रहितकषायः ततो न तच्छरीरानुरागेण दिव्यशरीरानुरागेण वाहारविहारयो-

ख्यातिपूजालाभरूपेहलोककाङ्क्षारहितः, अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि अप्रतिबद्धः परस्मिन् लोके, तपश्चरणं कृते दिव्यदेवस्त्रीपरिवारादिभोगा भवन्तीति, एवंविधपरलोके प्रतिबद्धो न भवति. जुत्ताहारविहारो हवे युक्ताहारविहारो भवेत् । स कः । समणो श्रमणः । पुनरपि कथंभूतः । रहिदकसाओ निःकषायस्वरूपसंवित्त्यवष्टम्भबलेन रहितकषायश्चेति । अयमत्र भावार्थः – योऽसौ इहलोकपरलोक-

गाथा २२६

अन्वयार्थ :– [श्रमणः] श्रमण [रहितकषायः] कषायरहित वर्तता हुआ [इहलोक निरापेक्षः] इस लोकमें निरपेक्ष और [परस्मिन् लोके] परलोक में [अप्रतिबद्धः] अप्रतिबद्ध होनेसे [युक्ताहारविहारः भवेत्] युक्ताहारविहारी होता है ।

रयुक्त्या प्रवर्तेत । शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसाधकश्रामण्यपर्यायपालनायैव केवलं युक्ताहार-विहारः स्यात् ॥२२६॥

अथ युक्ताहारविहारः साक्षादनाहारविहार एवेत्युपदिशति –

जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा ।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ॥२२७॥

यस्यानेषण आत्मा तदपि तपः तत्प्रत्येषकाः श्रमणाः ।
अन्यद्भैक्षमनेषणमथ ते श्रमणा अनाहाराः ॥२२७॥

निरपेक्षत्वेन निःकषायत्वेन च प्रदीपस्थानीयशरीरे तैलस्थानीयं ग्रासमात्रं दत्वा घटपटादिप्रकाश्य-पदार्थस्थानीयं निजपरमात्मपदार्थमेव निरीक्षते स एव युक्ताहारविहारो भवति, न पुनरन्यः शरीर-पोषणनिरत इति ॥ २२६ ॥ अथ पञ्चदशप्रमादैस्तपोधनः प्रमत्तो भवतीति प्रतिपादयति –

यहाँ ऐसा तात्पर्य है कि :– श्रमण कषायरहित है इसलिये वह शरीरके (वर्तमान मनुष्य-शरीरके) अनुरागसे या दिव्य शरीरके (भावी देवशरीरके) अनुरागसे आहार-विहारमें अयुक्तरूपसे प्रवृत्त नहीं होता; किन्तु शुद्धात्मतत्वकी उपलब्धिकी साधकभूत श्रामण्यपर्यायके पालनके लिये ही केवल युक्ताहारविहारी होता है ॥२२६॥

अब, युक्ताहारविहारी साक्षात् अनाहारविहारी (अनाहारी और अविहारी) ही है ऐसा उपदेश करते हैं :–

गाथा २२७

अन्वयार्थ :– [**यस्य आत्मा अनेषणः**] जिसका आत्मा एषणारहित है (अर्थात् जो अनशनस्वभावी आत्माका ज्ञाता होनेसे स्वभावसे ही आहारकी इच्छासे रहित है) [**तत् अपि तपः**] उसे वह भी तप है; (और) [**तत्प्रत्येषकाः**] उसे प्राप्त करनेके लिये (अनशनस्वभाववाले आत्माको परिपूर्णतया प्राप्त करनेके लिये) प्रयत्न करनेवाले [**श्रमणाः**] श्रमणों के [**अन्यत् भैक्षम्**] अन्य (स्वरूपसे पृथक्) भिक्षा [**अनेषणम्**] एषणारहित (एषणदोषसे रहित) होती है; [**अथ**] इसलिए [**ते श्रमणाः**] वे श्रमण [**अनाहाराः**] अनाहारी हैं ।

आत्मा अनेषक ते य तप, तत्सिद्धिमां उद्यत रही ।
वण-एषणा भिक्षा वली, तेथी अनाहारी मुनि ॥२२७॥

स्वयमनशनस्वभावत्वादेषणादोषशून्यभैक्ष्यत्वाच्च, युक्ताहारः साक्षादनाहार एव स्यात् । तथाहि—यस्य सकलकालमेव सकलपुद्गलाहरणशून्यमात्मानमवबुद्ध्यमानस्य सकलाशनतृष्णाशून्यत्वात्स्वयमनशन एव स्वभावः, तदेव तस्यानशनं नाम तपोऽन्तरङ्गस्य बलीयस्त्वात्; इति कृत्वा ये तं स्वयमनशनस्वभावं भावयन्ति श्रमणाः, तत्प्रतिषिद्धये

कोहादिएहि चउहि वि विकहाहि तहिंदियाणमत्थेहि ।
समणो हवदि पमत्तो उवजुत्तो णेहणिद्दाहि ॥ '३१ ॥

हवदि क्रोधादिपञ्चदशप्रमादरहितचिच्चमत्कारमात्रात्मतत्त्वभावनाच्युतः सन् भवति । स कः कर्ता । समणो सुखदुःखादिसमचित्तः श्रमणः । किंविशिष्टो भवति । पमत्तो प्रमत्तः प्रमादी । कैः कृत्वा । कोहादिएहि चउहि वि चतुर्भिरपि क्रोधादिभिः, विकहाहि स्त्रीभक्तचोरराजकथाभिः, तहिंदियाणमत्थेहि तथैव पञ्चेन्द्रियाणामर्थैः स्पर्शादिविषयैः । पुनरपि किंरूपः । उवजुत्तो उपयुक्तः परिणतः । काभ्याम् । णेहणिद्दाहि स्नेहनिद्राभ्यामिति ॥ '३१ ॥ अथ [illegible]मुपदिशति – जस्स यस्य मुनेः संबन्धी अप्पा आत्मा । किंविशिष्टः । [illegible] भावनोत्पन्नसुखामृताहारेण तृप्तत्वान्न विद्यते [illegible] तस्य तदेव निश्चयेन निराहारात्मभावनारूपसुखामृतलक्षण [illegible] श्रमणाः, तन्निश्चयोपवासलक्षणं तपः प्रतीच्छन्ति [illegible] निजपरमात्मतत्त्वादन्यत्किमपि हेयम् । किम् । अणेसणं [illegible] भृतम् । भिक्खं भिक्षायां भवं भैक्ष्यं । अथ अथ अहो, ते [illegible]

चैषणादोषशून्यमन्यद्भैक्षं चरन्ति, ते किलाहरन्तोऽप्यनाहरन्त इव युक्ताहारत्वेन स्वभावपरभावप्रत्ययबन्धाभावात्साक्षादनाहारा एव भवन्ति। एवं स्वयमविहारस्वभावत्वात्समितिशुद्धविहारत्वाच्च युक्तिविहारः साक्षादविहार एव स्यात् इत्यनुक्तमपि गम्येतेति ॥२२७॥

अथ कुतो युक्ताहारत्वं सिद्ध्यतीत्युपदिशति—

केवलदेहो समणो देहे ण ममत्ति रहिदपरिकम्मो।
आजुत्तो तं तवसा अणिगूहिय अप्पणो सत्तिं ॥२२८॥

केवलदेहः श्रमणो देहे न ममेति रहितपरिकर्मा।
आयुक्तवांस्तं तपसा अनिगूह्यात्मनः शक्तिम् ॥२२८॥

श्रमणा आहारग्रहणेऽप्यनाहारा भवन्ति। तथैव च निःक्रियपरमात्मानं ये भावयन्ति, पञ्चसमितिसहिता विहरन्ति च, ते विहारेऽप्यविहारा भवन्तीत्यर्थः ॥ २२७ ॥ अथ तदेवानाहारकत्वं प्रकारान्तरेण प्राह – **केवलदेहो** केवलदेहोऽन्यपरिग्रहरहितो भवति। स कः कर्ता। **समणो** निन्दाप्रशंसादिसम-

इसप्रकार (जैसे युक्ताहारी साक्षात् अनाहारी ही है, ऐसा कहा गया है उसीप्रकार), (१) स्वयं अविहारस्वभाववाला होने से और (२) समितिशुद्ध (ईर्यासमितिसे शुद्ध ऐसे) विहारवाला होनेसे युक्तविहारी (युक्तविहारवाला श्रमण) साक्षात् अविहारी ही है – ऐसा अनुक्त होनेपर भी (गाथामें नहीं कहा जाने पर भी) समझना चाहिये ॥२२७॥

अब, (श्रमणके) युक्ताहारीपना कैसे सिद्ध होता है सो उपदेश करते है :–

गाथा २२८

अन्वयार्थ :– [**केवलदेहः श्रमणः**] केवलदेही (जिसके मात्र देहरूप परिग्रह वर्तता है, ऐसे) श्रमणने [**देहे**] शरीरमें भी [**न मम इति**] 'मेरा नहीं है' ऐसा समझकर [**रहितपरिकर्मा**] [1]परिकर्म रहित वर्तते हुए, [**आत्मनः**] अपने

[1] परिकर्म=शोभा; शृङ्गार; संस्कार; प्रतिकर्म।

केवलशरीर मुनि त्यांय 'मारुं न' जाणी वण-प्रतिकर्म छे।
निज शक्तिना गोपन विना तप साथ तन योजेल छे ॥२२८॥

यतो हि श्रमणः श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेन केवलदेहमात्रस्योपधेः प्रसह्याप्रतिषेधकत्वात्केवलदेहत्वे सत्यपि देहे 'किं किंचण' इत्यादिप्राक्तनसूत्रद्योतितपरमेश्वराभिप्रायपरिग्रहेण न नाम ममायं ततो नानुग्रहार्हः किंतूपेक्ष्य एवेति परित्यक्तसमस्तसंस्कारत्वाद्रहितपरिकर्मा स्यात्। ततस्तन्ममत्वपूर्वकानुचिताहारग्रहणाभावाद्युक्ताहारत्वं सिद्धयेत्। यतश्च समस्तामप्यात्मशक्तिं प्रकटयन्ननन्तरसूत्रोदितेनानशनस्वभावलक्षणेन तपसा तं देहं सर्वारम्भेणाभियुक्तवान् स्यात्, तत आहारग्रहणपरिणामात्मकयोगध्वंसाभावाद्युक्तस्यैवाहारेण च युक्ताहारत्वं सिद्धयेत् ॥ २२८ ॥

त्यक्तः श्रमणः। नहि किं देहे ममत्वं भविष्यति। नैवं। देहेऽपि ममत्वरहितपरिकर्मा देहेऽपि ममत्वरहितपरिकर्मा, "ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिं उवट्ठिदो। आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे॥" इति श्लोककथितक्रमेण देहेऽपि ममत्वरहितः। आजुत्तो तं तवसा आयुक्तवान् आयोजितवान् तं देहं तपसा। किं कृत्वा। अणिगूहिय अनिगूह्य प्रच्छादनमकृत्वा। कां। अप्पणो सत्तिं आत्मनः शक्ति-

---

आत्माकी [शक्ति] शक्तिको [अनिगूह्य] छुपाये बिना [तपसा] तपके साथ [तं] उसे (शरीरको) [आयुक्तवान्] युक्त किया (जोड़ा) है।

अथ युक्ताहारस्वरूपं विस्तरेणोपदिशति –

एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जहालद्धं।
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं ॥ २२९ ॥

एकः खलु स भक्तः अप्रतिपूर्णोदरो यथालब्धः।
भैक्षाचरणेन दिवा न रसापेक्षो न मधुमांसः ॥ २२९ ॥

मिति। अनेन किमुक्तं भवति – यः कोऽपि देहाच्छेपपरिग्रहं त्यक्त्वा देहेऽपि ममत्वरहितस्तथैव तं देहं तपसा योजयति स नियमेन युक्ताहारविहारो भवतीति ॥ २२८ ॥ अथ युक्ताहारत्वं विस्तरेणाख्याति- **एक्कं खलु तं भत्तं** एककाल एव खलु हि स्फुटं स भक्त आहारो युक्ताहारः। कस्मात् एकभक्तेनैव निर्विकल्पसमाधिसहकारिकारणभूतशरीरस्थितिसंभवात्। स च कथंभूतः। **अप्पडिपुण्णोदरं** यथाशक्त्या न्यूनोदरः। **जहालद्धं** यथालब्धो, न च स्वेच्छालब्धः। **चरणं भिक्खेण** भिक्षाचरणेनैव लब्धो, न च स्वपाकेन। **दिवा** दिवैव, न च रात्रौ। **ण रसावेक्खं** रसापेक्षो न भवति, किंतु सरसविरसादौ समचित्तः। **ण मधुमंसं** अमधुमांसः, अमधुमांस इत्युपलक्षणेन आचारशास्त्रकथितपिण्डशुद्धिक्रमेण समस्तायोग्याहाररहित इति। एतावता किमुक्तं भवति। एवंविशिष्टविशेषणयुक्त एवाहारस्तपोधनानां

(योगीका) आहार है; इसलिये उसके युक्ताहारीपना सिद्ध होता है।

भावार्थ :– श्रमण दो प्रकारसे युक्ताहारी सिद्ध होता है; (१) शरीर पर ममत्व न होनेसे उसके उचित ही आहार होता है, इसलिये वह युक्ताहारी अर्थात् उचित आहारवाला है। और (२) 'आहारग्रहण आत्माका स्वभाव नहीं है' ऐसा परिणाम-स्वरूप योग श्रमणके वर्तता होनेसे वह श्रमण युक्त अर्थात् योगी है और इसलिये उसका आहार युक्ताहार अर्थात् योगीका आहार है ॥ २२८ ॥

अब युक्ताहारका स्वरूप विस्तारसे उपदेश करते हैं :–

गाथा २२९

अन्वयार्थ :– [**खलु**] वास्तवमें [**सः भक्तः**] वह आहार (युक्ताहार) [**एकः**] एक बार [**अप्रतिपूर्णोदरः**] ऊनोदर [**यथालब्धः**] यथालब्ध (जैसा प्राप्त हो वैसा), [**भैक्षाचरणेन**] भिक्षाचरणसे, [**दिवा**] दिनमें [**न रसापेक्षः**] रसकी अपेक्षासे रहित और [**न मधुमांसः**] मधु-मांस रहित होता है।

आहार ते अेक ज, उणोदर ने यथा-उपलब्ध छे।
भिक्षा वडे, दिवसे, रसेच्छाहीन, वण-मधुमांस छे ॥ २२९ ॥

एककाल एवाहारो युक्ताहारः, तावतैव श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणशरीरस्य धारणत्वात् । अनेककालस्तु शरीरानुरागसेव्यमानत्वेन प्रसह्य हिंसायतनीक्रियमाणो न युक्तः, शरीरानुरागसेवकत्वेन न च युक्तस्य । अप्रतिपूर्णोदर एवाहारो युक्ताहारः तस्यैवाप्रतिहतयोगत्वात् । प्रतिपूर्णोदरस्तु प्रतिहतयोगत्वेन कथंचित् हिंसायतनीभवन् न युक्तः, प्रतिहतयोगत्वेन न च युक्तस्य । यथालब्ध एवाहारो युक्ताहारः तस्यैव विशेषप्रियत्वलक्षणानुरागशून्यत्वात् । अयथालब्धस्तु विशेषप्रियत्वलक्षणानुरागसेव्यमानत्वेन प्रसह्य हिंसायतनीक्रियमाणो न युक्तः, विशेषप्रियत्वलक्षणानुरागसेवकत्वेन न च युक्तस्य । भिक्षाचरणेनैवाहारो युक्ताहारः, तस्यैवारम्भशून्यत्वात् । अभैक्षाचरणेन त्वारम्भसंभवात्प्रसिद्ध-

---

युक्ताहारः । कस्मादिति चेत् । चिदानन्दैकलक्षणनिश्चयप्राणरक्षणभूता रागादिविकल्पोपाधिरहिता या तु निश्चयनयेनाहिंसा, तत्साधकरूपा बहिरङ्गपरजीवप्राणव्यपरोपणनिवृत्तिरूपा द्रव्याहिंसा च, सा द्विविधापि तत्र युक्ताहारे संभवति । यस्तु तद्विपरीतः स युक्ताहारो न भवति । कस्मादिति चेत् । तद्विलक्षणभूताया द्रव्यभावरूपाया हिंसायाः सद्भावादिति ॥[illegible]॥ अथ विशेषेण मांसदूषणं कथयति-

पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु मंसपेसीसु ।
संतत्तियमुववादो तज्जादीणं णिगोदाणं ॥*३२॥
जो पक्कमपक्कं वा पेसीं मंसस्स खादि फासदि वा ।
सो किल णिहणदि पिंडं जीवाणमणेगकोडीणं ॥*[illegible]॥ युग्मं ।

तन्न श्रेयानपवादनिरपेक्ष उत्सर्गः । देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेपत्वं विगणय्य यथेष्टं प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणीभूय संयमं विराध्यासंयतजनसमानीभूतस्य तदात्वे तपसोऽनवकाशतयाशक्यप्रतिकारो महान् लेपो भवति, तन्न श्रेयानुत्सर्गनिरपेक्षोऽपवादः । अतः सर्वथोत्सर्गापवादविरोधदौस्थित्यमाचरणस्य प्रतिषेध्यं, तदर्थमेव सर्वथानुगम्यश्च परस्परसापेक्षोत्सर्गापवादविजृम्भितवृत्तिः स्याद्वादः ॥२३१॥

यदि कथंचिदौषधपथ्यादिसावद्यभयेन व्याधिव्यथादिप्रतीकारमकृत्वा शुद्धात्मभावनां न करोति तर्हि महान् लेपो भवति; अथवा प्रतीकारे प्रवर्तमानोऽपि हरीतकीव्याजेन गुडभक्षणवदिन्द्रियसुखलाम्पट्येन संयमविराधनां करोति तदापि महान् लेपो भवति । ततः कारणादुत्सर्गनिरपेक्षमपवादं त्यक्त्वा शुद्धात्मभावनारूपं शुभोपयोगरूपं वा संयममविराधयन्नौषधपथ्यादिनिमित्तोत्पन्नाल्पसावद्यमपि बहुगुणराशिमुत्सर्गसापेक्षमपवादं स्वीकरोतीत्यभिप्रायः ॥ २३१ ॥ एवं 'उवयरणं जिणमग्गे' इत्याद्येकादश-

---

देशकालज्ञको भी, यदि वह बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लानत्वके अनुरोधसे जो आहारविहार है, उससे होनेवाले अल्पलेपको न गिनकर उसमें [1]यथेष्ट प्रवृत्ति करे तो (अर्थात् अपवादसे होनेवाले अल्पबन्धके प्रति असावधान होकर उत्सर्गरूप ध्येयको चूककर अपवादमें स्वच्छन्दपूर्वक प्रवर्ते तो), मृदु आचरणरूप होकर संयम विरोधीको–असंयतजनके समान हुए उसको – उससमय तपका अवकाश न रहनेसे, जिसका प्रतीकार अशक्य है ऐसा महान् लेप होता है । इसलिये उत्सर्ग निरपेक्ष अपवाद श्रेयस्कर नहीं है ।

इससे (ऐसा कहा गया है कि) उत्सर्ग और अपवादके विरोधसे होनेवाला जो आचरण का दुःस्थितपना वह सर्वथा निषेध्य (त्याज्य) है, और इसीलिये परस्पर सापेक्ष उत्सर्ग और अपवादसे जिसकी वृत्ति (अस्तित्व, कार्य) प्रगट होती है ऐसा स्याद्वाद सर्वथा अनुगम्य (अनुसरण करने योग्य) है ।

भावार्थ :– जबतक शुद्धोपयोगमें ही लीन न हो जाया जाय तबतक श्रमणको आचरणकी सुस्थितिके लिये उत्सर्ग और अपवादकी मैत्री साधनी चाहिये । उसे अपनी निर्बलताका लक्ष रखे बिना मात्र उत्सर्गका आग्रह रखकर केवल अति कर्कश आचरणका हठ नहीं करना चाहिये; तथा उत्सर्गरूप ध्येयको चूककर मात्र अपवादके आश्रयसे केवल मृदु आचरणरूप शिथिलताका भी सेवन नहीं करना चाहिये । किन्तु इस प्रकारका वर्तन करना चाहिये जिसमें हठ भी न हो और शिथिलताका भी सेवन न हो । सर्वज्ञ भगवानका मार्ग अनेकान्त है । अपनी दशाकी जाँच करके जैसेभी लाभ हो उसप्रकारसे वर्तन करनेका भगवान का उपदेश है ।

---

[1] यथेष्ट=स्वच्छंदतया, इच्छाके अनुसार ।

इत्येवं चरणं पुराणपुरुषैर्जुष्टं विशिष्टादरै-
रुत्सर्गादपवादतश्च विचरद्बह्वीः पृथग्भूमिकाः ।
आक्रम्य क्रमतो निवृत्तिमतुलां कृत्वा यतिः सर्वत –
श्चित्सामान्यविशेषभासिनि निजद्रव्ये करोतु स्थितिम् ॥१५॥

— इत्याचरणप्रज्ञापनं समाप्तम् ।

अथ श्रामण्यापरनाम्नो मोक्षमार्गस्यैकाग्र्यलक्षणस्य प्रज्ञापनं तत्र तन्मूलसाधनभूते प्रथममागम एव व्यापारयति –

एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु ।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ॥२३२॥

ऐकाग्र्यगतः श्रमणः ऐकाग्र्यं निश्चितस्य अर्थेषु ।
निश्चितिरागमत आगमचेष्टा ततो ज्येष्ठा ॥२३२॥

श्रमणो हि तावदैकाग्र्यगत एव भवति । ऐकाग्र्यं तु निश्चितार्थस्यैव भवति । अर्थनिश्चयस्त्वागमादेव भवति । तत आगम एव व्यापारः प्रधानतरः, न चान्या गतिरस्ति । यतो न खल्वागममन्तरेणार्था निश्चेतुं शक्यन्ते, तस्यैव हि त्रिसमयप्रवृत्तत्रिलक्षणसकलपदार्थसार्थयाथात्म्यावगमसुस्थितान्तरङ्गगम्भीरत्वात् । न चार्थनिश्चयमन्तरेणैकाग्र्यं सिद्धयेत्, यतोऽनिश्चितार्थस्य कदाचिन्निश्चिकीर्षाकुलितचेतसः समन्ततो दोलायमानस्यात्यन्ततरलतया, कदाचिच्चिकीर्षाज्वरपरवशस्य विश्वं स्वयं सिसृक्षोर्विश्वव्यापारपरिणतस्य

तदनन्तरं भेदाभेदरत्नत्रयस्वरूपमेव मोक्षमार्ग इति व्याख्यानरूपेण 'आगमपुव्वा दिट्ठी' इत्यादि द्वितीयस्थले सूत्रचतुष्टयम् । अतःपरं द्रव्यभावसंयमकथनरूपेण 'चागो य अणारंभो' इत्यादि तृतीयस्थले गाथाचतुष्टयम् । तदनन्तरं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गोपसंहारमुख्यत्वेन 'मुज्झदि वा' इत्यादि चतुर्थस्थले गाथाद्वयम् । एवं स्थलचतुष्टयेन तृतीयान्तराधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा – अर्थैकाग्र्यगतः

अब, श्रामण्य जिसका दूसरा नाम है ऐसे एकाग्रतालक्षणवाले मोक्षमार्गका प्रज्ञापन है । उसमें प्रथम, उसके (मोक्षमार्गके) मूल साधनभूत आगममें व्यापार (प्रवृत्ति) कराते हैं:–

गाथा २३२

अन्वयार्थ :– [**श्रमणः**] श्रमण [**ऐकाग्र्यतः**] एकाग्रता को प्राप्त होता है; [**ऐकाग्र्यं**] एकाग्रता [**अर्थेषु निश्चितस्य**] पदार्थोंके निश्चयवान्‌के होती है; [**निश्चितिः**] (पदार्थोंका) निश्चय [**आगमतः**] आगम द्वारा होता है; [**ततः**] इसलिये [**आगमचेष्टा**] आगममें व्यापार [**ज्येष्ठा**] मुख्य है ।

टीका :– प्रथम तो, श्रमण वास्तवमें एकाग्रता को प्राप्त ही होता है; एकाग्रता पदार्थोंके निश्चयवान्‌के ही होती है; और पदार्थोंका निश्चय आगम द्वारा ही होता है; इसलिये आगममें ही व्यापार प्रधानतर (विशेष प्रधान) है; दूसरी गति (अन्य कोई मार्ग) नहीं है । उसका कारण यह है कि :–

वास्तवमें आगमके बिना पदार्थोंका निश्चय नहीं किया जा सकता; क्योंकि आगम ही, जिसके त्रिकाल (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप) तीन लक्षण प्रवर्तते हैं ऐसे सकलपदार्थसार्थके यथातथ्य ज्ञान द्वारा सुस्थित अंतरंगसे गम्भीर है (अर्थात् आगमका ही अंतरंग, सर्व पदार्थोंके समूहके यथार्थज्ञान द्वारा सुस्थित है इसलिये आगम ही समस्त पदार्थोंके यथार्थ ज्ञानसे गम्भीर है) ।

प्रतिक्षणविजृम्भमाणक्षोभतया, कदाचिद्बुभुक्षाभावितस्य विश्वं स्वयं भोग्यतयोपादाय रागद्वेषदोषकल्माषितचित्तवृत्तेरिष्टानिष्टविभागेन प्रवर्तितद्वैतस्य प्रतिवस्तुपरिणममानस्यात्यन्तविसंष्ठुलतया, कृतनिश्चयनिःक्रियनिर्भोगं युगपदापीतविश्वमप्यविश्वतयैकं भगवन्तमात्मानमपश्यतः सततं वैयग्र्यमेव स्यात् । न चैकाग्र्यमन्तरेण श्रामण्यं सिद्ध्येत्, यतोऽनैकाग्र्यस्यानेकमेवेदमिति पश्यतस्तथाप्रत्ययाभिनिविष्टस्यानेकमेवेदमिति जानतस्तथानुभूतिभावितस्यानेकमेवेदमितिप्रत्यर्थविकल्पव्यावृत्तचेतसा संततं प्रवर्तमानस्य तथावृत्तिदुःस्थितस्य चैकात्मप्रतीत्यनुभूतिवृत्तिस्वरूपसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतिप्रवृत्तदृशिज्ञप्तिवृत्तिरूपात्मतत्त्वैकाग्र्याभावात् शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिरूपं श्रामण्यमेव न स्यात् । अतः सर्वथा मोक्षमार्गा-

---

श्रमणो भवति । तच्चैकाग्र्यमागमपरिज्ञानादेव भवतीति [illegible] श्रमणो भवति । अथवा द्वितीयव्याख्यानं — [illegible] विमलकेवलज्ञानलक्षणनिजपरमात्मतत्त्व[illegible] मार्गेण परिणतः श्रमणो भवति । एवमेकाग्र्य [illegible] [illegible] भावो योऽसौ [illegible]

इह हि सर्वस्यापि स्यात्कारकेतनागमपूर्वकतत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणया दृष्ट्या शून्यस्य स्वपरविभागाभावात् कायकषायैः सहैक्यमध्यवसतोऽनिरुद्धविषयाभिलाषतया षड्जीव-निकायघातिनो भूत्वा सर्वतोऽपि कृतप्रवृत्तेः सर्वतो निवृत्त्यभावात्तथा परमात्मज्ञानाभावाद् ज्ञेयचक्रक्रमाक्रमणनिरर्गलज्ञप्तितया ज्ञानरूपात्मतत्त्वैकाग्र्यप्रवृत्त्यभावाच्च संयम एव न तावत् सिद्ध्येत् । असिद्धसंयमस्य तु सुनिश्चितैकाग्र्यपरिणतत्वरूपं मोक्षमार्गापरनाम श्रामण्यमेव न सिद्ध्येत् । अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं नियम्येत ॥ २३६ ॥

इति [illegible] भवति, ज्ञानी [illegible] न भवति । ततः [illegible] ॥ २३६ ॥

टीका :– इस लोकमें वास्तवमें, स्यात्कार जिसका चिह्न है ऐसे आगमपूर्वक [1]तत्वार्थश्रद्धानलक्षणवाली दृष्टिसे जो शून्य हैं उन सभीको प्रथम तो संयम ही सिद्ध नहीं होता, क्योंकि (१) स्वपरके विभागके अभावके कारण काया और कषायोंके साथ एकताका अध्यवसाय करनेवाले ऐसे वे जीव, [2]विषयोंकी अभिलाषाका निरोध नहीं होनेसे छह जीवनिकायके घाती होकर सर्वतः (सब ओरसे) प्रवृत्ति करते हैं, इसलिये उनके सर्वतः निवृत्तिका अभाव है। (अर्थात् किसी भी ओरसे–किंचित्मात्र भी निवृत्ति नहीं है), तथापि (२) उनके परमात्मज्ञानके अभावके कारण ज्ञेय-समूह को क्रमशः जाननेवाली [3]निरर्गल ज्ञप्ति होनेसे ज्ञानरूप आत्मतत्वमें एकाग्रताकी प्रवृत्तिका अभाव है। (इसप्रकार उनके संयम सिद्ध नहीं होता) और (इसप्रकार) जिनके संयम सिद्ध नहीं होता उन्हें [4]सुनिश्चित ऐकाग्र्यपरिणततारूप श्रामण्य ही – जिसका दूसरा नाम मोक्षमार्ग है वही – सिद्ध नहीं होता।

इससे आगमज्ञान – तत्वार्थश्रद्धान और संयतत्वके युगपतपनेको ही मोक्षमार्ग-

[1] तत्वार्थश्रद्धानलक्षणवाली=तत्वार्थका श्रद्धान जिसका लक्षण है ऐसी। [सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्वार्थश्रद्धान है। वह आगमपूर्वक होता है। आगमका चिह्न 'स्यात्' कार है]

[2] जिन जीवोंको स्वपरका भेदज्ञान नहीं है उनके भले ही कदाचित् पंचेन्द्रियोंके विषयोंका संयोग दिखाई न देता हो, छह जीवनिकायकी द्रव्यहिंसा न दिखाई देती हो और इसप्रकार संयोगसे निवृत्ति दिखाई देती हो, तथापि काया और कषायके साथ एकत्व माननेवाले उन जीवोंके वास्तवमें पंचेन्द्रियके विषयोंकी अभिलाषाका निरोध नहीं है, हिंसाका किंचित्मात्र अभाव नहीं है और इसप्रकार परभावसे किंचित्मात्र निवृत्ति नहीं है।

[3] निरर्गल=निरंकुश; संयमरहित; स्वच्छन्दी।

[4] सुनिश्चित=दृढ़ (दृढ़तापूर्वक एकाग्रतामें परिणमित होना सो श्रामण्य है।)

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानामयौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटयति –

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु ।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ॥ २३७ ॥

न ह्यागमेन सिद्धयति श्रद्धानं यद्यपि नास्त्यर्थेषु ।
श्रद्दधान अर्थानसंयतो वा न निर्वाति ॥ २३७ ॥

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्याभावे मोक्षो नास्तीति व्यवस्थापयति – ण हि आगमेण सिज्झदि आगमजनितपरमात्मज्ञानेन न सिद्ध्यति, सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु श्रद्धानं यदि च नास्ति परमात्मादिपदार्थेषु । सद्दहमाणो अत्थे श्रद्दधानो वा निजपरमात्मादि-पदार्थान्, असंजदो वा ण णिव्वादि विषयकषायाधीनत्वेनासंयतो वा न निर्वाति, निर्वाणं न लभते

पना होनेका नियम होता है ॥ २३६ ॥

अब, ऐसा सिद्ध करते हैं कि – आगमज्ञान–तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्वके अयुग-पत्पनेको मोक्षमार्गत्व घटित नहीं होता :–

यदज्ञानी कर्म क्रमपरिपाट्या बालतपोवैचित्र्योपक्रमेण च पच्यमानमुपात्तरागद्वेषतया सुखदुःखादिविकारभावपरिणतः पुनरारोपितसंतानं भवशतसहस्रकोटिभिः कथंचन निस्तरति, तदेव ज्ञानी स्यात्कारकेतनागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यातिशयप्रसादासादितशुद्धज्ञानमयात्मतत्त्वानुभूतिलक्षणज्ञानित्वसद्भावात्कायवाङ्मनःकर्मोपरमप्रवृत्तत्रिगुप्त-

वहिरात्मावस्था तावदशुद्धा, मुक्तिकारणं न भवति । मोक्षावस्था शुद्धा फलभूता, सा चाग्रे तिष्ठति। एताभ्यां द्वाभ्यां भिन्ना यान्तरात्मावस्था सा मिथ्यात्वरागादिरहितत्वेन शुद्धा । यथा सूक्ष्मनिगोतज्ञाने शेषावरणे सत्यपि क्षयोपशमज्ञानावरणं नास्ति तथात्रापि केवलज्ञानावरणे सत्यप्येकदेशक्षयोपशमज्ञानापेक्षया नास्त्यावरणम् । यावतांशेन निरावरणा रागादिरहितत्वेन शुद्धा च तावतांशेन मोक्षकारणं भवति । तत्र शुद्धपारिणामिकभावरूपं परमात्मद्रव्यं ध्येयं भवति, तच्च तस्मादन्तरात्मध्यानावस्थाविशेषात्कथंचिद्भिन्नम् । यदैकान्तेनाभिन्नं भवति तदा मोक्षेऽपि ध्यानं प्राप्नोति, अथवास्य ध्यानपर्यायस्य विनाशे सति तस्य पारिणामिकभावस्यापि विनाशः प्राप्नोति । एवं बहिरात्मान्तरात्मपरमात्मकथनरूपेण मोक्षमार्गो ज्ञातव्यः । अथ परमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां भेदरत्नत्रयरूपाणां मेलापकेऽपि, यदभेदरत्नत्रयात्मकं निर्विकल्पसमाधिलक्षणमात्मज्ञानं, निश्चयेन तदेव मुक्तिकारणमिति प्रतिपादयति – **जं अण्णाणी कम्मं खवेदि** निर्विकल्पसमाधिरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकविशिष्टभेदज्ञानाभावादज्ञानी जीवो यत्कर्म क्षपयति । काभिः करणभूताभिः । **भवसयसहस्सकोडीहिं** भवशतसहस्रकोटिभिः । **तं णाणी तिहिं गुत्तो** तत्कर्म ज्ञानी जीवस्त्रिगुप्तिगुप्तः सन् **खवेदि उस्सासमेत्तेण**

टीका :– जो कर्म (अज्ञानीको) क्रमपरिपाटीसे तथा अनेक प्रकारके बालतपादिरूप उद्यमसे पकते हुए, रागद्वेषको ग्रहण किया होनेसे सुखदुःखादि विकारभावरूप परिणमित होनेसे पुनः संतानको आरोपित करता जाय इसप्रकार, लक्षकोटिभवों द्वारा चाहे जिस प्रकार (महा कष्टसे) अज्ञानी पार कर जाता है, वही कर्म, (ज्ञानीको स्यात्कारकेतन आगमज्ञान, तत्वार्थश्रद्धान और संयतत्वके युगपत्पनेके अतिशयप्रसादसे प्राप्त की हुई शुद्धज्ञानमय आत्मतत्वकी अनुभूति जिसका लक्षण है ऐसे ज्ञानीपनके सद्भावके कारण काय-वचन-मनके कर्मोंके [1]उपरमसे त्रिगुप्तिता प्रवर्तमान होनेसे प्रचण्ड उद्यम से पकता हुआ, रागद्वेषके छोड़नेसे समस्त सुखदुःखादि विकार अत्यन्त निरस्त हुआ होनेसे पुनः संतानको आरोपित न करता जाय इसप्रकार उच्छ्वासमात्रमें ही लीलासे ही ज्ञानी नष्ट कर देता है ।

इससे आगमज्ञान, तत्वार्थश्रद्धान और संयतत्वका युगपत्पना होनेपर भी आत्मज्ञानको ही मोक्षमार्गका साधकतम संमत करना ।

[1] उपरम=विराम, अटक जाना वह, रुक जाना वह; [ज्ञानीके ज्ञानीपनके कारण काय-वचन-मन संबंधी कार्य रुक जानेसे त्रिगुप्तता प्रवर्तती है ।]

त्वात् प्रचण्डोपक्रमपच्यमानमपहस्तितरागद्वेषतया दूरनिरस्तसमस्तसुखदुःखादिविकारः पुनरनारोपितसंतानमुच्छ्वासमात्रेणैव लीलयैव पातयति । अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्येऽप्यात्मज्ञानमेव मोक्षमार्गसाधकतममनुमन्तव्यम् ॥२३८॥

अथात्मज्ञानशून्यस्य सर्वागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्यमप्यकिंचित्करमित्यनुशास्ति –

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो ।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि ।। २३९ ।।

परमाणुप्रमाणं वा मूर्च्छा देहादिकेषु यस्य पुनः ।
विद्यते यदि स सिद्धिं न लभते सर्वागमधरोऽपि ।। २३९ ।।

यदि करतलामलकीकृतसकलागमसारतया भूतभवद्भावि च स्वोचितपर्यायविशिष्टमशेषद्रव्यजातं जानन्तमात्मानं जानन् श्रद्दधानः संयमयंश्चागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्येऽपि मनाङ्मोहमलोपलिप्तत्वात् यदा शरीरादिमूर्च्छोपरक्ततया निरुपरागोपयोगपरिणतं कृत्वा ज्ञानात्मानमात्मानं नानुभवति तदा तावन्मात्रमोहमलकलङ्क-

---

संयतत्वानां यौगपद्यमप्यकिंचित्करमित्युपदिशति – **परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो विज्जदि जदि** परमाणुमात्रं वा मूर्च्छा देहादिकेषु विषयेषु यस्य पुरुषस्य पुनर्विद्यते यदि चेत्, **सो सिद्धिं ण लहदि** स सिद्धिं मुक्तिं न लभते । कथंभूतः । **सव्वागमधरो वि** सर्वागमधरोऽपीति । अयमत्रार्थः– सर्वागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्ये सति यस्य देहादिविषये स्तोकमपि

गाथा २३९

अन्वयार्थ :– **[पुनः]** और **[यदि]** यदि **[यस्य]** जिसके **[देहादिकेषु]** शरीरादिके प्रति **[परमाणुप्रमाणं वा]** परमाणुमात्र भी **[मूर्च्छा]** मूर्च्छा **[विद्यते]** वर्तती हो तो **[सः]** वह **[सर्वागमधरः अपि]** भले ही सर्वागमका धारी हो तथापि **[सिद्धिं न लभते]** सिद्धिको प्राप्त नहीं होता ।

टीका :– सकल आगमके सारको हस्तामलकवत् करनेसे (हथेलीमें रक्खे हुए आंवलेके समान स्पष्ट ज्ञान होनेसे) जो पुरुष भूत-वर्तमान-भावी [1]स्वोचित पर्यायोंके साथ अशेष द्रव्यसमूहको जाननेवाले आत्माको जानता है, श्रद्धान करता है और संयमित रखता है, उस पुरुषके आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्वका युगपत्पना होनेपर भी, यदि वह किंचित्मात्र भी मोहमलसे लिप्त होनेसे शरीरादिके प्रति (तत्संबंधी)

---

[1] स्वोचित=अपनेको उचित, अपने-अपने योग्य । [आत्माका स्वभाव त्रिकालकी स्वोचित पर्यायों सहित समस्त द्रव्योंको जानना है ।]

अणुमात्र पण मूर्छा तणो सद्भाव जो देहादिके ।
तो सर्व आगमधर भले पण नव लहे सिद्धत्वने ।। २३९ ।।

कीलिकाकीलितैः कर्मभिरविमुच्यमानो न सिद्ध्यति। अत आत्मज्ञानशून्यमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यमप्यकिंचित्करमेव ॥ २३९ ॥

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यं साधयति –

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो जिदकसाओ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ॥ २४० ॥

पञ्चसमितस्त्रिगुप्तः पञ्चेन्द्रियसंवृतो जितकषायः।
दर्शनज्ञानसमग्रः श्रमणः स संयतो भणितः ॥ २४० ॥

यः खल्वनेकान्तकेतनागमज्ञानबलेन सकलपदार्थज्ञेयाकारकरम्बितविशदैकज्ञानाकारमात्मानं श्रद्दधानोऽनुभवंश्चात्मन्येव नित्यनिश्चलां वृत्तिमिच्छन् समितिपञ्चकाङ्कुशितप्रवृत्तिप्रवर्तितसंयमसाधनीकृतशरीरपात्रः क्रमेण निश्चलनिरुद्धपंचेन्द्रियद्वारतया समुपरतकायवाङ्मनोव्यापारो भूत्वा चिद्वृत्तेः परद्रव्यचङ्क्रमणनिमित्तमत्यन्तमात्मना सममन्योन्यसंवलनादेकीभूतमपि स्वभावभेदात्परत्वेन निश्चित्यात्मनैव कुशलो मल्ल इव

गुनिर्भरं निष्पीड्य निष्पीड्य कषायचक्रमक्रमेण जीवं त्याजयति, स खलु सकलपरद्रव्य-शून्योऽपि विशुद्धदृशिज्ञप्तिमात्रस्वभावभूतावस्थितात्मतत्त्वोपजातनित्यनिश्चलवृत्तितया साक्षात्संयत एव स्यात् । तस्यैव चागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यं सिद्ध्यति ॥ २४० ॥

अथास्य सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यसंयतस्य किंलक्षणमित्यनुशास्ति –

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो ।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥ २४१ ॥

समशत्रुबन्धुवर्गः समसुखदुःखः प्रशंसानिन्दासमः ।
समलोष्टकाञ्चनः पुनर्जीवितमरणे समः श्रमणः ॥ २४१ ॥

[जि… [illegible]

संयमः सम्यग्दर्शनज्ञानपुरःसरं चारित्रं, चारित्रं धर्मः, धर्मः साम्यं, साम्यं मोहक्षोभविहीनः आत्मपरिणामः । ततः संयतस्य साम्यं लक्षणम् । तत्र शत्रुबन्धुवर्गयोः सुखदुःखयोः प्रशंसानिन्दयोः लोष्टकाञ्चनयोर्जीवितमरणयोश्च समम् अयं मम परोऽयं स्वः, अयमाह्लादोऽयं परितापः, इदं ममोत्कर्षणमिदमपकर्षणमयं ममाकिञ्चित्कर इदमुपकारकमिदं ममात्मधारणमयमत्यन्तविनाश इति मोहाभावात् सर्वत्राप्यनुदितरागद्वेषद्वैतस्य, सततमपि विशुद्धदृष्टिज्ञप्तिस्वभावमात्मानमनुभवतः, शत्रुबन्धुसुखदुःखप्रशंसानिन्दालोष्टकाञ्चनजीवितमरणानि निर्विशेषमेव ज्ञेयत्वेनाक्रम्य ज्ञानात्मन्यात्मन्यचलितवृत्तेर्यत्किल

इत्युपदिशति कोऽर्थः इति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति। एवं प्रश्नोत्तरपातनिकाप्रस्तावे क्वापि क्वापि यथासंभवमितिशब्दस्यार्थो ज्ञातव्यः– स श्रमणः संयतस्तपोधनो भवति। यः किंविशिष्टः । शत्रुबन्धुसुखदुःखनिन्दाप्रशंसालोष्टकाञ्चनजीवितमरणेषु समः समचित्तः इति । ततः एतदायाति – शत्रुबन्धुसुखदुःखनिन्दाप्रशंसालोष्टकाञ्चनजीवितमरणसमताभावनापरिणतनिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्ननिर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतपरिणतिस्वरूपं यत्परमसाम्यं तदेव

जिसको समता है, [**समलोष्टकाञ्चनः**] जिसे लोष्ट (मिट्टीका ढेला) और सुवर्ण समान है, [**पुनः**] तथा [**जीवितमरणे समः**] जीवन-मरणके प्रति जिसको समता है, वह [**श्रमणः**] श्रमण है ।

टीका :– संयम, सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वक चारित्र है; चारित्र धर्म है; धर्म साम्य है; साम्य मोहक्षोभ रहित आत्मपरिणाम है । इसलिये संयतका, साम्य लक्षण है ।

वहाँ, (१) शत्रु-बंधुवर्गमें, (२) सुख-दुःखमें, (३) प्रशंसा-निन्दामें, (४) मिट्टीके ढेले और सोनेमें, (५) जीवित-मरणमें एक ही साथ, (१) 'यह मेरा पर (शत्रु) है, यह स्व (स्वजन) है;' (२) 'यह आह्लाद है, यह परिताप है,' (३) 'यह मेरा उत्कर्षण (कीर्ति) है, यह अपकर्षण (अकीर्ति) है,' (४) 'यह मुझे अकिंचित्कर है, यह उपकारक (उपयोगी) है,' (५) 'यह मेरा स्थायित्व है, यह अत्यन्त विनाश है' इसप्रकार मोहके अभावके कारण सर्वत्र जिसके रागद्वेषका द्वैत प्रगट नहीं होता, जो सतत विशुद्धदर्शनज्ञानस्वभाव आत्माका अनुभव करता है, और (इसप्रकार) शत्रु-बन्धु, सुख-दुःख, प्रशंसा-निन्दा, लोष्ट-कांचन और जीवित-मरणको निर्विशेषतया ही (अन्तरके बिना ही) ज्ञेयरूप जानकर ज्ञानात्मक आत्मामें जिसकी परिणति अचलित हुई है; उस पुरुषको वास्तवमें जो सर्वतः साम्य है वह (साम्य) संयतका लक्षण समझना चाहिये – कि जिस संयतके आत्मज्ञान-तत्त्वार्थ-

सर्वतः साम्यं तत्सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यस्य संयतस्य लक्षणमालक्षणीयम् ॥ २४१ ॥

अथेदमेव सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यसंयतत्वमैकाग्र्यलक्षणश्रामण्यापरनाम मोक्षमार्गत्वेन समर्थयति —

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु ।
एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं ॥२४२॥

दर्शनज्ञानचरित्रेषु त्रिषु युगपत्समुत्थितो यस्तु ।
ऐकाग्र्यगत इति मतः श्रामण्यं तस्य परिपूर्णम् ॥ २४२ ॥

अथानैकाग्र्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटयति —

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज ।
जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥ २४३ ॥

मुह्यति वा रज्यति वा द्वेष्टि वा द्रव्यमन्यदासाद्य ।
यदि श्रमणोऽज्ञानी बध्यते कर्मभिर्विविधैः ॥ २४३ ॥

यो हि न खलु ज्ञानात्मानमात्मानमेकमग्रं भावयति, सोऽवश्यं ज्ञेयभूतंद्रव्यमन्यदासीदति । तदासाद्य च ज्ञानात्मात्मज्ञानाद्भ्रष्टः स्वयमज्ञानीभूतो मुह्यति वा, रज्यति वा, द्वेष्टि वा; तथाभूतश्च बध्यत एव, न तु विमुच्यते । अत अनैकाग्र्यस्य न मोक्षमार्गत्वं सिद्ध्येत् ॥ २४३ ॥

[illegible] तस्य मोक्षाभावं दर्शयति — मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज जदि मुह्यति वा, रज्यति वा, द्वेष्टि वा, यदि चेत् । किं कृत्वा । द्रव्यमन्यदासाद्य प्राप्य । स कः । समणो [illegible] । तदा काले अण्णाणी अज्ञानी भवति । अज्ञानी सन् बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं [illegible] कर्मभिर्विविधैरिति । तथाहि — यो निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेनैकाग्रो भूत्वा स्वात्मानं न जानाति [illegible] । ततश्चिदानन्दैकनिजस्वभावाच्च्युतो भवति । ततश्च रागद्वेषमोहैः [illegible] । [illegible] कर्मणा बध्यत इति । ततः कारणान्मोक्षार्थिभिरेकाग्रत्वेन स्वस्वरूपं

[illegible] अग्र-आत्मामें परिणति बांधकर (लीन करके) अचलरूपसे अवलम्बन [illegible] (लोक) उल्लसित चेतनाके अतुल विकासको अल्पकालमें [illegible]

[illegible] कि — अनेकाग्रताके मोक्षमार्गपना घटित नहीं होता [illegible] मोक्षमार्ग नहीं है):—

गाथा २४३

अन्वयार्थ — [यदि] यदि [श्रमणः] श्रमण, [अन्यत् द्रव्यम् आसाद्य] [illegible] करके [अज्ञानी] अज्ञानी होता हुआ, [मुह्यति वा] मोह [illegible] [रज्यति वा] राग करता है, [द्वेष्टि वा] अथवा द्वेष करता है, [illegible] [विविधैः कर्मभिः] विविध कर्मोंसे [बध्यते] बंधता है।

[illegible] श्रमण अज्ञानी [illegible] ।
[illegible] ॥ २४३ ॥

यस्तु ज्ञानात्मानमात्मानमेकमग्रं भावयति, स न ज्ञेयभूतं द्रव्यमन्यदासीदति। तदनासाद्य च ज्ञानात्मात्मज्ञानादभ्रष्टः स्वयमेव ज्ञानीभूतस्तिष्ठन्न मुह्यति, न रज्यति, न द्वेष्टि; तथाभूतः सन् मुच्यत एव, न तु वध्यते। अत ऐकाग्र्यस्यैव मोक्षमार्गत्वं सिद्धयेत् ॥२४४॥ – इति मोक्षमार्गप्रज्ञापनम् ॥

अथ शुभोपयोगप्रज्ञापनम्। तत्र शुभोपयोगिनः श्रमणत्वेनान्वाचिनोति—

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥२४५॥

श्रमणाः शुद्धोपयुक्ताः शुभोपयुक्ताश्च भवन्ति समये।
तेष्वपि शुद्धोपयुक्ता अनास्रवाः सास्रवाः शेषाः ॥२४५॥

पुनरयोगिचरमसमये भविष्यति, तेन कारणेनेदानीमस्माकं सम्यक्त्वभावनया भेदज्ञानभावनया च पूर्यते, चारित्रं पश्चाद्भविष्यतीति। नैवं वक्तव्यम्। अभेदनयेन ध्यानमेव चारित्रं तच्च ध्यानं केवलिनामुपचारेणोक्तं, चारित्रमप्युपचारेणेति। यत्पुनः समस्तरागादिविकल्पजालरहितं शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वकं वीतरागछद्मस्थचारित्रं तदेव कार्यकारीति। कस्मादिति चेत्। तेनैव केवलज्ञानं जायते यतस्तस्माच्चारित्रे तात्पर्यं कर्तव्यमिति भावार्थः। किंच उत्सर्गव्याख्यानकाले श्रामण्यं व्याख्यातमत्र पुनरपि किमर्थमिति परिहारमाह – तत्र सर्वपरित्यागलक्षण उत्सर्ग एव मुख्यत्वेन च मोक्षमार्गः, अत्र तु श्रामण्यव्याख्यानमस्ति, परं किंतु श्रामण्यं मोक्षमार्गो भवतीति मुख्यत्वेन विशेषोऽस्ति ॥ २४४ ॥ एवं श्रामण्यापरनाममोक्षमार्गोपसंहारमुख्यत्वेन चतुर्थस्थले गाथाद्वयं

टीका :– जो ज्ञानात्मक आत्मारूप एक अग्र (विषय) को भाता है वह ज्ञेयभूत अन्य द्रव्यका आश्रय नहीं करता; और उसका आश्रय नहीं करके ज्ञानात्मक आत्माके ज्ञानसे अभ्रष्ट ऐसा वह स्वयमेव ज्ञानीभूत रहता हुआ, मोह नहीं करता, राग नहीं करता, द्वेष नहीं करता, और ऐसा (अमोही, अरागी, अद्वेषी) वर्तता हुआ (वह) मुक्त ही होता है, परन्तु बंधता नहीं है।

इससे एकाग्रताको ही मोक्षमार्गत्व सिद्ध होता है ॥२४४॥

इसप्रकार मोक्षमार्ग प्रज्ञापन समाप्त हुआ।

अब, शुभोपयोगका प्रज्ञापन करते हैं। उसमें (प्रथम), शुभोपयोगियोंको श्रमणरूपमें गौणतया बतलाते हैं।

शुद्धोपयोगी श्रमण छे, शुभयुक्त पण शास्त्रे कह्या।
शुद्धोपयोगी छे निरास्रव, शेष सास्रव जाणवा ॥२४५॥

ये खलु श्रामण्यपरिणतिं प्रतिज्ञायापि, जीवितकषायकणतया, समस्तपरद्रव्यनिवृत्तिप्रवृत्तसुविशुद्धदृशिज्ञप्तिस्वभावात्मतत्त्ववृत्तिरूपां शुद्धोपयोगभूमिकामधिरोढुं न क्षमन्ते, ते तदुपकण्ठनिविष्टाः कषायकुण्ठीकृतशक्तयो, नितान्तमुत्कण्ठुलमनसः श्रमणाः किं भवेयुर्न

गतम् । अथ शुभोपयोगिनां साक्षाद्व्यवहारेण श्रमणत्व व्यवस्थापयति [illegible] । समयम्हि समये परमागमे । के भवन्ति । समणा श्रमणास्तपोधनाः । किंविशिष्टाः । सुद्धुवजुत्ता शुद्धोपयोगयुक्ताः शुद्धोपयोगिन इत्यर्थः । सुहोवजुत्ता य न केवलं शुद्धोपयोगयुक्ताः शुभोपयोगयुक्ताश्च । चकारोऽत्र अन्वाचयार्थे गौणार्थे ग्राह्यः । तत्र शुद्धोपयोगिनः [illegible] एव जीवा भण्यन्ते, व्यवहारेण चतुर्थगुणस्थानवर्तिनः [illegible] शुभोपयोगिनां तु [illegible] । [illegible]

अथ शुभोपयोगिश्रमणानां प्रवृत्तिमुपदर्शयति –

वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती ।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रागचरियम्हि ॥ २४७ ॥

वन्दननमस्करणाभ्यामभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिः ।
श्रमणेषु श्रमापनयो न निन्दिता रागचर्यायाम् ॥ २४७ ॥

नैव निषिद्धा । क्व । रागचरियम्हि शुभरागचर्यायां सरागचारित्रावस्थायाम् । का न निन्दिता । वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती वन्दननमस्काराभ्यां सहाभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिप्रवृत्तिः । समणेसु समावणओ श्रमणेषु श्रमापनयः रत्नत्रयभावनाभिघातकश्रमस्य खेदस्य विनाश इति । अनेन

भावार्थ :– मात्र शुद्धात्मपरिणतिरूप रहनेमें असमर्थ होनेके कारण जो श्रमण, पर ऐसे अर्हन्तादिके प्रति भक्तिसे तथा पर ऐसे आगमपरायण जीवोंके प्रति वात्सल्यसे चंचल [अस्थिर] हैं उस श्रमणके शुभोपयोगी चारित्र है, क्योंकि शुद्धात्मपरिणति परद्रव्यप्रवृत्ति [परद्रव्यमें प्रवृत्ति] के साथ मिली हुई है, अर्थात् वह शुभभावके साथ मिश्रित है ॥ २४६ ॥

अब, शुभोपयोगी श्रमणोंकी प्रवृत्ति बतलाते हैं :–

गाथा २४७

अन्वयार्थ :– [श्रमणेषु] श्रमणोंके प्रति [वन्दननमस्करणाभ्यां] वन्दन – नमस्कार सहित [अभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिः] [1]अभ्युत्थान और [2]अनुगमनरूप [3]विनीत प्रवृत्ति करना तथा [श्रमापनयः] उनका श्रम दूर करना वह [रागचर्यायाम्] रागचर्यामें [न निन्दिता] निन्दित नहीं है ।

टीका :– शुभोपयोगियोंके शुद्धात्माके अनुरागयुक्त चारित्र होता है, इसलिये जिनने शुद्धात्मपरिणति प्राप्त की है ऐसे श्रमणोंके प्रति जो वन्दन-नमस्कार-अभ्युत्थान-अनुगमन-

---

[1] अभ्युत्थान = [illegible] ।

[2] अनुगमन = [illegible] ।

[3] [illegible], विनय ।

श्रमणो प्रति वंदन, नमन, अनुगमन, अभ्युत्थान ने ।
वळी श्रमनिवारण छे न निंदित रागयुत चर्या विषे ॥ २४७ ॥

अनुजिघृक्षापूर्वकदर्शनज्ञानोपदेशप्रवृत्तिः शिष्यसंग्रहणप्रवृत्तिस्तत्पोषणप्रवृत्तिर्जिनेन्द्रपूजोपदेशप्रवृत्तिश्च शुभोपयोगिनामेव भवन्ति, न शुद्धोपयोगिनाम् ।। २४८ ।।

अथ सर्वा एव प्रवृत्तयः शुभोपयोगिनामेव भवन्तीत्यवधारयति –

उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स ।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से ।। २४९ ।।

उपकरोति योऽपि नित्यं चातुर्वर्णस्य श्रमणसंघस्य ।
कायविराधनरहितं सोऽपि सरागप्रधानः स्यात् ।। २४९ ।।

ननु शुभोपयोगिनामपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावना दृश्यते, शुद्धोपयोगिनामपि क्वापि काले शुभोपयोगभावना दृश्यते, श्रावकाणामपि सामायिकादिकाले शुद्धभावना दृश्यते, तेषां कथं विशेषो भेदो ज्ञायत इति । परिहारमाह – युक्तमुक्तं भवता, परं किंतु ये प्रचुरेण शुभोपयोगेन वर्तन्ते ते यद्यपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावनां कुर्वन्ति तथापि शुभोपयोगिन एव भण्यन्ते । येऽपि शुद्धोपयोगिनस्ते यद्यपि क्वापि काले शुभोपयोगेन वर्तन्ते तथापि शुद्धोपयोगिन एव । कस्मात् । बहुपदस्य प्रधानत्वादाम्रवननिम्बवनवदिति ।। २४८ ।। अथ काश्चिदपि याः प्रवृत्तयस्ताः शुभोपयोगिनामेवेति नियमति – **उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स** उपकरोति योऽपि नित्यं । कस्य । चातुर्वर्णस्य श्रमणसंघस्य । अत्र श्रमणशब्देन श्रमणशब्दवाच्या ऋषिमुनियत्यनगारा ग्राह्याः । "देशप्रत्यक्षवित्केवलभृदिहमुनिः स्यादृषिः प्रसृतर्द्धिरारूढः श्रेणियुग्मेऽजनि यतिरनगारोऽपरः साधुवर्गः ।

टीका :– अनुग्रह करनेकी इच्छापूर्वक दर्शनज्ञानके उपदेशकी प्रवृत्ति, शिष्यग्रहणकी प्रवृत्ति, उनके पोषणकी प्रवृत्ति और जिनेन्द्रपूजनके उपदेशकी प्रवृत्ति शुभोपयोगियोंके ही होती है, शुद्धोपयोगियोंके नहीं ।। २४८ ।।

अब, ऐसा निश्चित करते हैं कि सभी प्रवृत्तियाँ शुभोपयोगियोंके ही होती हैं :–

गाथा २४९

अन्वयार्थ :– [यः अपि] जो कोई (श्रमण) [नित्यं] सदा [कायविराधनरहितं] (छह) कायकी विराधनासे रहित [चातुर्वर्णस्य] चारप्रकारके [श्रमणसंघस्य] श्रमण संघका [उपकरोति] उपकार करता है, [सः अपि] वह भी [सरागप्रधानः स्याद्] रागकी प्रधानतावाला है ।

वण जीवकायविराधना उपकार जे नित्ये करे ।
चउविध साधुसंघने, ते श्रमण रागप्रधान छे ।। २४९ ।।

प्रतिज्ञातसंयमत्वात् षट्कायविराधनरहिता या काचनापि शुद्धात्मवृत्तित्राणनिमित्ता चातुर्वर्णस्य श्रमणसंघस्योपकारकरणप्रवृत्तिः सा सर्वापि रागप्रधानत्वात् शुभोपयोगिनामेव भवति, न कदाचिदपि शुद्धोपयोगिनाम् ॥ २४९ ॥

अथ प्रवृत्तेः संयमविरोधित्वं प्रतिषेधयति –

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो ।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥ २५० ॥

यदि करोति कायखेदं वैयावृत्त्यर्थमुद्यतः श्रमणः ।
न भवति भवत्यगारी धर्मः स श्रावकाणां स्यात् ॥ २५० ॥

यो हि परेषां शुद्धात्मवृत्तित्राणाभिप्रायेण वैयावृत्त्यप्रवृत्त्या स्वस्य संयमं विराधयति, स गृहस्थधर्मानुप्रवेशात् श्रामण्यात् प्रच्यवते । अतो या काचन प्रवृत्तिः सा सर्वथा संयमाविरोधेनैव विधातव्या । प्रवृत्तावपि संयमस्यैव साध्यत्वात् ।। २५० ।।

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो यदि चेत् करोति कायखेदं षट्कायविराधनाम् । कथंभूतः सन् । वैयावृत्त्यार्थमुद्यतः । समणो ण हवदि तदा श्रमणस्तपोधनो न भवति । तर्हि किं भवति । हवदि अगारी अगारी गृहस्थो भवति । कस्मात् । धम्मो सो सावयाणं से षट्कायविराधनां कृत्वा योऽसौ धर्मः स श्रावकाणां स्यात्, न च तपोधनानामिति । इदमत्र तात्पर्यम् – योऽसौ स्वशरीरपोषणार्थं शिष्यादिमोहेन वा सावद्यं नेच्छति तस्येदं व्याख्यानं शोभते, यदि पुनरन्यत्र सावद्यमिच्छति वैयावृत्त्यादिस्वकीयावस्थायोग्ये धर्मकार्ये नेच्छति तदा तस्य सम्यक्त्वमेव नास्तीति ।। २५० ।। अथ

गाथा २५०

अन्वयार्थ :– [**यदि**] यदि (श्रमण) [**वैयावृत्यर्थम् उद्यतः**] वैयावृत्तिके लिये उद्यमी वर्तता हुआ [**कायखेदं**] छय कायको पीड़ित [**करोति**] करता है तो वह [**श्रमणः न भवति**] श्रमण नहीं है, [**अगारी भवति**] गृहस्थ है; [क्योंकि] [**सः**] वह [छह कायकी विराधना सहित वैयावृत्ति] [**श्रावकाणां धर्मः स्यात्**] श्रावकोंका धर्म है ।

टीका :– जो [श्रमण] दूसरेके शुद्धात्मपरिणतिकी रक्षा हो ऐसे अभिप्रायसे वैयावृत्यकी प्रवृत्ति करता हुआ अपने संयमकी विराधना करता है, वह गृहस्थधर्ममें प्रवेश कर रहा होनेसे श्रामण्यसे च्युत होता है । इससे [ऐसा कहा है कि] जो भी प्रवृत्ति हो वह सर्वथा संयमके साथ विरोध न आये इसप्रकार ही करनी चाहिये, क्योंकि प्रवृत्तिमें भी संयम ही साध्य है ।

भावार्थ :– जो श्रमण छह कायकी विराधना सहित वैयावृत्यादि प्रवृत्ति करता है, वह गृहस्थधर्ममें प्रवेश करता है; इसलिये श्रमणको वैयावृत्यादिकी प्रवृत्ति इसप्रकार करनी चाहिये कि जिससे संयमकी विराधना न हो ।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि – जो स्वशरीर पोषणके लिये या शिष्यादिके मोहसे सावद्यको नहीं चाहता उसे तो वैयावृत्यादिमें भी सावद्यकी इच्छा नहीं करनी चाहिये, वह शोभास्पद है । किन्तु जो अन्यत्र तो सावद्यकी इच्छा करे किन्तु अपनी अवस्थाके योग्य वैयावृत्यादि धर्मकार्यमें सावद्यको न चाहे उसके तो सम्यक्त्व ही नहीं है ।। २५० ।।

अथ प्रवृत्तेर्विषयविभागं दर्शयति –

जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं ।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ।। २५१ ।।

जैनानां निरपेक्षं साकारानाकारचर्यायुक्तानाम् ।
अनुकम्पयोपकारं करोतु लेपो यद्यप्यल्पः ।। २५१ ।।

यद्यप्यल्पलेपो भवति परोपकारे, तथापि शुभोपयोगिभिर्धर्मोपकारः कर्तव्य इत्युपदिशति – कुव्वदु करोतु । स कः कर्ता शुभोपयोगी पुरुषः । कं करोतु । अणुकंपयोवयारं अनुकम्पासहितोपकारं दयासहितं धर्मवात्सल्यम् । यदि किम् । लेवो जदि वि अप्पो "सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ" इति दृष्टान्तेन यद्यप्यल्पलेपः स्तोकसावद्यं भवति । केषां करोतु । जोण्हाणं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्ग-

---

अब प्रवृत्तिके विषयके दो विभाग बतलाते हैं [अर्थात् अब यह बतलाते हैं कि शुभोपयोगियोंको किसके प्रति उपकारकी प्रवृत्ति करना योग्य है और किसके प्रति नहीं] :–

गाथा २५१

अन्वयार्थ :– [**यद्यपि अल्पः लेपः**] यद्यपि अल्प लेप होता है तथापि [**साकारानाकारचर्यायुक्तानाम्**] साकार–अनाकार चर्यायुक्त [**जैनानां**] जैनोंका [**अनुकम्पया**] अनुकम्पासे [**निरपेक्षं**] निरपेक्षतया [**उपकारं करोतु**] (शुभोपयोग से) उपकार करो ।

टीका :– जो अनुकम्पापूर्वक परोपकारस्वरूप प्रवृत्ति उसके करनेसे यद्यपि अल्प लेप तो होता है, तथापि अनेकान्तके साथ मैत्रीसे जिनका चित्त पवित्र हुआ है ऐसे शुद्ध जैनोंके प्रति – जो कि शुद्धात्माके ज्ञान-दर्शनमें प्रवर्तमान [1] वृत्तिके कारण साकार- [2]अनाकार चर्यावाले हैं उनके प्रति, – शुद्धात्माकी उपलब्धिके अतिरिक्त अन्य सबकी अपेक्षा किये बिना ही, उस प्रवृत्तिके करनेका निषेध नहीं है; किन्तु अल्प लेप-

---

[1] वृत्ति=परिणति; वर्तन; वर्तना वह ।
[2] ज्ञान साकार है और दर्शन अनाकार है ।

छे अल्प लेप छतांय दर्शनज्ञानपरिणत जैनने ।
निरपेक्षतापूर्वक करो उपकार अनुकंपा वडे ।। २५१ ।।

या किलानुकम्पापूर्विका परोपकारलक्षणा प्रवृत्तिः सा खल्वनेकान्तमैत्रीपवित्रितचित्तेषु शुद्धेषु जैनेषु शुद्धात्मज्ञानदर्शनप्रवृत्तवृत्तितया साकारानाकारचर्यायुक्तेषु शुद्धात्मोपलम्भेतरसकलनिरपेक्षतयैवाल्पलेपाप्यप्रतिषिद्धा; न पुनरल्पलेपेति सर्वत्र सर्वथैवाप्रतिषिद्धा, तत्र तथाप्रवृत्त्याशुद्धात्मवृत्तित्राणस्य परात्मनोरनुपपत्तेरिति ।। २५१ ।।

अथ प्रवृत्तेः कालविभागं दर्शयति –

रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं ।
दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए ।। २५२ ।।

रोगेण वा क्षुधया तृष्णया वा श्रमेण वा रूढम् ।
दृष्ट्वा श्रमणं साधुः प्रतिपद्यतामात्मशक्त्या ।। २५२ ।।

परिणतजैनानाम् । कथम् । णिरवेक्खं निरपेक्षं शुद्धात्मभावनाविनाशकख्यातिपूजालाभवाञ्छारहितं यथा भवति । कथंभूतानां जैनानाम् । सागारणगारचरियजुत्ताणं सागारानागारचर्यायुक्तानां श्रावकतपोधनाचरणसहितानामित्यर्थः ।।२५१।। कस्मिन्प्रस्तावे वैयावृत्यं कर्तव्यमित्युपदिशति – पडिवज्जदु

वाली होनेसे सबके प्रति सभी प्रकारसे वह प्रवृत्ति अनिषिद्ध हो ऐसा नहीं है, क्योंकि वहाँ (अर्थात् यदि सबके प्रति सभी प्रकारसे की जाय तो) उस प्रकारकी प्रवृत्तिसे परके और निजके शुद्धात्मपरिणतिकी रक्षा नहीं हो सकती ।

भावार्थ :– यद्यपि अनुकम्पापूर्वक परोपकारस्वरूप प्रवृत्तिसे अल्प लेप तो होता है, तथापि यदि (१) शुद्धात्माकी ज्ञानदर्शनस्वरूप चर्यावाले शुद्ध जैनोंके प्रति, तथा (२) शुद्धात्माकी उपलब्धिकी अपेक्षासे ही, वह प्रवृत्ति की जाती हो तो शुभोपयोगीके उसका निषेध नहीं है । परन्तु, यद्यपि अनुकम्पापूर्वक परोपकारस्वरूप प्रवृत्तिसे अल्प ही लेप होता है तथापि (१) शुद्धात्माकी ज्ञानदर्शनरूप चर्यावाले शुद्ध जैनोंके अतिरिक्त दूसरोंके प्रति, तथा (२) शुद्धात्माकी उपलब्धिके अतिरिक्त अन्य किसी भी अपेक्षासे, वह प्रवृत्ति करनेका शुभोपयोगीके निषेध है, क्योंकि इसप्रकारसे परको या निजको शुद्धात्मपरिणतिकी रक्षा नहीं होती ।। २५१ ।।

अब, प्रवृत्तिके कालका विभाग बतलाते हैं (अर्थात् यह बतलाते हैं कि – शुभोपयोगी श्रमण को किस समय प्रवृत्ति करना योग्य है और किस समय नहीं) :–

आक्रांत देखी श्रमणने श्रम, रोग वा भूख, प्यासथी ।
साधु करो सेवा स्वशक्तिप्रमाण ए मुनिराजनी ।। २५२ ।।

यदा हि समधिगतशुद्धात्मवृत्तेः श्रमणस्य तत्प्रच्यावनहेतोः कस्याप्युपसर्गस्योपनिपातः स्यात्, स शुभोपयोगिनः स्वशक्त्या प्रतिचिकीर्षा प्रवृत्तिकालः । इतरस्तु स्वयं शुद्धात्मवृत्तेः समधिगमनाय केवलं निवृत्तिकाल एव ।। २५२ ।।

अथ लोकसंभाषणप्रवृत्तिं सनिमित्तविभागं दर्शयति –

प्रतिपद्यतां स्वीकरोतु । कया । आदसत्तीए स्वशक्त्या । स कः कर्ता । साहू रत्नत्रयभावनया स्वात्मानं साधयतीति साधुः । कम् । समणं जीवितमरणादिसमपरिणामत्वाच्छ्रमणस्तं श्रमणम् । दिट्ठा दृष्ट्वा । कथंभूतम् । रूढं रूढं व्याप्तं पीडितं कदर्थितम् । केन । रोगेण वा अनाकुलत्वलक्षणपरमात्मनो विलक्षणेनाकुलत्वोत्पादकेन रोगेण व्याधिविशेषेण वा, छुधाए क्षुधया, तण्हाए वा तृष्णया वा, समेण वा मार्गोपवासादिश्रमेण वा । अत्रेदं तात्पर्यम् – स्वस्थभावनाविघातकरोगादिप्रस्तावे वैयावृत्यं करोति, शेषकाले स्वकीयानुष्ठानं करोतीति, ।।२५२।। अथ शुभोपयोगिनां तपोधनवैयावृत्त्यनिमित्तं

गाथा २५२

अन्वयार्थ :– [**रोगेण वा**] रोगसे, [**क्षुधया**] क्षुधासे, [**तृष्णया वा**] तृषासे [**श्रमेण वा**] अथवा श्रमसे [**रूढम्**] आक्रांत [**श्रमणं**] श्रमणको [**दृष्ट्वा**] देखकर [**साधुः**] साधु [**आत्मशक्त्या**] अपनी शक्तिके अनुसार [**प्रतिपद्यताम्**] वैयावृत्यादि करो ।

टीका :– जब शुद्धात्मपरिणतिको प्राप्त श्रमणको, उससे च्युत करे ऐसा कारण – कोई भी उपसर्ग – आजाय, तब वह काल, शुभोपयोगीको अपनी शक्ति के अनुसार [१]प्रतिकार करनेकी इच्छारूप प्रवृत्तिका काल है; और उसके अतिरिक्तका काल अपनी शुद्धात्मपरिणतिकी प्राप्तिके लिये केवल निवृत्तिका काल है ।

भावार्थ :– जब शुद्धात्मपरिणतिको प्राप्त श्रमणके स्वस्थ भावका नाश करनेवाला रोगादिक आजाय तब उस समय शुभोपयोगी साधुको उनकी सेवाकी इच्छारूप प्रवृत्ति होती है, और शेष कालमें शुद्धात्मपरिणतिको प्राप्त करनेके लिये निज अनुष्ठान होता है ।। २५२ ।।

अब लोगोंके साथ बातचीत करनेकी प्रवृत्ति उसके निमित्तके विभाग सहित बतलाते हैं (अर्थात् शुभोपयोगी श्रमणको लोगोंके साथ बातचीतकी प्रवृत्ति किस निमित्तसे करना योग्य है और किस निमित्तसे नहीं, सो कहते हैं): –

---

[१] प्रतिकार=उपाय; सहाय ।

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं ।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा ।। २५३ ।।

वैयावृत्यनिमित्तं ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानाम् ।
लौकिकजनसंभाषा न निन्दिता वा शुभोपयुता ।। २५३ ।।

समधिगतशुद्धात्मवृत्तीनां ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानां वैयावृत्त्यनिमित्तमेव शुद्धात्मवृत्तिशून्यजनसंभाषणं प्रसिद्धं, न पुनरन्यनिमित्तमपि ।। २५३ ।।

अथैवमुक्तस्य शुभोपयोगस्य गौणमुख्यविभागं दर्शयति –

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं ।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं ॥ २५४ ॥

एषा प्रशस्तभूता श्रमणानां वा पुनर्गृहस्थानाम् ।
चर्या परेति भणिता तयैव परं लभते सौख्यम् ॥ २५४ ॥

स्तपोधनैर्गौणवृत्त्या श्रावकैस्तु मुख्यवृत्त्या कर्तव्य इत्याख्याति — **भणिदा** भणिता कथिता । का कर्मतापन्ना । **चरिया** चर्या चारित्रमनुष्ठानम् । किंविशिष्टा । **एसा** एषा प्रत्यक्षीभूता । पुनश्च किंरूपा । **पसत्थभूदा** प्रशस्तभूता धर्मानुरागरूपा । केषां संबन्धिनी । **समणाणं वा** श्रमणानां वा **पुणो घरत्थाणं** गृहस्थानां वा पुनरियमेव चर्या **परेत्ति** परा सर्वोत्कृष्टेति । **ताएव परं लहदि सोक्खं** तयैव शुभोपयोगचर्यया परंपरया मोक्षसुखं लभते गृहस्थ इति । तथाहि — तपोधनाः शेषतपोधनानां वैयावृत्त्यं कुर्वाणाः सन्तः कायेन किमपि निरवद्यवैयावृत्त्यं कुर्वन्ति; वचनेन धर्मोपदेशं च ।

गाथा २५४

अन्वयार्थ :— [**एषा**] यह [**प्रशस्तभूता**] प्रशस्तभूत [**चर्या**] चर्या [**श्रमणानां**] श्रमणोंके (गौण) होती है [**वा गृहस्थानां पुनः**] और गृहस्थोंके तो [**परा**] मुख्य होती है, [**इति भणिता**] ऐसा (शास्त्रोंमें) कहा है; [**तया एव**] उसीसे [**परं सौख्यं लभते**] (परम्परासे) गृहस्थ परम सौख्यको प्राप्त होता है ।

टीका :— इसप्रकार शुद्धात्मानुरागयुक्त प्रशस्तचर्यारूप जो यह शुभोपयोग वर्णित किया गया है वह यह शुभोपयोग, शुद्धात्माकी प्रकाशक सर्वविरतिको प्राप्त श्रमणोंके कषायकणके सद्भावके कारण प्रवर्तित होता हुआ, गौण होता है, क्योंकि वह शुभोपयोग शुद्धात्मपरिणतिसे विरुद्ध ऐसे रागके साथ संबंधवान है; और वह शुभोपयोग गृहस्थोंके तो, सर्वविरतिके अभावसे [1]शुद्धात्मप्रकाशनका अभाव होनेसे कषायके सद्भावके कारण प्रवर्तमान होता हुआ भी, मुख्य है, क्योंकि — जैसे ईंधनको स्फटिकके संपर्कसे सूर्यके तेजका अनुभव होता है (और इसलिये वह क्रमशः जल उठता है) उसीप्रकार — गृहस्थको रागके संयोगसे शुद्धात्माका अनुभव होता है, और (इसलिये वह शुभोपयोग) क्रमशः परम निर्वाणसौख्यका कारण होता है ।

[1] चारित्रदशामें प्रवर्तमान उग्र शुद्धात्मप्रकाशनको ही यहां शुद्धात्मप्रकाशन गिना है; सम्यग्दृष्टि गृहस्थके उसका अभाव है । शेष, दर्शनापेक्षासे तो सम्यग्दृष्टि गृहस्थके भी शुद्धात्माका प्रकाशन है ही ।

आ शुभ चर्या श ... होय गृहस्थने ।
तेना वडे ज ... ॥ २५४ ॥

एवमेष शुद्धात्मानुरागयोगिप्रशस्तचर्यारूप उपवर्णितः शुभोपयोगः तदयंशुद्धात्मप्रकाशिकां समस्तविरतिमुपेयुषां कषायकणसद्भावात्प्रवर्तमानः शुद्धात्मवृत्तिविरुद्धरागसंगतत्वाद्गौणः श्रमणानां; गृहिणां तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्मप्रकाशनस्याभावात्कषायसद्भावात्प्रवर्तमानोऽपि, स्फटिकसंपर्केणार्कतेजस इवैधसां, रागसंयोगेन शुद्धात्मनोऽनुभवात्क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः ॥ २५४ ॥

अथ शुभोपयोगस्य कारणवैपरीत्यात् फलवैपरीत्यं साधयति –

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं ।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ॥ २५५ ॥

रागः प्रशस्तभूतो वस्तुविशेषेण फलति विपरीतम् ।
नानाभूमिगतानीह बीजानीव सस्यकाले ॥ २५५ ॥

शेषमौषधान्नपानादिकं गृहस्थानामधीनं, तेन कारणेन वैयावृत्त्यरूपो धर्मो गृहस्थानां मुख्यः, तपोधनानां गौणः । द्वितीयं च कारणं – निर्विकारचिच्चमत्कारभावनाप्रतिपक्षभूतेन विषयकषायनिमित्तोत्पन्नेनार्तरौद्रदुर्ध्यानद्वयेन परिणतानां गृहस्थानामात्माश्रितनिश्चयधर्मस्यावकाशो नास्ति, वैयावृत्त्यादिधर्मेण दुर्ध्यानवञ्चना भवति, तपोधनसंसर्गेण निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गोपदेशलाभो भवति । ततश्च परंपरया निर्वाणं लभन्ते इत्यभिप्रायः ॥ २५४ ॥ एवं शुभोपयोगितपोधनानां शुभानुष्ठान-

---

भावार्थ :– दर्शनापेक्षासे तो श्रमणको तथा सम्यग्दृष्टि गृहस्थको शुद्धात्माका ही आश्रय है, परन्तु चारित्रापेक्षासे श्रमणके मुनियोग्य शुद्धात्मपरिणति मुख्य होनेसे शुभोपयोग गौण है और सम्यग्दृष्टि गृहस्थके मुनियोग्य शुद्धात्मपरिणतिको प्राप्त न हो सकनेसे अशुभवंचनार्थ शुभोपयोग मुख्य है । सम्यग्दृष्टि गृहस्थके अशुभसे (-विशेष अशुद्ध परिणतिसे) छूटनेके लिये प्रवर्तमान जो यह शुभोपयोगका पुरुषार्थ वह भी शुद्धिका ही मन्दपुरुषार्थ है, क्योंकि शुद्धात्मद्रव्यके मंद आलम्बनसे अशुभ परिणति बदलकर शुभ परिणति होती है और शुद्धात्मद्रव्यके उग्र आलम्बनसे शुभपरिणति भी बदलकर शुद्धपरिणति होजाती है ॥ २५४ ॥

अब, ऐसा सिद्ध करते हैं कि शुभोपयोगको कारणकी विपरीततासे फलकी विपरीतता होती है :–

फल होय छे विपरीत वस्तुविशेषथी शुभरागने ।
निष्पत्ति विपरीत होय भूमिविशेषथी ज्यम बीजने ॥ २५५ ॥

यथैकेषामपि बीजानां भूमिवैपरीत्यान्निष्पत्तिवैपरीत्यं, तथैकस्यापि प्रशस्तरागलक्षणस्य शुभोपयोगस्य पात्रवैपरीत्यात्फलवैपरीत्यं कारणविशेषात्कार्यविशेषस्यावश्यंभावित्वात् ॥ २५५ ॥

अथ कारणवैपरीत्यफलवैपरीत्ये दर्शयति –

छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो ।
ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि ॥ २५६ ॥

छद्मस्थविहितवस्तुषु व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतः ।
न लभते अपुनर्भावं भावं सातात्मकं लभते ॥ २५६ ॥

कथनमुख्यतया गाथाष्टकेन द्वितीयस्थलं गतम् । इत ऊर्ध्वं गाथाषट्कपर्यन्तं पात्रापात्रपरीक्षामुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति । अथ शुभोपयोगस्य पात्रभूतवस्तुविशेषात्फलविशेषं दर्शयति – फलदि फलति, फलं ददाति । स कः । रागो रागः । कथंभूतः । पसत्थभूदो प्रशस्तभूतो दानपूजादिरूपः । किं फलति । विवरीदं विपरीतमन्यादृशं भिन्नभिन्नफलम् । केन करणभूतेन । वत्थुविसेसेण जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नपात्रभूतवस्तुविशेषेण । अत्रार्थे दृष्टान्तमाह – णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि नानाभूमिगतानीह बीजानि इव सस्यकाले धान्यनिष्पत्तिकाल इति । अयमत्रार्थः – यथा जघन्यमध्यमोत्कृष्टभूमिविशेषेण तान्येव बीजानि भिन्नभिन्नफलं प्रयच्छन्ति, तथा स एव बीजस्थानीयशुभोपयोगो भूमिस्थानीयपात्रभूतवस्तुविशेषेण भिन्नभिन्नफलं ददाति । तेन किं सिद्धम् । यदा पूर्वसूत्रकथितन्यायेन सम्यक्त्वपूर्वकः शुभोपयोगो भवति तदा मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति, परंपरया निर्वाणं च । नो चेत्पुण्यबन्धमात्रमेव ॥ २५५ ॥ अथ कारणवैपरीत्यात्फलमपि विपरीतं भवतीति

गाथा २५५

अन्वयार्थ :– [इह नानाभूमिगतानि बीजानि इव] जैसे इस जगतमें अनेक प्रकारकी भूमियोंमें पड़े हुए बीज [सस्यकाले] धान्यकालमें विपरीतरूपसे फलते हैं, उसीप्रकार [प्रशस्तभूतः रागः] प्रशस्तभूत राग [वस्तुविशेषेण] वस्तु-भेदसे (–पात्र भेदसे) [विपरीतं फलति] विपरीतरूपसे फलता है ।

टीका :– जैसे बीज ज्यों के त्यों होने पर भी भूमिकी विपरीततासे निष्पत्तिकी विपरीतता होती है, (अर्थात् अच्छी भूमिमें उसी बीजका अच्छा अन्न उत्पन्न होता है और खराब भूमिमें वही खराब होजाता है या उत्पन्न ही नहीं होता), उसीप्रकार

छद्मस्थ-अभिहित ध्यानदाने व्रतनियमपठनादिके ।
रत जीव मोक्ष लहे नहीं, बस भाव शातात्मक लहे ॥ २५६ ॥

शुभोपयोगस्य सर्वज्ञव्यवस्थापितवस्तुषु प्रणिहितस्य पुण्योपचयपूर्वकोऽपुनर्भावोपलम्भः किल फलं, तत्तु कारणवैपरीत्याद्विपर्यय एव। तत्र छद्मस्थव्यवस्थापितवस्तूनि कारणवैपरीत्यं; तेषु व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतत्वप्रणिहितस्य शुभोपयोगस्यापुनर्भावशून्यकेवलपुण्यापसदप्राप्तिः फलवैपरीत्यं तत्सुदेवमनुजत्वम् ।। २५६ ।।

तमेवार्थं द्रढयति – ण लहदि न लभते। स कः कर्ता। वदणियमज्झयणझाणदाणरदो व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतः। केषु विषये यानि व्रतादीनि। छदुमत्थविहिदवत्थुसु छद्मस्थविहितवस्तुषु अल्पज्ञानिपुरुषव्यवस्थापितपात्रभूतवस्तुषु। इत्थंभूतः पुरुषः कं न लभते। अपुणब्भावं अपुनर्भवशब्दवाच्यं मोक्षम्। तर्हि किं लभते। भावं सादप्पगं लहदि भावं सातात्मकं लभते। भावशब्देन सुदेवमनुष्यत्वपर्यायो ग्राह्यः। स च कथंभूतः। सातात्मकः सद्वेद्योदयरूप इति। तथाहि – ये केचन निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गं न जानन्ति, पुण्यमेव मुक्तिकारणं भणन्ति, ते छद्मस्थशब्देन गृह्यन्ते, न च गणधरदेवादयः। तैः छद्मस्थैरज्ञानिभिः शुद्धात्मोपदेशशून्यैर्ये दीक्षितास्तानि छद्मस्थविहितवस्तूनि भण्यन्ते। तत्पात्रसंसर्गेण यद्व्रतनियमाध्ययनदानादिकं करोति तदपि शुद्धात्मभावनानुकूलं न भवति, ततः कारणान्मोक्षं न लभते। सुदेवमनुष्यत्वं लभत इत्यर्थः ।। २५६ ।। अथ सम्यक्त्वव्रतरहितपात्रेषु

प्रशस्तरागस्वरूप शुभोपयोग ज्योंका त्यों होनेपर भी पात्रकी विपरीततासे फलकी विपरीतता होती है, क्योंकि कारणके भेदसे कार्यका भेद अवश्यम्भावी (अनिवार्य) है ।। २५५ ।।

अब कारणकी विपरीतता और फलकी विपरीतता बतलाते हैं :–

गाथा २५६

अन्वयार्थ :– [**छद्मस्थविहितवस्तुषु**] जो जीव छद्मस्थविहित वस्तुओंमें (छद्मस्थ-अज्ञानीके द्वारा कथित देव-गुरु-धर्मादिमें) [**व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतः**] व्रत-नियम-अध्ययन-ध्यान-दानमें रत होता है वह जीव [**अपुनर्भावं**] मोक्षको [**न लभते**] प्राप्त नहीं होता, (किन्तु) [**सातात्मकं भावं**] सातात्मक भावको [**लभते**] प्राप्त होता है।

टीका :– [1]सर्वज्ञस्थापित वस्तुओंमें युक्त शुभोपयोगका फल पुण्यसंचयपूर्वक मोक्षकी प्राप्ति है। वह फल, कारणकी विपरीतता होनेसे विपरीत ही होता है। वहाँ, छद्मस्थस्थापित वस्तुयें वे कारणविपरीतता है; उनमें व्रत-नियम-अध्ययन-ध्यान-दानरत-रूपसे युक्त शुभोपयोगका फल जो मोक्षशून्य केवल [2]पुण्यापसदकी प्राप्ति है वह फलकी विपरीतता है; वह फल सुदेव-मनुष्यत्व है ।। २५६ ।।

---

[1] सर्वज्ञस्थापित=सर्वज्ञ कथित।

[2] पुण्यापसद=पुण्य-अपसद; अधमपुण्य; हतपुण्य।

अथ कारणवैपरीत्यफलवैपरीत्ये एव व्याख्याति –

अविदिदपरमत्थेसु य विसयकसायाधिगेसु पुरिसेसु ।
जुट्ठं कदं व दत्तं फलदि कुदेवेसु मणुवेसु ॥ २५७ ॥

अविदितपरमार्थेषु च विषयकषायाधिकेषु पुरुषेषु ।
जुष्टं कृतं वा दत्तं फलति कुदेवेषु मनुजेषु ॥ २५७ ॥

यानि हि छद्मस्थव्यवस्थापितवस्तूनि कारणवैपरीत्यं; ते खलु शुद्धात्मपरिज्ञानशून्यतयानवाप्तशुद्धात्मवृत्तितया चाविदितपरमार्था विषयकषायाधिकाः पुरुषाः तेषु शुभोपयोगात्मकानां जुष्टोपकृतदत्तानां या केवलपुण्यापसदप्राप्तिः फलवैपरीत्यं; तत्कुदेवमनुजत्वम् ॥ २५७ ॥

भक्तानां कुदेवमनुजत्वं भवतीति प्रतिपादयति – फलदि फलति । केषु । कुदेवेसु मणुवेसु कुत्सितदेवेषु मनुजेषु । किं कर्तृ । जुट्ठं जुष्टं सेवा कृता, कदं व कृतं वा किमपि वैयावृत्त्यादिकम्, दत्तं दत्तं किमप्याहारादिकम् । केषु । पुरिसेसु पुरुषेषु पात्रेषु । किंविशिष्टेषु । अविदिदपरमत्थेसु य अविदितपरमार्थेषु च, परमात्मतत्त्वश्रद्धानज्ञानशून्येषु । पुनरपि किंरूपेषु । विसयकसायाधिगेसु विषयकषायाधिकेषु, विषयकषायाधीनत्वेन निर्विषयशुद्धात्मस्वरूपभावनारहितेषु इत्यर्थः ॥ २५७ ॥ अथ

अब (इस गाथामें भी) कारणविपरीतता और फलविपरीतता ही बतलाते हैं :–

गाथा २५७

अन्वयार्थ :– **[अविदितपरमार्थेषु]** जिन्होंने परमार्थको नहीं जाना है, **[च]** और **[विषयकषायाधिकेषु]** जो विषय – कषायमें अधिक हैं, **[पुरुषेषु]** ऐसे पुरुषोंके प्रति **[जुष्टं कृतं वा दत्तं]** सेवा, उपकार या दान **[कुदेवेषु मनुजेषु]** कुदेवरूपमें और कुमनुष्यरूपमें **[फलति]** फलता है ।

टीका :– जो छद्मस्थस्थापित वस्तुयें हैं वे कारणविपरीतता हैं; वे [विपरीत कारण] वास्तवमें [१] शुद्धात्मज्ञानसे शून्यताके कारण, 'परमार्थके अज्ञान' और [२] शुद्धात्मपरिणतिको प्राप्त न करनेसे 'विषयकषायमें अधिक' ऐसे पुरुष हैं । उनके प्रति शुभोपयोगात्मक जीवोंको – सेवा, उपकार या दान करनेवाले जीवोंको – जो केवल पुण्यापसदकी प्राप्ति वह फलविपरीतता है; वह [फल] कुदेवमनुष्यत्व है ॥२५७॥

परमार्थथी अनभिज्ञ, विषयकषायअधिक जनोपरे ।
उपकार-सेवा-दान सर्व कुदेवमनुजपणे फले ॥ २५७ ॥

अथ कारणवैपरीत्यात् फलमविपरीतं न सिध्यतीति श्रद्धापयति –

जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु ।
किह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति ॥ २५८ ॥

यदि ते विषयकषायाः पापमिति प्ररूपिता वा शास्त्रेषु ।
कथं ते तत्प्रतिबद्धाः पुरुषा निस्तारका भवन्ति ॥ २५८ ॥

विषयकषायास्तावत्पापमेव; तद्वन्तः पुरुषा अपि पापमेव तदनुरक्ता अपि पापानुरक्तत्वात् पापमेव भवन्ति । ततो विषयकषायवन्तः स्वानुरक्तानां पुण्यायापि न कल्प्यन्ते, कथं पुनः संसारनिस्तारणाय । ततो न तेभ्यः फलमविपरीतं सिद्ध्येत् ॥ २५८ ॥

अथाविपरीतफलकारणं कारणमविपरीतं दर्शयति –

उवरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु ।
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स ॥ २५९ ॥

उपरतपापः पुरुषः समभावो धार्मिकेषु सर्वेषु ।
गुणसमितितोपसेवी भवति स भागी सुमार्गस्य ॥ २५९ ॥

उपरतपापत्वेन, सर्वधर्मिमध्यस्थत्वेन, गुणग्रामोपसेवित्वेन च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रयौगपद्यपरिणतिनिवृत्तैकाग्र्यात्मकसुमार्गभागी, स श्रमणः स्वयं परस्य मोक्षपुण्यायतनत्वादविपरीतफलकारणं कारणमविपरीतं प्रत्येयम् ॥ २५९ ॥

दातृृणां पुण्यविनाशका एवेति ॥ २५८ ॥ अथ पात्रभूततपोधनलक्षणं कथयति – उपरतपापत्वेन, सर्वधार्मिकसमदर्शित्वेन, गुणग्रामसेवकत्वेन च स्वस्य मोक्षकारणत्वात्परेषां पुण्यकारणत्वाच्चेत्थंभूतगुणयुक्तः पुरुषः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यलक्षणनिश्चयमोक्षमार्गस्य भाजनं भवतीति ॥ २५९ ॥

विषयकषायवान् पुरुषरूप विपरीत कारणका फल अविपरीत नहीं होता ।) ॥२५८॥

अब अविपरीत फलका कारण ऐसा जो 'अविपरीत कारण' वह बतलाते हैं :–

गाथा २५९

अन्वयार्थ :– [उपरतपापः] जिसके पाप रुक गया है, [सर्वेषु धार्मिकेषु समभावः] जो सभी धार्मिकोंके प्रति समभाववान् है, और [गुणसमितितोपसेवी] जो गुणसमुदायका सेवन करनेवाला है, [सः पुरुषः] वह पुरुष [सुमार्गस्य] सुमार्गका [भागी भवति] भागी होता है । (अर्थात् सुमार्गवान् है)

टीका :– पापके रुक जानेसे सर्वधर्मियोंके प्रति स्वयं मध्यस्थ होनेसे और गुणसमूहका सेवन करनेसे जो श्रमण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके युगपत्पनेरूप परिणतिसे रचित एकाग्रतास्वरूप सुमार्गका भागी (सुमार्गशाली-सुमार्गका भाजन) है वह निजको और परको मोक्षका और पुण्यका आयतन (स्थान) है इसलिये वह (श्रमण) अविपरीत फलका कारण ऐसा 'अविपरीत कारण' है, ऐसी प्रतीति करनी चाहिये ॥ २५९ ॥

ते पुरुष जाण सुमार्गशाली, पाप-उपरम जेहने ।
समभाव ज्यां सौ धार्मिके, गुणसमूह सेवन जेहने ॥ २५९ ॥

अथाविपरीतफलकारणं कारणमविपरीतं व्याख्याति –

असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा ।
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ॥ २६० ॥

अशुभोपयोगरहिताः शुद्धोपयुक्ताः शुभोपयुक्ता वा ।
निस्तारयन्ति लोकं तेषु प्रशस्तं लभते भक्तः ॥ २६० ॥

अथ तेषामेव पात्रभूततपोधनानां प्रकारान्तरेण लक्षणमुपलक्षयति – शुद्धोपयोगशुभोपयोगपरिणतपुरुषाः पात्रं भवन्तीति । तद्यथा – निर्विकल्पसमाधिबलेन शुभाशुभोपयोगद्वयरहितकाले कदाचिद्वीतराग-चारित्रलक्षणशुद्धोपयोगयुक्ताः, कदाचित्पुनर्मोहद्वेषाशुभरागरहितकाले सरागचारित्रलक्षणशुभोप-योगयुक्ताः सन्तो भव्यलोकं निस्तारयन्ति, तेषु च भक्तो भव्यवरपुण्डरीकः प्रशस्तफलभूतं स्वर्गं लभते,

---

अब, अविपरीत फलका कारण, ऐसा जो 'अविपरीत कारण' है उसे विशेष समझाते हैं :–

गाथा २६०

अन्वयार्थ :– [**अशुभोपयोगरहिताः**] जो अशुभोपयोगरहित वर्तते हुए [**शुद्धोपयुक्ताः**] शुद्धोपयुक्त [**वा**] अथवा [**शुभोपयुक्ताः**] शुभोपयुक्त होते हैं, वे (श्रमण) [**लोकं निस्तारयन्ति**] लोगोंको तार देते हैं; (और) [**तेषु भक्तः**] उनके प्रति भक्तिवान जीव [**प्रशस्तं**] प्रशस्त (पुण्य) को [**लभते**] प्राप्त करता है ।

टीका : – यथोक्त लक्षणवाले श्रमण ही – जो कि मोह, द्वेष और अप्रशस्त रागके उच्छेदसे अशुभोपयोगरहित वर्तते हुए, समस्त कषायोदयके विच्छेदसे कदाचित् शुद्धोपयुक्त [शुद्धोपयोगमें युक्त] और प्रशस्त रागके विपाकसे कदाचित् शुभोपयुक्त होते हैं वे – स्वयं मोक्षायतन [मोक्षके स्थान] होनेसे लोकको तार देते हैं, और उनके प्रति भक्तिभावसे जिनके प्रशस्त भाव प्रवर्तता है ऐसे पर जीव पुण्यके भागी (पुण्यशाली) होते हैं ॥ २६० ॥

अशुभोपयोग रहित श्रमणो – शुद्ध वा शुभयुक्त जे ।
ते लोकने तारे; अने तद्भक्त पामे पुण्यने ॥ २६० ॥

यथोक्तलक्षणा एव श्रमणा मोहद्वेषाप्रशस्तरागोच्छेदादशुभोपयोगवियुक्ताः सन्तः, सकलकषायोदयविच्छेदात् कदाचित् शुद्धोपयुक्ताः प्रशस्तरागविपाकात्कदाचिच्छुभोपयुक्ताः, स्वयं मोक्षायतनत्वेन लोकं निस्तारयन्ति; तद्भक्तिभावप्रवृत्तप्रशस्तभावा भवन्ति परे च पुण्यभाजः ॥ २६० ॥

अथाविपरीतफलकारणाविपरीतकारणसमुपासनप्रवृत्तिं सामान्यविशेषतो विधेयतया सूत्रद्वैतेनोपदर्शयति –

दिट्ठा पगदं वत्थुं अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं।
वट्टदु तदो गुणादो विसेसिदव्वो त्ति उवदेसो ॥ २६१ ॥

दृष्ट्वा प्रकृतं वस्त्वभ्युत्थानप्रधानक्रियाभिः ।
वर्ततां ततो गुणाद्विशेषितव्य इति उपदेशः ॥ २६१ ॥

परंपरया मोक्षं चेति भावार्थः ॥ २६० ॥ एवं पात्रापात्रपरीक्षाकथनमुख्यतया गाथाषट्केन तृतीयस्थलं गतम् । इत ऊर्ध्वं आचारकथितक्रमेण पूर्वं कथितमपि पुनरपि दृढीकरणार्थं विशेषेण तपोधनसमाचारं कथयति । अथाभ्यागततपोधनस्य दिनत्रयपर्यन्तं सामान्यप्रतिपत्तिं, तदनन्तरं विशेषप्रतिपत्तिं दर्शयति – वट्टदु वर्तताम् । स कः । अत्रत्य आचार्यः । किं कृत्वा । दिट्ठा दृष्ट्वा । किम् । वत्थुं तपोधनभूतं पात्रं वस्तु । किंविशिष्टम् । पगदं प्रकृतं अभ्यन्तरनिरुपरागशुद्धात्मभावनाज्ञापकबहिरङ्ग-निर्ग्रन्थनिर्विकाररूपम् । काभिः कृत्वा वर्तताम् । अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं अभ्यागतयोग्याचार-

---

अब, अविपरीत फलका कारण ऐसा जो 'अविपरीत कारण' उसकी उपासनारूप प्रवृत्ति सामान्य और विशेषरूपसे करने योग्य है ऐसा दो सूत्रों द्वारा बतलाते हैं –

गाथा २६१

अन्वयार्थ :– [प्रकृतं वस्तु] [1]प्रकृत वस्तुको [दृष्ट्वा] देखकर [प्रथम तो] [अभ्युत्थानप्रधानक्रियाभिः] [2]अभ्युत्थान आदि क्रियाओंसे [वर्तताम्] [श्रमण] वर्तो; [ततः] फिर [गुणात्] गुणानुसार [विशेषितव्यः] भेद करना, –

---

[1] प्रकृत वस्तु=अविकृत वस्तु; अविपरीत पात्र (अन्तर-निरुपराग-शुद्ध आत्माकी भावनाको बतानेवाला जो बहिरंग-निर्ग्रंथ-निर्विकाररूप है उस रूपवाले श्रमणको यहां 'प्रकृत-वस्तु' कहा है।)

[2] अभ्युत्थान=सम्मानार्थ खड़े हो जाना और सम्मुख जाना ।

प्रकृत वस्तु देखी अभ्युत्थान आदि क्रिया वडे ।
वर्तो श्रमण, पछी वर्तनीय गुणानुसार विभेदथी ॥ २६१ ॥

श्रमणानामात्मविशुद्धिहेतौ प्रकृते वस्तुनि तदनुकूलक्रियाप्रवृत्त्या गुणातिशयाधानमप्रतिषिद्धम् ॥ २६१ ॥

अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं ।
अंजलिकरणं पणमं भणिदमिह गुणाधिगाणं हि ॥ २६२ ॥

अभ्युत्थानं ग्रहणमुपासनं पोषणं च सत्कारः ।
अञ्जलिकरणं प्रणामो भणितमिह गुणाधिकानां हि ॥ २६२ ॥

विहिताभिरभ्युत्थानादिक्रियाभिः । **तदो गुणादो** ततो दिनत्रयानन्तरं गुणाद्गुणविशेषात् **विसेसिदव्वो** तेन आचार्येण स तपोधनो रत्नत्रयभावनावृद्धिकारणक्रियाभिर्विशेषितव्यः **त्ति उवदेसो** इत्युपदेशः सर्वज्ञगणधरदेवादीनामिति ॥ २६१ ॥ अथ तमेव विशेषं कथयति । **भणिदं** भणितं कथितं इह

[इति उपदेशः] ऐसा उपदेश है ।

टीकाः—श्रमणोंके आत्मविशुद्धिकी हेतुभूत प्रकृत वस्तु (श्रमण) के प्रति उसके योग्य (श्रमण योग्य) क्रियारूप प्रवृत्तिसे गुणातिशयताका आरोपण करनेका निषेध नहीं है ।

भावार्थ:—यदि कोई श्रमण अन्य श्रमणको देखे तो प्रथम ही, मानो वे अन्य श्रमण गुणातिशयवान् हों इसप्रकार उनके प्रति (अभ्युत्थानादि) व्यवहार करना चाहिये । फिर उनका परिचय होनेके बाद उनके गुणानुसार बर्ताव करना चाहिये ॥ २६१ ॥

(इसप्रकार पहला सूत्र कहकर अब इसी विषयका दूसरा सूत्र कहते हैं:—)

गाथा २६२

अन्वयार्थ:—[**गुणाधिकानां हि**] गुणोंमें अधिक (श्रमणों) के प्रति [**अभ्युत्थानं**] अभ्युत्थान, [**ग्रहणं**] ग्रहण (आदरसे स्वीकार), [**उपासनं**] उपासन (सेवा), [**पोषणं**] पोषण (उनके अशन, शयनादिकी चिन्ता), [**सत्कारः**] सत्कार (गुणों की प्रशंसा), [**अञ्जलिकरणं**] अञ्जलि करना (विनयपूर्वक हाथ जोड़ना) [**च**] और [**प्रणामः**] प्रमाण करना [**इह**] यहाँ [**भणितम्**] कहा है ।

गुणथी अधिक श्रमणो प्रति सत्कार, अभ्युत्थान ने ।
अंजलिकरण, पोषण, ग्रहण, सेवन अहीं उपदिष्ट छे ॥ २६२ ॥

श्रमणानां स्वतोऽधिकगुणानामभ्युत्थानग्रहणोपासनपोषणसत्काराञ्जलिकरणप्रणामप्रवृत्तयो न प्रतिषिद्धाः ॥ २६२ ॥

अथ श्रमणाभासेषु सर्वाः प्रवृत्तीः प्रतिषेधयति –

अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उवासेया।
संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं ॥ २६३ ॥

अभ्युत्थेयाः श्रमणाः सूत्रार्थविशारदा उपासेयाः।
संयमतपोज्ञानाढ्याः प्रणिपतनीया हि श्रमणैः ॥ २६३ ॥

अस्मिन्ग्रंथे। केषां संबन्धी। गुणाधिगाणं हि गुणाधिकतपोधनानां हि स्फुटम्। किं भणितम्। अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं अंजलिकरणं पणमं अभ्युत्थानग्रहणोपासनपोषणसत्काराञ्जलिकरणप्रणामादिकम्। अभिमुखगमनमभ्युत्थानम्, ग्रहणं स्वीकारः, उपासनं शुद्धात्मभावनासहकारिकारणनिमित्तं सेवा, तदर्थमेवाशनशयनादिचिन्ता पोषणम्, भेदाभेदरत्नत्रयगुणप्रकाशनं सत्कारः, बद्धाञ्जलिनमस्कारोऽञ्जलिकरणम्, नमोऽस्त्वितिवचनव्यापारः प्रणाम इति ॥ २६२ ॥ अथाभ्यागतानां तदेवाभ्युत्थानादिकं प्रकारान्तरेण निर्दिशति – अब्भुट्ठेया यद्यपि चारित्रगुणेनाधिका न भवन्ति, तपसा वा, तथापि सम्यग्ज्ञानगुणेन ज्येष्ठत्वाच्छ्रुतविनयार्थमभ्युत्थेयाः अभ्युत्थानयोग्या भवन्ति। के ते। समणा श्रमणा निर्ग्रन्थाचार्याः। किंविशिष्टाः। सुत्तत्थविसारदा विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्त्वप्रभृत्यनेकान्तात्मकपदार्थेषु वीतरागसर्वज्ञप्रणीतमार्गेण प्रमाणनयनिक्षेपैर्विचार

टीका :–श्रमणोंको अपनेसे अधिक गुणवान (श्रमण) के प्रति अभ्युत्थान, ग्रहण, उपासन, पोषण, सत्कार, अंजलिकरण और प्रणामरूप प्रवृत्तियाँ निषिद्ध नहीं हैं ॥ २६२ ॥

अब श्रमणाभासोंके प्रति समस्त प्रवृत्तियोंका निषेध करते हैं :–

गाथा २६३

अन्वयार्थ :– [श्रमणैः हि] श्रमणोंके द्वारा [सूत्रार्थविशारदाः] सूत्रार्थविशारद (सूत्रोंके और सूत्रकथित पदार्थोंके ज्ञानमें निपुण) तथा [संयमतपोज्ञानाढ्याः] संयमतपज्ञानाढ्य, (संयम, तप और आत्मज्ञानमें समृद्ध) [श्रमणाः] श्रमण [अभ्युत्थेयाः उपासेयाः प्रणिपतनीयाः] अभ्युत्थान, उपासना और प्रणाम करने योग्य हैं।

मुनिसूत्र-अर्थ प्रवीण संयमज्ञानतपसमृद्धने।
प्रणिपात, अभ्युत्थान, सेवा साधुने कर्तव्य छे ॥ २६३ ॥

सूत्रार्थवैशारद्यप्रवर्तितसंयमतपःस्वतत्त्वज्ञानानामेव श्रमणानामभ्युत्थानादिकाः प्रवृत्तयोऽप्रतिषिद्धा, इतरेषां तु श्रमणाभासानां ताः प्रतिषिद्धा एव ॥ २६३ ॥

अथ कीदृशः श्रमणाभासो भवतीत्याख्याति –

ण हवदि समणो त्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि ।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ॥ २६४ ॥

न भवति श्रमण इति मतः संयमतपःसूत्रसंप्रयुक्तोऽपि ।
यदि श्रद्धत्ते नार्थानात्मप्रधानान् जिनाख्यातान् ॥ २६४ ॥

चतुरश्चेतसः सूत्रार्थविशारदाः । न केवलमभ्युत्थेयाः, उवासेया परमचिज्ज्योतिःपरमात्मपदार्थपरिज्ञानार्थमुपासेयाः परमभक्त्या सेवनीयाः । संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि संयमतपोज्ञानाढ्याः प्रणिपतनीयाः हि स्फुटं । बहिरङ्गेन्द्रियसंयमप्राणसंयमबलेनाभ्यन्तरे स्वशुद्धात्मनि यत्नपरत्वं संयमः । बहिरङ्गानशनादितपोबलेनाभ्यन्तरे परद्रव्येच्छानिरोधेन च स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं तपः । बहिरङ्गपरमागमाभ्यासेनाभ्यन्तरे स्वसंवेदनज्ञानं सम्यग्ज्ञानम् । एवमुक्तलक्षणैः संयमतपोज्ञानैराढ्याः परिपूर्णा यथासंभवं प्रतिवन्दनीयाः । कैः । समणेहिं श्रमणैरिति । अत्रेदं तात्पर्यम् – ये बहुश्रुता अपि चारित्राधिका न भवन्ति, तेऽपि परमागमाभ्यासनिमित्तं यथायोग्यं वन्दनीयाः । द्वितीयं च कारणम् – ते सम्यक्त्वे ज्ञाने च पूर्वमेव दृढतराः, अस्य तु नवतरतपोधनस्य सम्यक्त्वे ज्ञाने चापि दार्ढ्यं नास्ति । तर्हि स्तोकचारित्राणां किमर्थमागमे वन्दनादिनिषेधः कृत इति चेत् । अतिप्रसंगनिषेधार्थमिति ॥२६३॥

टीका :– जिनके सूत्रोंमें और पदार्थोंमें विशारदपनेके द्वारा संयम, तप और स्वतत्वका ज्ञान प्रवर्तता है उन श्रमणोंके प्रति ही अभ्युत्थानादिक प्रवृत्तियाँ अनिषिद्ध हैं, परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य श्रमणाभासोंके प्रति वे प्रवृत्तियाँ निषिद्ध ही हैं ॥ २६३ ॥

अब, कैसा जीव श्रमणाभास है सो कहते हैं :–

गाथा २६४

अन्वयार्थ :– [संयमतपःसूत्रसंप्रयुक्तः अपि] सूत्र, संयम और तपसे संयुक्त होने पर भी [यदि] यदि (वह जीव) [जिनाख्यातान्] जिनोक्त [आत्मप्रधानान्] आत्मप्रधान [अर्थान्] पदार्थोंका [न श्रद्धत्ते] श्रद्धान नहीं करता तो वह [श्रमणः न भवति] श्रमण नहीं है, – [इति मतः] ऐसा (आगममें) कहा है ।

शास्त्रे कह्यु, – तपसूत्रसंयमयुक्तपण साधु नहीं ।
जिन-उक्त आत्मप्रधान सर्व पदार्थ जो श्रद्धे नहीं ॥ २६४ ॥

आगमज्ञोऽपि, संयतोऽपि,तपःस्थोऽपि जिनोदितमनन्तार्थनिर्भरं विश्वं स्वेनात्मना ज्ञेयत्वेन निष्पीतत्वादात्मप्रधानमश्रद्दधानः श्रमणाभासो भवति ॥ २६४ ॥

अथ श्रामण्येन सममननुमन्यमानस्य विनाशं दर्शयति—

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि ।
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो ॥ २६५ ॥

अपवदति शासनस्थं श्रमणं दृष्ट्वा प्रद्वेषतो यो हि ।
क्रियासु नानुमन्यते भवति हि स नष्टचारित्रः ॥ २६५ ॥

अथ श्रमणाभासः कीदृशो भवतीति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति—ण हवदि समणो स श्रमणो न भवति त्ति मदो इति मतः सम्मतः । क्व । आगमे । कथंभूतोऽपि । संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि संयमतपःश्रुतैः संप्रयुक्तोऽपि सहितोऽपि । यदि किम् । जदि सद्दहदि ण यदि चेन्मूढत्रयादिपञ्चविंशतिसम्यक्त्वमलसहितः सन् न श्रद्धत्ते, न रोचते, न मन्यते । कान् । अत्थे पदार्थान् । कथंभूतान् । आदपधाणे निर्दोषिपरमात्मप्रभृतीन् । पुनरपि कथंभूतान् । जिणक्खादे वीतरागसर्वज्ञजिनेश्वरेणाख्यातान्, दिव्यध्वनिना प्रणीतान्, गणधरदेवैर्ग्रन्थविरचितानित्यर्थः ॥ २६४ ॥ अथ मार्गस्थश्रमणदूषणे दोषं

टीका :— आगमका ज्ञाता होनेपर भी, संयत होनेपर भी, तपमें स्थित होनेपर भी, जिनोक्त अनन्त पदार्थोंसे भरे हुए विश्व को—जो कि (विश्व) अपने आत्मासे ज्ञेयरूपसे पिया जाता होनेके कारण [1]आत्मप्रधान है उसका—जो जीव श्रद्धान नहीं करता वह श्रमणाभास है ॥ २६४ ॥

अब, जो श्रामण्यसे समान हैं उनका अनुमोदन (आदर) न करनेवालेका विनाश बतलाते हैं :—

गाथा २६५

अन्वयार्थ :— [यः हि] जो [शासनस्थं श्रमणं] शासनस्थ (जिनदेवके शासनमें स्थित) श्रमणको [दृष्ट्वा] देखकर [प्रद्वेषतः] द्वेषसे [अपवदति] उसका अपवाद करता है और [क्रियासु न अनुमन्यते] (सत्कारादि) क्रियाओंके करनेमें अनुमत (प्रसन्न) नहीं है [सः नष्टचारित्रः हि भवति] उसका चारित्र नष्ट होता है ।

---

[1] आत्मप्रधान=जिसमें आत्मा प्रधान है ऐसा; [आत्मा समस्त विश्वको जानता है इसलिये वह विश्वमें—विश्वके समस्त पदार्थोंमें—प्रधान है ।]

मुनि शासने स्थित देखीने जे द्वेषथी निंदा करे ।
अनुमत नहीं किरिया विषे, ते नाश चरण तणो करे ॥२६५ ॥

श्रमणं शासनस्थमपि प्रद्वेषादपवदतः क्रियास्वननुमन्यमानस्य च प्रद्वेषकषायितत्वा-च्चारित्रं नश्यति ॥ २६५ ॥

अथ श्रामण्येनाधिकं हीनमिवाचरतो विनाशं दर्शयति –

गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जो वि होमि समणो त्ति ।
होज्जं गुणाधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी ॥ २६६ ॥

गुणतोऽधिकस्य विनयं प्रत्येषको योऽपि भवामि श्रमण इति ।
भवन् गुणाधरो यदि स भवत्यनन्तसंसारी ॥ २६६ ॥

दर्शयति – अववददि अपवदति दूषयत्यपवादं करोति । स कः । जो हि यः कर्ता हि स्फुटम् । कम् । समणं श्रमणं तपोधनम् । कथंभूतम् । सासणत्थं शासनस्थं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गस्थम् । कस्मात् । पदोसदो निर्दोषिपरमात्मभावनाविलक्षणात् प्रद्वेषात्कषायात् । किं कृत्वा पूर्वम् । दिट्ठा दृष्ट्वा । न केवलं अपवदति, णाणुमण्णदि नानुमन्यते । कासु विषये । किरियासु यथायोग्यं वन्दनादिक्रियासु । हवदि हि सो भवति हि स्फुटं सः । किंविशिष्टः । णट्ठचारित्तो कथंचिदति-प्रसंगान्नष्टचारित्रो भवतीति । तथाहि – मार्गस्थतपोधनं दृष्ट्वा यदि कथंचिन्मात्सर्यवशाद्दोषग्रहणं करोति तदा चारित्रभ्रष्टो भवति स्फुटं; पश्चादात्मनिन्दां कृत्वा निवर्तते तदा दोषो नास्ति, कालान्तरे वा निवर्तते तथापि दोषो नास्ति । यदि पुनस्तत्रैवानुबन्धं कृत्वा तीव्रकषायवशादतिप्रसंगं करोति तदा चारित्रभ्रष्टो भवतीति । अयमत्र भावार्थः – बहुश्रुतैरल्पश्रुततपोधनानां दोषो न ग्राह्यस्तैरपि तपोधनैः किमपि पाठमात्रं गृहीत्वा तेषां दोषो न ग्राह्यः, किंतु किमपि सारपदं गृहीत्वा स्वयं भावनैव कर्तव्या । कस्मादिति चेत् । रागद्वेषोत्पत्तौ सत्यां बहुश्रुतानां श्रुतफलं नास्ति, तपोधनानां तपःफलं चेति ॥ २६५ ॥ अत्राह शिष्यः – अपवादव्याख्यानप्रस्तावे शुभोपयोगो व्याख्यातः,

---

टीका : – जो श्रमण द्वेषके कारण शासनस्थ श्रमणका भी अपवाद बोलता है और (उसके प्रति सत्कारादि) क्रियायें करनेमें अनुमत नहीं है, वह श्रमण द्वेषसे [1]कषायित होनेसे उसका चारित्र नष्ट हो जाता है ॥ २६५ ॥

अब, जो श्रामण्यमें अधिक हो उसके प्रति जैसे कि वह श्रामण्यमें हीन (अपनेसे मुनिपनेमें नीचा) हो ऐसा आचरण करनेवालेका विनाश बतलाते हैं :–

---

[1] कषायित = क्रोधमानादिक कषायवाले; रंगित; विकारी।

जे हीनगुण होवा छतां 'हुं पण श्रमण छुं' मदकरे ।
इच्छे विनय गुण-अधिक पास, अनंतसंसारी बने ।। २६६ ।।

स्वयं जघन्यगुणः सन् श्रमणोऽहमपीत्यवलेपात्परेषां गुणाधिकानां विनयं प्रतीच्छन् श्रामण्यावलेपवशात् कदाचिदनन्तसंसार्यपि भवति ।। २६६ ।।

अथ श्रामण्येनाधिकस्य हीनं सममिवाचरतो विनाशं दर्शयति –

पुनरपि किमर्थं अत्र व्याख्यानं कृतमिति । परिहारमाह – युक्तमिदं भवदीयवचनं, किंतु तत्र सर्वत्याग-लक्षणोत्सर्गव्याख्याने कृते सति तत्रासमर्थतपोधनैः कालापेक्षया किमपि ज्ञानसंयमशौचोपकरणादिकं ग्राह्यमित्यपवादव्याख्यानमेव मुख्यम् । अत्र तु यथा भेदनयेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपश्चरणरूपा चतुर्विधाराधना भवति, सैवाभेदनयेन सम्यक्त्वचारित्ररूपेण द्विधा भवति, तत्राप्यभेदविवक्षया पुनरेकैव वीतरागचारित्राराधना, तथा भेदनयेन सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानसम्यक्चारित्ररूपस्त्रिविध-मोक्षमार्गो भवति, स एवाभेदनयेन श्रामण्यापरमोक्षमार्गनामा पुनरेक एव, स चाभेदरूपो मुख्यवृत्त्या 'एयग्गगदो समणो' इत्यादिचतुर्दशगाथाभिः पूर्वमेव व्याख्यातः । अयं तु भेदरूपो मुख्यवृत्त्या शुभोपयोगरूपेणेदानीं व्याख्यातो, नास्ति पुनरुक्तदोष इति । एवं समाचारविशेषविवरणरूपेण चतुर्थस्थले गाथाष्टकं गतम् । अथ स्वयं गुणहीनः सन् परेषां गुणाधिकानां योऽसौ विनयं वाञ्छति, तस्य गुणविनाशं दर्शयति – **सो होदि अणंतसंसारी** स कथंचिदनन्तसंसारी संभवति । यः किं करोति । **पडिच्छगो जो दु** प्रत्येषको यस्तु, अभिलाषकोऽपेक्षक इति । कम् । **विणयं** वन्दनादिविनयम् । कस्य संबन्धिनम् । **गुणदोधिगस्स** बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयगुणाभ्यामधिकस्यान्यतपोधनस्य । केन कृत्वा । **होमि समणो त्ति** अहमपि श्रमणो भवामीत्यभिमानेन गर्वेण । यदि किम् । **होज्जं गुणाधरो जदि** निश्चयव्यवहाररत्नत्रयगुणाभ्यां हीनः स्वयं यदि चेद्भवतीति । अयमत्रार्थः – यदि चेद्गुणाधिकेभ्यः सकाशाद्गर्वेण पूर्वं विनयवाञ्छां करोति, पश्चाद्विवेकबलेनात्मनिन्दां करोति, तदानन्तसंसारी न भवति, यदि पुनस्तत्रैव मिथ्याभिमानेन ख्यातिपूजालाभार्थं दुराग्रहं करोति तदा भवति । अथवा यदि कालान्तरेऽप्यात्मनिन्दां करोति तथापि न भवतीति ।। २६६ ।। अथ स्वयमधिकगुणाः सन्तो यदि

गाथा २६६

अन्वयार्थ :– **[यः]** जो श्रमण **[यदि गुणाधरः भवन्]** गुणोंमें हीन होनेपर भी **[अपि श्रमणः भवामि]** 'मैं भी श्रमण हूँ' **[इति]** ऐसा मानकर अर्थात् गर्व करके **[गुणतः अधिकस्य]** गुणोंमें अधिक (ऐसे श्रमण) के पाससे **[विनयं प्रत्येषकः]** विनय (करवाना) चाहता है **[सः]** वह **[अनन्तसंसारी भवति]** अनन्तसंसारी होता है ।

टीका :– जो श्रमण स्वयं जघन्य गुणोंवाला होनेपर भी 'मैं भी श्रमण हूँ' ऐसे गर्वके कारण दूसरे अधिक गुणवालों (श्रमणों) से विनयकी इच्छा करता है, वह श्रामण्यके गर्वके वशसे कदाचित् अनन्त संसारी भी होता है ।। २६६ ।।

अब, जो श्रमण श्रामण्यसे अधिक हो वह, जो अपनेसे हीन श्रमणके प्रति समान जैसा (अपने बराबरी वाले जैसा) आचरण करे तो उसका विनाश बतलाते हैं :–

यतः सकलस्यापि विश्ववाचकस्य सल्लक्ष्मणः शब्दब्रह्मणस्तद्वाच्यस्य सकलस्यापि सल्लक्ष्मणो विश्वस्य च युगपदनुस्यूततदुभयज्ञेयाकारतयाधिष्ठानभूतस्य सल्लक्ष्मणो ज्ञातृतत्त्वस्य निश्चयनान्निश्चितसूत्रार्थपदत्वेन, निरुपरागोपयोगत्वात् समितकषायत्वेन, बहुशोऽभ्यस्तनिष्कम्पोपयोगत्वात्तपोऽधिकत्वेन च सुष्ठु संयतोऽपि सप्तार्चिःसंगतं तोयमिवावश्यंभाविविकारत्वात् लौकिकसंगादसंयत एव स्यात् । ततस्तत्संगः सर्वथा प्रतिषेध्य एव ।। २६८ ।।

अथ लौकिकलक्षणमुपलक्षयति –

'जे अजधागहिदत्था' इत्यादि गाथापञ्चकम् । एवं द्वात्रिंशद्गाथाभिः स्थलपञ्चकेन चतुर्थान्तराधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा – अथ लौकिकसंसर्गं प्रतिषेधयति – **णिच्छिदसुत्तत्थपदो** निश्चितानि ज्ञातानि निर्णीतान्यनेकान्तस्वभावनिजशुद्धात्मादिपदार्थप्रतिपादकानि सूत्रार्थपदानि येन स भवति निश्चितसूत्रार्थपदः, **समिदकसाओ** परविषये क्रोधादिपरिहारेण तथाभ्यन्तरे परमोपशमभावपरिणतनिजशुद्धात्मभावनाबलेन च शमितकषायः, **तवोधिगो चावि** अनशनादिबहिरङ्गतपोबलेन तथैवाभ्यन्तरे शुद्धात्मतत्त्वभावनाविषये प्रतपनाद्विजयनाच्च तपोऽधिकश्चापि सन् स्वयं संयतः कर्ता **लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि** लौकिकाः स्वेच्छाचारिणस्तेषां संसर्गो लौकिकसंसर्गस्तं न त्यजति यदि चेत् **संजदो ण हवदि** तर्हि संयतो न भवतीति । अयमत्रार्थः – स्वयं भावितात्मापि यद्यसंवृतजनसंसर्गं न त्यजति तदातिपरिचयादग्निसङ्गतं जलमिव विकृतिभावं गच्छतीति ।। २६८ ।।

'जिसने कषायोंको शमित किया है ऐसा' हो, और (३) निष्कंप उपयोगका बहुशः अभ्यास करनेसे 'अधिक तपवाला' हो, – इसप्रकार (इन तीन कारणोंसे) जो जीव भलीभाँति संयत हो, वह भी लौकिक (जनोंके) संगसे असंयत ही होता है, क्योंकि अग्निकी संगतिमें रहे हुए पानीकी भाँति उसे विकार अवश्यंभावी है । इसलिये लौकिक संग सर्वथा निषेध्य ही है ।

भावार्थ :– जो जीव संयत हो, अर्थात् (१) जिसने शब्दब्रह्मको और उसके वाच्यरूप समस्त पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञातृतत्वका निर्णय किया हो, (२) जिसने कषायोंको शमित किया हो (३) और जो अधिक तपवान् हो, वह जीव भी लौकिकजनके संगसे असंयत ही होता है; क्योंकि जैसे अग्निके संगसे पानीमें उष्णतारूप विकार अवश्य होता है, उसीप्रकार लौकिकजनके संसर्गको न छोड़नेवाले संयतके असंयततारूप विकार अवश्य होता है । इसलिये लौकिक जनोंका संग सर्वप्रकारसे त्याज्य ही है ।। २६८ ।।

अब, 'लौकिक' (जन) का लक्षण कहते हैं :–

णिग्गंथं पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहिं कम्मेहिं।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंपजुत्तो वि ॥ २६६ ॥

नैर्ग्रन्थ्यं प्रव्रजितो वर्तते यद्यैहिकैः कर्मभिः।
स लौकिक इति भणितः संयमतपःसंप्रयुक्तोपि ॥ २६६ ॥

प्रतिज्ञातपरमनैर्ग्रन्थ्यप्रव्रज्यत्वादुदूढसंयमतपोभारोऽपि मोहबहुलतया श्लथीकृतशुद्धचेतनव्यवहारो मुहुर्मनुष्यव्यवहारेण व्याघूर्णमानत्वादैहिककर्मानिवृत्तौ लौकिक इत्युच्यते ॥ २६६ ॥

अथानुकम्पालक्षणं कथ्यते –

तिसिदं वुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥ *३६ ॥

तिसिदं वुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो पडिवज्जदि तृषितं वा वुभुक्षितं वा
दुःखितं वा दृष्ट्वा कमपि प्राणिनं यो हि स्फुटं दुःखितमनाः सन् प्रतिपद्यते स्वीकरोति। कं
कर्मतापन्नम्। तं तं प्राणिनम्। कया। किवया कृपया दयापरिणामेन। तस्सेसा होदि अणुकंपा
तस्य पुरुषस्यैषा प्रत्यक्षीभूता शुभोपयोगरूपानुकम्पा दया भवतीति। इमां चानुकम्पां ज्ञानी स्वस्थ-
भावनामविनाशयन् संक्लेशपरिहारेण करोति। अज्ञानी पुनः संक्लेशेनापि करोतीत्यर्थः ॥ *३६ ॥
अथ लौकिकलक्षणं कथयति – णिग्गंथो पव्वइदो वस्त्रादिपरिग्रहरहितत्वेन निर्ग्रन्थोऽपि दीक्षाग्रहणेन
प्रव्रजितोऽपि वट्टदि जदि वर्तते यदि चेत्। कैः। एहिगेहि कम्मेहि ऐहिकैः कर्मभिः भेदाभेदरत्नत्रय-
भावनाशकैः ख्यातिपूजालाभनिमित्तज्योतिषमन्त्रवादवैदकादिभिरैहिकजीवनोपायकर्मभिः। सो लोगिगो
त्ति भणिदो स लौकिको व्यावहारिक इति भणितः। किंविशिष्टोऽपि। संजमतवसंजुदो चावि
द्रव्यरूपसंयमतपोभ्यां संयुक्तश्चापीत्यर्थः ॥ २६६ ॥ अथोत्तमसंसर्गः कर्तव्य इत्युपदिशति – तम्हा

गाथा २६९

अन्वयार्थ :– [**नैर्ग्रन्थ्यं प्रव्रजितः**] जो (जीव) निर्ग्रंथरूपसे दीक्षित होनेके कारण [**संयमतपःसंप्रयुक्तः अपि**] संयमतपसंयुक्त हो उसे भी, [**यदि सः**] यदि वह [**ऐहिकैः कर्मभिः वर्तते**] ऐहिक कार्यो सहित वर्तता हो तो, [**लौकिकः इति भणितः**] 'लौकिक' कहा गया है।

टीका :– परमनिर्ग्रंथतारूप प्रव्रज्याकी प्रतिज्ञा ली होनेसे जो जीव संयमतपके भारको वहन करता हो उसे भी, यदि वह मोहकी बहुलताके कारण शुद्धचेतन व्यव-

---

निर्ग्रंथरूप दीक्षा वडे संयमतपे संयुक्त जे।
लौकिक कह्यो तेने य, जो छोडे न ऐहिक कर्मने ॥ २६९ ॥

यतः सकलस्यापि विश्ववाचकस्य सल्लक्ष्मणः शब्दब्रह्मणस्तद्वाच्यस्य सकलस्यापि सल्लक्ष्मणो विश्वस्य च युगपदनुस्यूततदुभयज्ञेयाकारतयाधिष्ठानभूतस्य सल्लक्ष्मणो ज्ञातृतत्त्वस्य निश्चयनान्निश्चितसूत्रार्थपदत्वेन, निरुपरागोपयोगत्वात् समितकषायत्वेन, बहुशोऽभ्यस्तनिष्कम्पोपयोगत्वात्तपोऽधिकत्वेन च सुष्ठु संयतोऽपि सप्तार्चिःसंगतं तोयमिवावश्यंभाविविकारत्वात् लौकिकसंगादसंयत एव स्यात् । ततस्तत्संगः सर्वथा प्रतिषेध्य एव ॥ २६८ ॥

अथ लौकिकलक्षणमुपलक्षयति –

'जे अजधागहिदत्था' इत्यादि गाथापञ्चकम् । एवं द्वात्रिंशद्गाथाभिः स्थलपञ्चकेन चतुर्थान्तराधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा – अथ लौकिकसंसर्गं प्रतिषेधयति – **णिच्छिदसुत्तत्थपदो** निश्चितानि ज्ञातानि निर्णीतान्यनेकान्तस्वभावनिजशुद्धात्मादिपदार्थप्रतिपादकानि सूत्रार्थपदानि येन स भवति निश्चितसूत्रार्थपदः, **समिदकसाओ** परविषये क्रोधादिपरिहारेण तथाभ्यन्तरे परमोपशमभावपरिणतनिजशुद्धात्मभावनाबलेन च शमितकषायः, **तवोधिगो चावि** अनशनादिबहिरङ्गतपोबलेन तथैवाभ्यन्तरे शुद्धात्मतत्त्वभावनाविषये प्रतपनाद्विजयनाच्च तपोऽधिकश्चापि सन् स्वयं संयतः कर्ता **लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि** लौकिकाः स्वेच्छाचारिणस्तेषां संसर्गो लौकिकसंसर्गस्तं न त्यजति यदि चेत् **संजदो ण हवदि** तर्हि संयतो न भवतीति । अयमत्रार्थः – स्वयं भावितात्मापि यद्यसंवृतजनसंसर्गं न त्यजति तदातिपरिचयादग्निसङ्गतं जलमिव विकृतिभावं गच्छतीति ॥ २६८ ॥

'जिसने कषायोंको शमित किया है ऐसा' हो, और (३) निष्कंप उपयोगका [1]बहुशः अभ्यास करनेसे 'अधिक तपवाला' हो, – इसप्रकार (इन तीन कारणोंसे) जो जीव भलीभाँति संयत हो, वह भी लौकिक (जनोंके) संगसे असंयत ही होता है, क्योंकि अग्निकी संगतिमें रहे हुए पानीकी भाँति उसे विकार अवश्यंभावी है । इसलिये लौकिक संग सर्वथा निषेध्य ही है ।

भावार्थ :– जो जीव संयत हो, अर्थात् (१) जिसने शब्दब्रह्मको और उसके वाच्यरूप समस्त पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञातृतत्वका निर्णय किया हो, (२) जिसने कषायोंको शमित किया हो (३) और जो अधिक तपवान् हो, वह जीव भी लौकिकजनके संगसे असंयत ही होता है; क्योंकि जैसे अग्निके संगसे पानीमें उष्णतारूप विकार अवश्य होता है, उसीप्रकार लौकिकजनके संसर्गको न छोड़नेवाले संयतके असंयततारूप विकार अवश्य होता है । इसलिये लौकिक जनोंका संग सर्वप्रकारसे त्याज्य ही है ॥ २६८ ॥

अब, 'लौकिक' (जन) का लक्षण कहते हैं :–

---

[1] बहुशः=(१) बहुत; खूब (२) बारंबार।

णिग्गंथं पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहिं कम्मेहिं ।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंपजुत्तो वि ॥ २६९ ॥

नैर्ग्रन्थ्यं प्रव्रजितो वर्तते यद्यैहिकैः कर्मभिः ।
स लौकिक इति भणितः संयमतपःसंप्रयुक्तोपि ॥ २६९ ॥

प्रतिज्ञातपरमनैर्ग्रन्थ्यप्रव्रज्यत्वादुदूढसंयमतपोभारोऽपि मोहबहुलतया श्लथीकृतशुद्ध-चेतनव्यवहारो मुहुर्मनुष्यव्यवहारेण व्याघूर्णमानत्वादैहिककर्मानिवृत्तौ लौकिक इत्यु-च्यते ॥ २६९ ॥

अथानुकम्पालक्षणं कथ्यते —
तिसिदं वुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो ।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥ *३६ ॥
तिसिदं वुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो पडिवज्जदि तृषितं वा बुभुक्षितं वा दुःखितं वा दृष्ट्वा कमपि प्राणिनं यो हि स्फुटं दुःखितमनाः सन् प्रतिपद्यते स्वीकरोति । कं कर्मतापन्नम् । तं तं प्राणिनम् । कया । किवया कृपया दयापरिणामेन । तस्सेसा होदि अणुकंपा तस्य पुरुषस्यैषा प्रत्यक्षीभूता शुभोपयोगरूपानुकम्पा दया भवतीति । इमां चानुकम्पां ज्ञानी स्वस्थ-भावनामविनाशयन् संक्लेशपरिहारेण करोति । अज्ञानी पुनः संक्लेशेनापि करोतीत्यर्थः ॥ *३६ ॥
अथ लौकिकलक्षणं कथयति — णिग्गंथो पव्वइदो वस्त्रादिपरिग्रहरहितत्वेन निर्ग्रन्थोऽपि दीक्षाग्रहणेन प्रव्रजितोऽपि वट्टदि जदि वर्तते यदि चेत् । कैः । एहिगेहि कम्मेहिं ऐहिकैः कर्मभिः भेदाभेदरत्नत्रय-भावनाशकैः ख्यातिपूजालाभनिमित्तज्योतिषमन्त्रवादवैदकादिभिरैहिकजीवनोपायकर्मभिः । सो लोगिगो त्ति भणिदो स लौकिको व्यावहारिक इति भणितः । किंविशिष्टोऽपि । संजमतवसंजुदो चावि द्रव्यरूपसंयमतपोभ्यां संयुक्तश्चापीत्यर्थः ॥ २६९ ॥ अथोत्तमसंसर्गः कर्तव्य इत्युपदिशति — तम्हा

गाथा २६९

अन्वयार्थ :— [**नैर्ग्रन्थ्यं प्रव्रजितः**] जो (जीव) निर्ग्रंथरूपसे दीक्षित होनेके कारण [**संयमतपःसंप्रयुक्तः अपि**] संयमतपसंयुक्त हो उसे भी, [**यदि सः**] यदि वह [**ऐहिकैः कर्मभिः वर्तते**] ऐहिक कार्यों सहित वर्तता हो तो, [**लौकिकः इति भणितः**] 'लौकिक' कहा गया है ।

टीका :— परमनिर्ग्रंथतारूप प्रव्रज्याकी प्रतिज्ञा ली होनेसे जो जीव संयमतपके भारको वहन करता हो उसे भी, यदि उस मोहकी बहुलताके कारण शुद्धचेतन व्यव-

निर्ग्रंथरूप दीक्षा वडे संयमतपे संयुक्त जे ।
लौकिक कह्यो तेने य, जो छोडे न ऐहिक कर्मने ॥ २६९ ॥

अथ सत्संगं विधेयत्वेन दर्शयति –

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं ।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं ॥ २७० ॥

तस्मात्समं गुणात् श्रमणः श्रमणं गुणैर्वाधिकम् ।
अधिवसतु तत्र नित्यं इच्छति यदि दुःखपरिमोक्षम् ॥ २७० ॥

यस्माद्धीनसंसर्गाद्गुणहानिर्भवति तस्मात्कारणात् अधिवसदु अधिवसतु तिष्ठतु । स कः कर्ता । समणो श्रमणः । क्व । तम्हि तस्मिन्नधिकरणभूते । णिच्चं नित्यं सर्वकालम् । तस्मिन्कुत्र । समणं श्रमणे । लक्षणवशादधिकरणे कर्म पठ्यते । कथंभूते श्रमणे । समं समे समाने । कस्मात् । गुणादो बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयलक्षणगुणात् । पुनरपि कथंभूते । अहियं वा स्वस्मादधिके वा । कैः । गुणेहिं मूलोत्तरगुणैः । यदि किम् । इच्छदि जदि इच्छति वाञ्छति यदि चेत् । कम् । दुक्खपरिमोक्खं स्वात्मोत्थसुखविलक्षणानां नारकादिदुःखानां मोक्षं दुःखपरिमोक्षमिति । अथ विस्तरः – यथाग्नि-

---

हारको छोड़कर निरंतर मनुष्यव्यहारके द्वारा चक्कर खानेसे [१]ऐहिक कर्मोंसे अनिवृत्त हो तो, 'लौकिक' कहा जाता है ॥ २६९ ॥

अब, सत्संग विधेय (–करने योग्य) है, ऐसा बतलाते हैं :–

गाथा २७०

अन्वयार्थ :– **[तस्मात्]** (लौकिकजनके संगसे संयत भी असंयत होता है) इसलिये **[यदि]** यदि **[श्रमणः]** श्रमण **[दुःखपरिमोक्षम् इच्छति]** दुःखसे परिमुक्त होना चाहता हो तो वह **[गुणात्समं]** समान गुणोंवाले श्रमणके **[वा]** अथवा **[गुणैः अधिकं श्रमणं तत्र]** अधिक गुणोंवाले श्रमणके संगमें **[नित्यम्]** सदा **[अधिवस्तु]** निवास करो ।

टीका :– आत्मा परिणामस्वभाववाला है इसलिये अग्निके संगमें रहे हुए पानीकी भाँति (संयतके भी) लौकिकसंगसे विकार अवश्यंभावी होनेसे संयत भी असंयत ही हो जाता है । इसलिये दुःखमोक्षार्थी (दुःखोंसे मुक्ति चाहनेवाले) श्रमणको (१) समान

---

[१] ऐहिक=लौकिक ।

तेथी श्रमणने होय जो दुःखमुक्ति केरी भावना ।
तो नित्य वसवुं समान अगर विशेष गुणीना संगमां ॥ २७० ॥

यतः परिणामस्वभावत्वेनात्मनः सप्तार्चिःसंगतं तोयमिवावश्यंभाविविकारत्वाल्लौकिकसंगात्संयतोऽप्यसंयत एव स्यात्; ततो दुःखमोक्षार्थिना गुणैः समोऽधिको वा श्रमणः श्रमणेन नित्यमेवाधिवसनीयः तथास्य शीतापवरककोणनिहितशीततोयवत्समगुणसंङ्गात्गुणरक्षा शीततरतुहिनशर्करासंपृक्तशीततोयवत् गुणाधिकसंगात् गुणवृद्धिः ॥ २७० ॥

*इत्यध्यास्य शुभोपयोगजनितां कांचित्प्रवृत्तिं यतिः
सम्यक् संयमसौष्ठवेन परमां क्रामन्निवृत्तिं क्रमात् ।
हेलाक्रान्तसमस्तवस्तुविसरप्रस्ताररम्योदयां
ज्ञानानन्दमयीं दशामनुभवत्वेकान्ततः शाश्वतीम् ॥ १७ ॥

— इति शुभोपयोगप्रज्ञापनम् ।

संयोगात् जलस्य शीतलगुणविनाशो भवति तथा व्यावहारिकजनसंसर्गात्संयतस्य संयमगुणविनाशो भवतीति ज्ञात्वा तपोधनः कर्ता समगुणं गुणाधिकं वा तपोधनमाश्रयति, तदास्य तपोधनस्य यथा शीतलभाजनसहितशीतलजलस्य शीतलगुणरक्षा भवति तथा समगुणसंसर्गाद्गुणरक्षा भवति । यथा च तस्यैव जलस्य कर्पूरशर्करादिशीतलद्रव्यनिक्षेपे कृते सति शीतलगुणवृद्धिर्भवति तथा निश्चयव्यवहाररत्नत्रयगुणाधिकसंसर्गाद्गुणवृद्धिर्भवतीति सूत्रार्थः ॥ २७० ॥ इतःपरं पञ्चमस्थले संक्षेपेण संसार-

---

गुणवाले श्रमणके साथ अथवा (२) अधिक गुणवाले श्रमणके साथ सदा ही निवास करना चाहिये । इसप्रकार उस श्रमणके (१) शीतल घरके कोनेमें रखे हुए शीतल पानीकी भाँति समान गुणवालेकी संगतिसे गुणरक्षा होती है और (२) अधिक शीतल हिम (बरफ)के संपर्कमें रहनेवाले शीतल पानीकी भाँति अधिक गुणवालेके संगसे गुणवृद्धि होती है ॥ २७० ॥

अब श्लोक द्वारा यह कहते हैं कि श्रमण क्रमशः परम निवृत्तिको प्राप्त करके शाश्वत ज्ञानानन्दमयदशाका अनुभव करो :—]

[अर्थ :—] इसप्रकार शुभोपयोगजनित किंचित् प्रवृत्तिका सेवन करके यति सम्यक् प्रकारसे संयमके सौष्ठव (श्रेष्ठता, सुन्दरता)से क्रमशः परम निवृत्तिको प्राप्त होता हुआ; जिसका रम्य उदय समस्त वस्तुसमूहके विस्तारको लीलामात्रमें प्राप्त हो जाता है (जान लेता है) ऐसी शाश्वती ज्ञानानन्दमयी दशाका एकान्ततः (केवल, सर्वथा, अत्यन्त) अनुभव करो ।

* इसप्रकार शुभोपयोग-प्रज्ञापन पूर्ण हुआ । *

---

* शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

अजधाचारविजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदो पसंतप्पा ।
अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो ॥२७२॥

अयथाचारवियुक्तो यथार्थपदनिश्चितः प्रशान्तात्मा ।
अफले चिरं न जीवति इह स संपूर्णश्रामण्यः ॥ २७२ ॥

मोक्षस्वरूपं प्रकाशयति – अजधाचारविजुत्तो निश्चयव्यवहारपञ्चाचारभावनापरिणतत्वादयथाचारवियुक्तः, विपरीताचाररहित इत्यर्थः, जधत्थपदणिच्छिदो सहजानन्दैकस्वभावनिजपरमात्मादिपदार्थपरिज्ञानसहितत्वाद्यथार्थपदनिश्चितः, पसंतप्पा विशिष्टपरमोपशमभावपरिणतनिजात्मद्रव्यभावनासहितत्वात्प्रशान्तात्मा, जो यः कर्ता सो संपुण्णसामण्णो स संपूर्णश्रामण्यः सन् चिरं ण जीवदि चिरं

गाथा २७२

अन्वयार्थ :– **[यथार्थपदनिश्चितः]** जो जीव यथार्थतया पदोंका तथा अर्थों (पदार्थों) का निश्चयवाला होनेसे **[प्रशान्तात्मा]** [1]प्रशान्तात्मा है और **[अयथाचार वियुक्तः]** अयथाचार (-अन्यथाआचरण, अयथार्थआचरण) रहित है, **[सः संपूर्णश्रामण्यः]** वह संपूर्ण श्रामण्यवाला जीव **[अफले]** अफल (-कर्मफल रहित हुए) **[इह]** इस संसारमें **[चिरं न जीवति]** चिरकाल तक नहीं रहता (-अल्पकालमें ही मुक्त होता है।)

टीका :– जो (श्रमण) त्रिलोककी चूलिका (कलगी) के समान निर्मल विवेकरूपी दीपिकाके प्रकाशवाला होनेसे यथास्थित पदार्थनिश्चयसे उत्सुकताका निवर्तन करके [2]स्वरूपमंथर रहनेसे सतत 'उपशांतात्मा' वर्तता हुआ, स्वरूपमें एकमें ही अभिमुखरूपसे विचरता (क्रीड़ा करता) होनेसे 'अयथाचार रहित' वर्तता हुआ नित्य ज्ञानी हो, वास्तवमें उस सम्पूर्ण श्रामण्यवाले साक्षात् श्रमणको मोक्षतत्व जानना, क्योंकि पहलेके सकल कर्मोंके फल उसने लीलामात्रसे नष्ट कर दिये हैं इसलिये और वह नूतन कर्म-

---

[1] प्रशांतात्मा=प्रशांतस्वरूप; प्रशांतमूर्ति; उपशांत; स्थिर हुआ।

[2] स्वरूपमंथर=स्वरूपमें जमा हुआ [मन्थरका अर्थ है सुस्त, आलसी। यह श्रमण स्वरूपमें तृप्त तृप्त होनेसे मानो वह स्वरूपसे बाहर निकलनेको सुस्त या आलसी हो, इस प्रकार स्वरूपप्रशांतिमें मग्न होकर रहा है।

अयथाचरणहीन, सूत्र-अर्थसुनिश्चयी उमशांत जे,
ते पूर्ण साधु अफल आ संसारमां चिर नहि रहे ।। २७२ ।।

यस्त्रिलोकचूलिकायमाननिर्मलविवेकदीपिकालोकशालितया यथावस्थितपदार्थनिश्चयनिवर्तितौत्सुक्यस्वरूपमन्थरसततोपशान्तात्मा सन् स्वरूपमेकमेवाभिमुख्येन चरन्नयथाचारवियुक्तो नित्यं ज्ञानी स्यात्, स खलु संपूर्णश्रामण्यः साक्षात् श्रमणो हेलावकीर्णसकलप्राक्तनकर्मफलत्वादनिष्पादितनूतनकर्मफलत्वाच्च पुनः प्राणधारणदैन्यमनास्कन्दन् द्वितीयभावपरावर्ताभावात् शुद्धस्वभावावस्थितवृत्तिर्मोक्षतत्त्वमवबुध्यताम् ॥ २७२ ॥

अथ मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वमुद्घाटयति—

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं ।
विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्धा त्ति णिद्दिट्ठा ॥ २७३ ॥

सम्यग्विदितपदार्थास्त्यक्त्वोपधिं बहिस्थमध्यस्थम् ।
विषयेषु नावसक्ता ये ते शुद्धा इति निर्दिष्टाः ॥ २७३ ॥

बहुतरकालं न जीवति, न तिष्ठति । क्व । अफले शुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वादरहितत्वेनाफले फलरहिते संसारे । किन्तु शीघ्रं मोक्षं गच्छतीति । अयमत्र भावार्थः—इत्थंभूतमोक्षतत्त्वपरिणतपुरुष एवाभेदेन मोक्षस्वरूपं ज्ञातव्यमिति ॥ २७२ ॥ अथ मोक्षकारणमाख्याति—**सम्मं विदिदपदत्था** संशयविपर्ययानध्यवसायरहितानन्तज्ञानादिस्वभावनिजपरमात्मपदार्थप्रभृतिसमस्तवस्तुविचारचतुरचित्तचातुर्यप्रकाशमानसातिशयपरमविवेकज्योतिषा सम्यग्विदितपदार्थाः । पुनरपि किंरूपाः । **विसयेसु णावसत्ता** पञ्चेन्द्रियविषयाधीनरहितत्वेन निजात्मतत्त्वभावनारूपपरमसमाधि-

---

फलोंको उत्पन्न नहीं करता इसलिये पुनः प्राणधारणरूप दीनताको प्राप्त न होता हुआ द्वितीय भावरूप परावर्तनके अभावके कारण शुद्धस्वभावमें [1]अवस्थित वृत्तिवाला रहता है ॥ २७२ ॥

अब मोक्षतत्वका साधनतत्व प्रगट करते हैं :-

गाथा २७३

अन्वयार्थ :—[सम्यग्विदितपदार्थाः] सम्यक् (यथार्थतया) पदार्थोंको जानते हुए [ये] जो [बहिस्थमध्यस्थम्] बहिरंग तथा अंतरंग [उपधिं] परिग्रहको

---

[1] अवस्थित=स्थिर, [इस संपूर्ण श्रामण्यवाले जीवको अन्यभावरूप परावर्तन (पलटन) नहीं होता, वह सदा एक ही भावरूप रहता है—शुद्ध स्वभावमें स्थिर परिणतिरूपसे रहता है; इसलिये वह जीव मोक्षतत्त्व ही है।]

जाणी यथार्थ पदार्थने, तजी संग अंतर्बाह्यने,
आसक्त नहि विषयो विषे जे, 'शुद्ध' भाख्या तेमने ॥ २७३ ॥

अनेकान्तकलितसकलज्ञातृज्ञेयतत्त्वयथावस्थितस्वरूपपाण्डित्यशौण्डाः सन्तः समस्तबहिरङ्गान्तरङ्गसङ्गतिपरित्यागविविक्तान्तश्चकचकायमानानन्तशक्तिचैतन्यभास्वरात्मतत्त्वस्वरूपाः स्वरूपगुप्तसुषुप्तकल्पान्तस्तत्त्ववृत्तितया विषयेषु मनागप्यासक्तिमनासादयन्तः समस्तानुभाववन्तो भगवन्तः शुद्धा एवासंसारघटितविकटकर्मकवाटविघटनपटीयसाध्यवसायेन प्रकटीक्रियमाणावदाना मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वमवबुध्यताम् ।। २७३ ।।

अथ मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वं सर्वमनोरथस्थानत्वेनाभिनन्दयति –

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं ।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स ।। २७४ ।।

शुद्धस्य च श्रामण्यं भणितं शुद्धस्य दर्शनं ज्ञानम् ।
शुद्धस्य च निर्वाणं स एव सिद्धो नमस्तस्मै ।। २७४ ।।

संजातपरमानन्दैकलक्षणसुखसुधारसास्वादानुभवबलेन विषयेषु मनागप्यनासक्ताः । किं कृत्वा । पूर्वं स्वस्वरूपपरिग्रहं स्वीकारं कृत्वा, **चत्ता** त्यक्त्वा । कम् । **उवहिं** उपधिं परिग्रहम् । किंविशिष्टम् । **बहित्थमज्झत्थं** बहिस्थं क्षेत्रवास्त्वाद्यनेकविधं मध्यस्थं मिथ्यात्वादिचतुर्दशभेदभिन्नम् । **जे** एवंगुणविशिष्टाः ये महात्मानः **ते सुद्ध त्ति णिद्दिट्ठा** ते शुद्धाः शुद्धोपयोगिनः इति निर्दिष्टाः कथिताः । अनेन व्याख्यानेन किमुक्तं भवति – इत्थंभूताः परमयोगिन एवाभेदेन मोक्षमार्ग इत्यवबोद्धव्यम् ।।२७३।।

[त्यक्त्वा] छोड़कर **[विषयेषु न अवसक्ताः]** विषयोंमें आसक्त नहीं हैं, **[ते]** वे **[शुद्धाः इति निर्दिष्टाः]** 'शुद्ध' कहे गये हैं ।

टीका :– अनेकान्तके द्वारा ज्ञात सकल ज्ञातृतत्व और ज्ञेयतत्वके यथास्थित स्वरूपमें जो प्रवीण हैं, अन्तरंगमें चकचकित होते हुए अनन्तशक्तिवाले चैतन्यसे भास्वर (तेजस्वी) आत्मतत्वके स्वरूपको जिनने समस्त बहिरंग तथा अन्तरंग संगतिके परित्यागसे विविक्त (भिन्न) किया है, और (इसलिये) अन्तःतत्वकी वृत्ति (आत्माकी परिणति) स्वरूप गुप्त तथा सुषुप्त (जैसे कि सो गया हो) समान (-प्रशांत) रहनेसे जो विषयोंमें किंचित् भी आसक्तिको प्राप्त नहीं होते, – ऐसे जो सकल-महिमावान् भगवन्त 'शुद्ध' (शुद्धोपयोगी) हैं उन्हें ही मोक्षतत्वका साधनतत्व जानना । (अर्थात् वे शुद्धोपयोगी ही मोक्षमार्गरूप हैं), क्योंकि वे अनादि संसार से रचित – बन्द

रे 'शुद्धने श्रामण्य भाख्युं, ज्ञान दर्शन शुद्धने, ।
छे शुद्धने निर्वाण, शुद्ध ज सिद्ध, प्रणमुं तेहने ।। २७४ ।।

यत्तावत्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रयौगपद्यप्रवृत्तैकाग्र्यलक्षणं साक्षान्मोक्षमार्गभूतं श्रामण्यं तच्च शुद्धस्यैव । यच्च समस्तभूतभवद्भाविव्यतिरेककरम्बितानन्तवस्त्वन्वयात्मकविश्वसामान्यविशेषप्रत्यक्षप्रतिभासात्मकं दर्शनं ज्ञानं च तत् शुद्धस्यैव । यच्च निःप्रतिघविजृम्भितसहजज्ञानानन्दमुद्रितदिव्यस्वभावं निर्वाणं तत् शुद्धस्यैव । यश्च टङ्कोत्कीर्णपरमानन्दावस्थासुस्थितात्मस्वभावोपलम्भगम्भीरो भगवान् सिद्धः स शुद्ध एव । अलं वाग्वि-

---

अथ शुद्धोपयोगलक्षणमोक्षमार्गं सर्वमनोरथस्थानत्वेन प्रदर्शयति – भणियं भणितम् । किम् । सामण्णं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यलक्षणंशत्रुमित्रादिसमभावपरिणतिरूपं साक्षान्मोक्षकारणं यच्छ्रामण्यम् । तत्तावत्कस्य । सुद्धस्स य शुद्धस्य च शुद्धोपयोगिन एव । सुद्धस्स दंसणं णाणं त्रैलोक्योदरविवरवर्तित्रिकालविषयसमस्तवस्तुगतानन्तधर्मैकसमयसामान्यविशेषपरिच्छित्तिसमर्थं यद्दर्शनज्ञानद्वयं तच्छुद्धस्यैव । सुद्धस्स य णिव्वाणं अव्याबाधानन्तसुखादिगुणाधारभूतं पराधीनरहितत्वेन स्वायत्तं यन्निर्वाणं तच्छुद्धस्यैव । सो च्चिय सिद्धो यो लौकिकमायाञ्जनरसदिग्विजयमन्त्रयन्त्रादिसिद्धविलक्षणः स्वशुद्धात्मोपलम्भलक्षणः टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावो ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मरहितत्वेन सम्यक्त्वाद्यष्टगुणान्तर्भूतानन्तगुणसहितः सिद्धो भगवान् स चैव शुद्धः एव । णमो तस्स निर्दोषिनिजपरमात्मन्या-

---

रहे हुए विकट कर्मकपाटको तोड़ने-खोलनेके अति उग्र प्रयत्नसे पराक्रम प्रगट कर रहे हैं ॥ २७३ ॥

अब मोक्षतत्वके साधनतत्वका (अर्थात् शुद्धोपयोगीका) सर्व मनोरथोंके स्थानके रूपमें अभिनन्दन (प्रशंसा) करते हैं :—

गाथा २७४

अन्वयार्थ :— [शुद्धस्य च] शुद्ध (शुद्धोपयोगी) को [श्रामण्यं भणितं] श्रामण्य कहा है, [शुद्धस्य च] और शुद्धको [दर्शनं ज्ञानं] दर्शन तथा ज्ञान कहा है, [शुद्धस्य च] शुद्धके [निर्वाणं] निर्वाण होता है; [सः एव] वही (शुद्ध ही) [सिद्धः] सिद्ध होता है; [तस्मै नमः] उसे नमस्कार हो।

टीका :—प्रथम तो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके युगपद्पनेरूपसे प्रवर्तमान एकाग्रता जिसका लक्षण है ऐसा जो साक्षात् मोक्षमार्गभूत श्रामण्य, 'शुद्ध' के ही होता है; समस्त भूत-वर्तमान-भावी व्यतिरेकोंके साथ मिलित (मिश्रित), अनन्त वस्तुओंका अन्वयात्मक जो विश्व उसके (१) सामान्य और (२) विशेषके प्रत्यक्ष प्रतिभासस्वरूप जो (१) दर्शन और (२) ज्ञान वे 'शुद्ध' के ही होते हैं; निर्विघ्न-खिले हुए सहज ज्ञानानन्दकी मुद्रावाला (स्वाभाविक ज्ञान और आनन्दकी छापवाला) दिव्य

स्तरेण, सर्वमनोरथस्थानस्य मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वस्य शुद्धस्य परस्परमङ्गाङ्गिभावपरिणतभाव्यभावकभावत्वात्प्रत्यस्तमितस्वपरविभागो भावनमस्कारोऽस्तु ।। २७४ ।।

अथ शिष्यजनं शास्त्रफलेन योजयन् शास्त्रं समापयति –

बुज्झदि सासणमेयं सागारणगारचरियया जुत्तो ।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि ।। २७५ ।।

बुध्यते शासनमेतत् साकारानाकारचर्यया युक्तः ।
यः स प्रवचनसारं लघुना कालेन प्राप्नोति ।। २७५ ।।

यो हि नाम सुविशुद्धज्ञानदर्शनमात्रस्वरूपव्यवस्थितवृत्तिसमाहितत्वात् साकारानाकारचर्यया युक्तः सन् शिष्यवर्गः स्वयं समस्तशास्त्रार्थविस्तरसंक्षेपात्मकश्रुतज्ञानोपयोगपूर्वकानुभावेन केवलमात्मानमनुभवन् शासनमेतद्बुध्यते स खलु निरवधित्रिसमयप्रवाहावस्थायित्वेन सकलार्थसार्थात्मकस्य प्रवचनस्य सारभूतं भूतार्थस्वसंवेद्यदिव्यज्ञानानन्दस्वभावमननुभूतपूर्वं भगवन्तमात्मानमवाप्नोति ॥ २७५ ॥

स शिष्यजनः कर्ता। कम्। पवयणसारं प्रवचनसारशब्दवाच्यं निजपरमात्मानम्। केन। लहुणा कालेण स्तोककालेन। यः किं करोति। जो बुज्झदि यः शिष्यजनो बुध्यते जानाति। किम्। सासणमेयं शास्त्रमिदं। किं नाम। पवयणसारं प्रवचनसारं,–सम्यग्ज्ञानस्य तस्यैव ज्ञेयभूतपरमात्मादिपदार्थानां तत्साध्यस्य निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानस्य च, तथैव तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यग्दर्शनस्य तद्विषयभूतानेकान्तात्मकपरमात्मादिद्रव्याणां तेन व्यवहारसम्यक्त्वेन साध्यस्य निजशुद्धात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वस्य च, तथैव च व्रतसमितिगुप्त्याद्यनुष्ठानरूपस्य सरागचारित्रस्य तेनैव साध्यस्य स्वशुद्धात्मनिश्चलानुभूतिरूपस्य वीतरागचारित्रस्य च प्रतिपादकत्वात्प्रवचनसाराभिधेयम्। कथंभूतः सः शिष्यजनः। सागारणगारचरियया जुत्तो सागारानागारचर्यया युक्तः। आभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानमुपादेयं कृत्वा बहिरङ्गरत्नत्रयानुष्ठानं सागारचर्या श्रावकचर्या। बहिरङ्गरत्नत्रयाधारेणाभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानमनागारचर्या प्रमत्तसंयतादितपोधनचर्येत्यर्थः ॥ २७५ ॥ इति गाथापञ्चकेन पञ्चरत्नसंज्ञ

[लघुना कालेन] अल्प कालमें ही [प्रवचनसारं]प्रवचनके सारको (भगवान आत्माको) [प्राप्नोति] पाता है।

टीका :– [1]सुविशुद्धज्ञानदर्शनमात्र स्वरूपमें अवस्थित परिणतिमें लगा होनेसे साकार-अनाकार चर्यासे युक्त वर्तता हुआ, जो शिष्यवर्ग स्वयं समस्त शास्त्रोंके अर्थोंके [2]विस्तारसंक्षेपात्मक श्रुतज्ञानोपयोगपूर्वक प्रभाव द्वारा केवल आत्माको अनुभवता हुआ, इस उपदेशको जानता है, वह वास्तवमें, [3]भूतार्थस्वसंवेद्य-दिव्य ज्ञानानन्द जिसका स्वभाव है, पूर्वकालमें कभी जिसका अनुभव नहीं किया, ऐसे भगवान आत्माको प्राप्त करता है – जो कि [जो आत्मा] तीनों कालके निरवधि प्रवाहमें स्थायी होनेसे [4]सकल पदार्थोंके समूहात्मक प्रवचनका सारभूत है ॥ २७५ ॥

---

[1] आत्माका स्वरूप मात्र सुविशुद्ध ज्ञान और दर्शन है। [इनमें, ज्ञान साकार है और दर्शन [illegible]]

[2] विस्तारसंक्षेपात्मक=विस्तारात्मक या संक्षेपात्मक।

[3] भूतार्थ=पारमार्थिक-(सत्यार्थ), स्वसंवेद्य और दिव्य [illegible]

[4] प्रवचन सकल पदार्थोंके समूहका प्रतिपादन करता है, इसलिये उसे [illegible] भगवान आत्मा प्रवचनका सारभूत है, क्योंकि प्रवचन जो [illegible] पदार्थ ही स्वयंको शुद्ध है, दूसरा कोई पदार्थ स्वयंको शुद्ध नहीं।]

卐 परिशिष्ट 卐

सैंतालीस नय

ननु कोऽयमात्मा कथं चावाप्यत इति चेत्, अभिहितमेतत् पुनरप्यभिधीयते। आत्मा हि तावच्चैतन्यसामान्यव्याप्तानन्तधर्माधिष्टात्रेकं द्रव्यमनन्तधर्मव्यापकानन्तनयव्याप्येकश्रुतज्ञानलक्षणप्रमाणपूर्वकस्वानुभवप्रमीयमाणत्वात्। तत्तु द्रव्यनयेन पटमात्रवच्चिन्मात्रम् १। पर्यायनयेन तन्तुमात्रवद्दर्शनज्ञानादिमात्रम् २। अस्तित्वनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थलक्ष्योन्मुखविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्तित्ववत् ३।

अत्राह शिष्यः—परमात्मद्रव्यं यद्यपि पूर्वं बहुधा व्याख्यातम्, तथापि संक्षेपेण पुनरपि कथ्यतामिति। भगवानाह—केवलज्ञानाद्यनन्तगुणानामाधारभूतं यत्तदात्मद्रव्यं भण्यते। तस्य च नयैः प्रमाणेन च परीक्षा क्रियते। तद्यथा—एतावत् शुद्धनिश्चयनयेन निरुपाधिस्फटिकवत्समस्तरागादिविकल्पोपाधिरहितम्। तदेवाशुद्धनिश्चयनयेन सोपाधिस्फटिकवत्समस्तरागादिविकल्पोपाधिसहितम्।

[अब टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव परिशिष्टरूपसे कुछ कहते हैं:—]

'यह आत्मा कौन है (कैसा है) और कैसे प्राप्त किया जाता है' ऐसा प्रश्न किया किया जाय तो इसका उत्तर (पहले ही) कहा जा चुका है और (यहाँ) पुनः कहते हैं:—

प्रथम तो, आत्मा वास्तवमें चैतन्यसामान्यसे व्याप्त अनन्त धर्मोंका अधिष्ठाता (स्वामी) एक द्रव्य है, क्योंकि अनन्त धर्मोंमें व्याप्त होनेवाले जो अनन्त नय हैं उनमें व्याप्त होनेवाला जो एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण है, उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभवसे (वह आत्मद्रव्य) प्रमेय होता है (ज्ञात होता है)।

वह आत्मद्रव्य द्रव्यनयसे, पटमात्रकी भाँति, चिन्मात्र है (अर्थात् आत्मा द्रव्यनयसे चैतन्यमात्र है, जैसे वस्त्र वस्त्रमात्र है तदनुसार।) १.

आत्मद्रव्य पर्यायनयसे, तंतुमात्रकी भाँति, दर्शनज्ञानादिमात्र है (अर्थात् आत्मा पर्यायनयसे दर्शनज्ञानचारित्रादिमात्र है, जैसे वस्त्र तंतुमात्र है।) २.

आत्मद्रव्य अस्तित्वनयसे स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे अस्तित्ववाला है; — लोहमय, डोरी और धनुषके मध्य में स्थित, संधानदशामें रहे हुए, और लक्ष्योन्मुख बाणकी भाँति। (जैसे कोई बाण स्वद्रव्यसे लोहमय है, स्वक्षेत्रसे डोरी और धनुषके मध्यमें स्थित है, स्वकालसे संधान-दशामें है, अर्थात् धनुष पर चढ़ाकर खैंची हुई दशामें है, और स्वभावसे लक्ष्योन्मुख है अर्थात् निशान की ओर है, उसीप्रकार आत्मा अस्तित्वनयसे

नास्तित्वनयेनानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत्-परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्नास्तित्ववत् ४। अस्तित्वनास्तित्वनयेनायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् क्रमतः स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्तित्वनास्तित्ववत् ५। अवक्तव्यनयेनायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरवक्तव्यम् ६।

शुद्धसद्भूतव्यवहारनयेन शुद्धस्पर्शरसगन्धवर्णानामाधारभूतपुद्गलपरमाणुवत्केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतम्। तदेवाशुद्धसद्भूतव्यवहारनयेनाशुद्धस्पर्शरसगन्धवर्णानामाधारभूतद्व्यणुकादिस्कन्ध-

---

स्वचतुष्टयसे अस्तित्ववाला है।) ३.

आत्मद्रव्य नास्तित्वनयसे परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे नास्तित्ववाला है; – अलोहमय, डोरी और धनुषके मध्यमें नहीं स्थित, संधानदशामें न रहे हुए और अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहलेके बाणकी भाँति। (जैसे पहले का बाण अन्य बाणके द्रव्यकी अपेक्षासे अलोहमय है, अन्य बाणके क्षेत्रकी अपेक्षासे डोरी और धनुषके मध्यमें स्थित नहीं है, अन्य बाणके कालकी अपेक्षासे संधानदशामें नहीं रहा हुआ और अन्य बाणके भावकी अपेक्षासे अलक्ष्योन्मुख है, उसीप्रकार आत्मा नास्तित्वनयसे परचतुष्टयसे नास्तित्ववाला है।) ४.

आत्मद्रव्य अस्तित्वनास्तित्वनयसे क्रमशः स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे अस्तित्वनास्तित्ववाला है; – लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुषके मध्यमें स्थित तथा डोरी और धनुषके मध्यमें नहीं स्थित, संधान अवस्थामें रहे हुए तथा संधान अवस्थामें न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहलेके बाणकी भाँति। (जैसे पहलेका बाण क्रमशः स्वचतुष्टयकी तथा परचतुष्टयकी अपेक्षासे लोहमयादि और अलोहमयादि है, उसीप्रकार आत्मा अस्तित्व-नास्तित्वनयसे क्रमशः स्वचतुष्टय और परचतुष्टयकी अपेक्षासे अस्तित्ववाला और नास्तित्ववाला है।) ५.

आत्मद्रव्य अवक्तव्यनयसे युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे अवक्तव्य है; – लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुषके मध्यमें स्थित तथा डोरी और धनुषके मध्यमें नहीं स्थित, संधान अवस्थामें रहे हुए तथा संधान अवस्थामें न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहलेके बाणकी भाँति। (जैसे पहले का बाण युगपत् स्व-

अस्तित्वावक्तव्यनयेनायोमयगुणकार्मुकांतरालवर्तिसंहितावस्थलक्ष्योन्मुखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चास्तित्ववदवक्तव्यम् ७। नास्तित्वावक्तव्यनयेनानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मु-

---

वन्मतिज्ञानादिविभावगुणानामाधारभूतम्। अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन द्व्यणुकादिस्कन्धेषु संश्लेशबन्धस्थितपुद्गलपरमाणुवत्परमौदारिकशरीरे वीतरागसर्वज्ञवद्वा विवक्षितैकदेहस्थितम्।

चतुष्टयकी और परचतुष्टयकी अपेक्षासे युगपत् लोहमयादि तथा अलोहमयादि होनेसे अवक्तव्य है, उसीप्रकार आत्मा अवक्तव्यनयसे युगपत् स्वचतुष्टय और परचतुष्टयकी अपेक्षासे अवक्तव्य है।) ६.

आत्मद्रव्य अस्तित्व-अवक्तव्य नयसे स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे तथा युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे अस्तित्ववाला-अवक्तव्य है: – (स्वचतुष्टयसे) लोहमय, डोरी और धनुषके मध्यमें स्थित, संधान अवस्थामें रहे हुए और लक्ष्योन्मुख ऐसे तथा (युगपत् स्व-परचतुष्टयसे) लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुषके मध्यमें स्थित तथा डोरी और धनुषके मध्यमें नहीं स्थित, संधान अवस्थामें रहे हुए तथा संधान अवस्थामें रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहलेके बाण की भांति। [जैसे पहलेका बाण (१) स्वचतुष्टयसे तथा (२) एक ही साथ स्वपरचतुष्टयकी अपेक्षासे (१) लोहमयादि तथा (२) अवक्तव्य है, उसीप्रकार आत्मा अस्तित्व-अवक्तव्यनयसे (१) स्वचतुष्टयकी तथा (२) युगपत् स्वपरचतुष्टयकी अपेक्षासे (१) अस्तित्ववाला तथा (२) अवक्तव्य है।] ७.

आत्मद्रव्य नास्तित्व-अवक्तव्यनयसे परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे तथा युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे नास्तित्ववाला-अवक्तव्य है: – (परचतुष्टयसे) अलोहमय, डोरी और धनुषके मध्यमें नहीं स्थित, संधान अवस्थामें न रहे हुए और अलक्ष्योन्मुख ऐसे तथा (युगपत् स्वपरचतुष्टयसे) लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुषके मध्यमें स्थित तथा डोरी और धनुषके मध्यमें नहीं स्थित, संधान अवस्थामें रहे हुए तथा संधान अवस्थामें न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहलेके बाणकी भांति। [जैसे पहलेका बाण (१) परचतुष्टयकी तथा (२) एक ही साथ स्वपरचतुष्टयकी अपेक्षासे (१) अलोहमयादि तथा (२) अवक्तव्य है, उसीप्रकार

फलवदव्यापि १७ । नित्यनयेन नटवदवस्थायि १८ । अनित्यनयेन रामरावणवदनवस्थायि १९ । सर्वगतनयेनविस्फारिताक्षचक्षुर्वत्सर्ववर्ति २० । असर्वगतनयेन मीलिताक्षचक्षुर्वदात्मवर्ति २१ । शून्यनयेन शून्यागारवत्केवलोद्भासि २२ । अशून्यनयेन लोकाक्रांतनौवन्मिलितोद्भासि २३ । ज्ञानज्ञेयाद्वैतनयेन महदिन्धनभारपरिणतधूमकेतुवदेकम् २४ ।

कथ्यताम् । भगवानाह – सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातरागाद्युपाधिरहितपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादानुभवमलभमानः सन् पूर्णमासीदिवसे जलकल्लोलक्षुभितसमुद्र इव रागद्वेषमोहकल्लोलैर्यावद-

---

आत्मद्रव्य विशेषनयसे, उसके एक मोतीकी भाँति, अव्यापक है (अर्थात् आत्मा विशेषनयसे अव्यापक है, जैसे पूर्वोक्त मालाका एक मोती सारी मालामें अव्यापक है ।) १७.

आत्मद्रव्य नित्यनयसे, नटकी भाँति, अवस्थायी है (अर्थात् आत्मा नित्यनयसे नित्य-स्थायी है, जैसे राम-रावणरूप अनेक अनित्य स्वांग धारण करता हुआ भी नट तो वहका वही नित्य है ।) १८.

आत्मद्रव्य अनित्यनयसे, राम-रावणकी भाँति, अनवस्थायी है (अर्थात् आत्मा अनित्यनयसे अनित्य है, जैसे नटके द्वारा धारण किये गये राम-रावणरूप स्वांग अनित्य हैं ।) १९.

आत्मद्रव्य सर्वगतनयसे, खुली हुई आँखकी भाँति, सर्ववर्ती (सबमें व्याप्त होनेवाला) है । २०.

आत्मद्रव्य असर्वगतनयसे, मींची हुई (बन्द) आँखकी भाँति, आत्मवर्ती (अपनेमें रहनेवाला) है । २१.

आत्मद्रव्य शून्यनयसे, शून्य (खाली) घरकी भाँति, एकाकी (अमिलित) भासित होता है । २२.

आत्मद्रव्य अशून्यनयसे, लोगोंसे भरे हुए जहाजकी भाँति, मिलित भासित होता है । २३.

आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनयसे (ज्ञान और ज्ञेयके अद्वैतरूप नयसे), महान ईंधनसमूहरूप परिणत अग्निकी भाँति, एक है । २४.

ज्ञानज्ञेयद्वैतनयेन परप्रतिविम्बसंपृक्तदर्पणवदनेकम् २५। नियतिनयेन नियमितौष्ण्यवह्निवन्नियतस्वभावभासि २६। अनियतिनयेन नियत्यनियमितौष्ण्यपानीयवदनियतस्वभावभासि २७। स्वभावनयेनानिशिततीक्ष्णकण्टकवत्संस्कारानर्थक्यकारि २८। अस्वभावनयेनायस्कारनिशिततीक्ष्णविशिखवत्संस्कारसार्थक्यकारि २९। कालनयेन निदाघदिवसानुसारिपच्यमानसहकारफलवत्समयायत्तसिद्धिः ३०। अकालनयेन कृत्रिमोष्मपाच्यमा-

---

स्वस्थरूपेण क्षोभं गच्छत्ययं जीवस्तावत्कालं निजशुद्धात्मानं न प्राप्नोति इति। स एव वीतरागसर्वज्ञप्रणीतोपदेशात् एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तमनुष्यदेशकुलरूपेन्द्रियपटुत्वनिर्व्याध्या-

---

आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेयद्वैतनयसे, परके प्रतिबिंबोंसे संपृक्त दर्पणकी भाँति, अनेक है (अर्थात् आत्मा ज्ञान और ज्ञेयके द्वैतरूपनयसे अनेक है, जैसे पर-प्रतिबिम्बोंके संगवाला दर्पण अनेकरूप है।) २५.

आत्मद्रव्य नियतिनयसे नियतस्वभावरूप भासित होता है, जिसकी उष्णता नियमित (नियत) होती है ऐसी अग्निकी भाँति। [आत्मा नियतिनयसे नियतस्वभाववाला भासित होता है, जैसे अग्निके उष्णताका नियम होनेसे अग्नि नियतस्वभाववाली भासित होती है।] २६.

आत्मद्रव्य अनियतनयसे अनियतस्वभावरूप भासित होता है, जिसके उष्णता नियति (नियम) से नियमित नहीं है ऐसे पानीकी भाँति। [आत्मा अनियतिनयसे अनियतस्वभाववाला भासित होता है, जैसे पानीके (अग्निके निमित्तसे होनेवाली) उष्णता अनियत-होनेसे पानी अनियतस्वभाववाला भासित होता है] २७.

आत्मद्रव्य स्वभावनयसे संस्कारको निरर्थक करनेवाला है (अर्थात् आत्माको स्वभावनयसे संस्कार निरुपयोगी है), जिसकी किसीसे नोक नहीं निकाली जाती (किन्तु जो स्वभावसे ही नुकीला है) ऐसे पैने कांटेकी भाँति। २८.

आत्मद्रव्य अस्वभावनयसे संस्कारको सार्थक करनेवाला है (अर्थात् आत्माको अस्वभावनयसे संस्कार उपयोगी है), जिसकी (स्वभावसे नोक नहीं होती, किन्तु संस्कार करके लुहारके द्वारा नोक निकाली गई हो ऐसे पैने बाणकी भाँति। २९.

आत्मद्रव्य कालनयसे जिसकी सिद्धि समयपर आधार रखती है ऐसा है, गर्मीके दिनोंके अनुसार पकनेवाले आम्रफलकी भाँति। [कालनयसे आत्मद्रव्यकी सिद्धि समय-

नसहकारफलवत्समयानायत्तसिद्धिः ३१। पुरुषकारनयेन पुरुषकारोपलब्धमधुकुक्कुटीकपुरुषकारवादिवद्यत्नसाध्यसिद्धिः ३२। दैवनयेन पुरुषकारवादिदत्तमधुकुक्कुटीगर्भलब्धमाणिक्यदैववादिवदयत्नसाध्यसिद्धिः ३३। ईश्वरनयेन धात्रीहटावलेह्यमानपान्थबालकवत्पारतन्त्र्यभोक्तृ ३४। अनीश्वरनयेन स्वच्छन्ददारितकुरङ्गकण्ठीरववत्स्वातन्त्र्यभोक्तृ ३५। गुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारकवद्गुणग्राहि ३६। अगुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारकाध्यक्षवत् केवलमेव साक्षि ३७। कर्तृनयेन रञ्जकवद्रागादिपरिणामकर्तृ ३८।

युष्यवरबुद्धिसद्धर्मश्रवणग्रहणधारणश्रद्धानसंयमविषयसुखनिवर्तनक्रोधादिकषायव्यावर्तनादिपरंपरादुर्ल-

पर आधार रखती है, गर्मीके दिनोंके अनुसार पकनेवाले आमकी भाँति।] ३०.

आत्मद्रव्य अकालनयसे जिसकी सिद्धि समयपर आधार नहीं रखती ऐसा है, कृत्रिम गर्मीसे पकाये गये आम्रफलकी भाँति। ३१.

आत्मद्रव्य पुरुषकारनयसे जिसकी सिद्धि यत्नसाध्य है ऐसा है, जिसे पुरुषकारसे [1]नीबूका वृक्ष प्राप्त होता है (-उगता है) ऐसे पुरुषकारवादीकी भाँति। [पुरुषार्थनयसे आत्माकी सिद्धि प्रयत्नसे होती है, जैसे किसी पुरुषार्थवादी मनुष्यको पुरुषार्थसे नीबूका वृक्ष प्राप्त होता है।] ३२.

आत्मद्रव्य दैवनयसे जिसकी सिद्धि अयत्नसाध्य है (-यत्न विना होता है) ऐसा है; पुरुषकारवादी द्वारा प्रदत्त नीबूके वृक्षके भीतरसे जिसे (विना यत्नके, दैवसे) माणिक प्राप्त हो जाता है ऐसे दैववादी की भाँति। ३३.

आत्मद्रव्य ईश्वरनयसे परतंत्रता भोगनेवाला है, धायकी दुकानपर दूध पिलाये जानेवाले राहगीरके बालककी भाँति। ३४.

आत्मद्रव्य अनीश्वरनयसे स्वतंत्रता भोगनेवाला है, हिरनको स्वच्छन्दता (स्वतन्त्रता, स्वेच्छा) पूर्वक फाड़कर खा जानेवाले सिंहकी भाँति। ३५.

आत्मद्रव्य गुणीनयसे गुणग्राही है, शिक्षकके द्वारा जिसे शिक्षा दी जाती है ऐसे कुमारकी भाँति। ३६.

आत्मद्रव्य अगुणीनयसे केवल साक्षी ही है (-गुणग्राही नहीं है), जिसे शिक्षकके द्वारा शिक्षा दी जारही है ऐसे कुमारको देखनेवाले पुरुष (-प्रेक्षक) की भाँति। ३७.

[1] संस्कृत टीकामें 'मधुकुक्कटी' शब्द है, जिसका अर्थ यहाँ 'नीबूका वृक्ष' किया है; किन्तु हिन्दी टीकामें श्री पांडे हेमराजजीने 'मधुछत्ता' अर्थ किया है।

अकर्तृनयेन स्वकर्मप्रवृत्तरञ्जकाध्यक्षवत्केवलमेव साक्षि ३९ । भोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधितवत्सुखदुःखादिभोक्तृ ४० । अभोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधिताध्यक्षधन्वन्तरिचरवत् केवलमेव साक्षि ४१ । क्रियानयेन स्थाणुभिन्नमूर्धजातदृष्टिलब्धनिधानान्धवदनुष्ठानप्राधान्यसाध्यसिद्धिः ४२ । ज्ञाननयेन चणकमुष्टिक्रीतचिन्तामणिगृहकोणवाणिजवद्विवेकप्राधान्यसाध्यसिद्धिः ४३ । व्यवहारनयेन बन्धकमोचकपरमाण्वन्तरसंयुज्य-

---

भान्यपि कथंचित्काकतालीयन्यायेनावाप्य सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक-

---

आत्मद्रव्य कर्तृनयसे, रंगरेजकी भाँति, रागादि परिणामका कर्ता है (अर्थात् आत्मा कर्तानयसे रागादिपरिणामोंका कर्ता है, जैसे रंगरेज रंगनेके कार्यका कर्ता है ।) ३८.

आत्मद्रव्य अकर्तृनयसे केवल साक्षी ही है (–कर्ता नहीं), अपने कार्यमें प्रवृत्त रंगरेजको देखनेवाले पुरुष (प्रेक्षक) की भाँति । ३९.

आत्मद्रव्य भोक्तृनयसे सुखदुःखादिका भोक्ता है, हितकारी – अहितकारी अन्नको खानेवाले रोगीकी भाँति । [आत्मा भोक्तानयसे सुखदुःखादिको भोगता है, जैसे हितकारक या अहितकारक अन्नको खानेवाला रोगी सुख या दुःखको भोगता है ।] ४०.

आत्मद्रव्य अभोक्तृनयसे केवल साक्षी ही है, हितकारी-अहितकारी अन्नको खानेवाले रोगीको देखनेवाले वैद्यकी भाँति । [आत्मा अभोक्तानयसे केवल साक्षी ही है – भोक्ता नहीं; जैसे सुख-दुःखको भोगनेवाले रोगीको देखनेवाला वैद्य वह तो केवल साक्षी ही है ।] ४१.

आत्मद्रव्य क्रियानयसे अनुष्ठानकी प्रधानतासे सिद्धि सधे ऐसा है, खम्भेसे सिर फूट जाने पर दृष्टि उत्पन्न होकर जिसे निधान प्राप्त हो जाय ऐसे अंधेकी भाँति । [क्रियानयसे आत्मा अनुष्ठानकी प्रधानतासे सिद्धि हो ऐसा है; जैसे किसी अंधपुरुषको पत्थरके खम्भेके साथ सिर फोड़नेसे सिरके रक्तका विकार दूर होनेसे आँखें खुल जायें और निधान प्राप्त हो, उस प्रकार ।] ४२.

आत्मद्रव्य ज्ञाननयसे विवेककी प्रधानतासे सिद्धि सधे ऐसा है, मुट्ठीभर चने देकर चिंतामणि–रत्न खरीदनेवाले घरके कोनेमें बैठे हुए व्यापारीकी भाँति । [ज्ञाननयसे आत्माको विवेककी प्रधानतासे सिद्धि होती है, जैसे घरके कोनेमें बैठा हुआ व्यापारी मुट्ठीभर चना देकर चिंतामणि-रत्न खरीद लेता है, उस प्रकार ।] ४३.

मानवियुज्यमानपरमाणुवद्बन्धमोक्षयोर्द्वैतानुवर्ति ४४। निश्चयनयेन केवलबध्यमानमुच्यमानबन्धमोक्षोचितस्निग्धरूक्षत्वगुणपरिणतपरमाणुवद्बन्धमोक्षयोरद्वैतानुवर्ति ४५। अशुद्धनयेन घटशरावविशिष्टमृण्मात्रवत्सोपाधिस्वभावम् ४६। शुद्धनयेन केवलमृण्मात्रवन्निरुपाधिस्वभावम् ४७। तदुक्तम् – "जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा। जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया ॥" "परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होदि सव्वहा वयणा। जइणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचि वयणादो ॥" एवमनया दिशा

श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातरागाद्युपाधिरहितपरमानन्दैकलक्षण-

---

आत्मद्रव्य व्यवहारनयसे बंध और मोक्षमें [1]द्वैतका अनुसरण करनेवाला बंधक है, (बंध करनेवाले) और मोचक (मुक्त करनेवाले) ऐसे अन्य परमाणुके साथ संयुक्त होनेवाले और उससे वियुक्त होनेवाले परमाणुकी भाँति। [व्यवहारनयसे आत्मा बंध और मोक्षमें (पुद्गलके साथ) द्वैतको प्राप्त होता है, जैसे परमाणुके बंधमें वह परमाणु अन्य परमाणुके साथ संयोगको पानेरूप द्वैतको प्राप्त होता है और परमाणुके मोक्षमें वह परमाणु अन्य परमाणुसे पृथक् होनेरूप द्वैतको पाता है, उस प्रकार।] ४४.

आत्मद्रव्य निश्चयनयसे बंध और मोक्षमें अद्वैतका अनुसरण करनेवाला है, अकेले बध्यमान और मुच्यमान ऐसे बंधमोक्षोचित स्निग्धत्वरूक्षत्वगुणरूप परिणत परमाणुकी भाँति। [निश्चयनयसे आत्मा अकेला ही बद्ध और मुक्त होता है, जैसे बंध और मोक्षके योग्य स्निग्ध या रूक्षत्वगुणरूप परिणमित होता हुआ परमाणु अकेला ही बद्ध और मुक्त होता है, उस प्रकार।] ४५.

आत्मद्रव्य अशुद्धनयसे, घट और रामपात्रसे विशिष्ट मिट्टी मात्रकी भाँति, सोपाधिस्वभाववाला है। ४६.

आत्मद्रव्य शुद्धनयसे, केवल मिट्टी मात्रकी भाँति, निरुपाधिस्वभाववाला है। ४७.

इसलिए कहा है :–

जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया ॥

---

[1] द्वैत=द्वित्व, द्वैतपन, [व्यवहारनयसे आत्माके बन्धमें कर्मके साथके संयोगकी अपेक्षा आती है इसलिये द्वैत है और आत्माकी मुक्तिमें कर्मके वियोगकी अपेक्षा आती है इसलिये वहाँ भी द्वैत है।]

प्रत्येकमनन्तधर्मव्यापकानन्तनयैर्निरूप्यमाणमुदन्वदन्तरालमिलद्धवलनीलगाङ्गयामुनोदकभारवदनन्तधर्माणां परस्परमतद्भावमात्रेणाशक्यविवेचनत्वादमेचकस्वभावैकधर्मव्यापकैकधर्मित्वाद्यथोदितैकान्तात्मात्मद्रव्यम्। युगपदनन्तधर्मव्यापकानन्तनयव्याप्येकश्रुतज्ञानलक्षणप्रमाणेन निरूप्यमाणं तु समस्ततरङ्गिणीपयःपूरसमवायात्मकैकमकराकरवदनन्तधर्माणां

सुखामृतरसास्वादानुभवलाभे सत्यमावास्या दिवसे जलकल्लोलक्षोभरहितसमुद्र इव रागद्वेषमोहकल्लोल-

---

परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होदि सव्वहा वयणा।
जइणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचि वयणादो ॥

[अर्थ :— जितने [1]वचनपंथ हैं उतने वास्तवमें नयवाद हैं; और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय (पर मत) हैं।

परसमयों (मिथ्यामतियों) का वचन सर्वथा (अर्थात् अपेक्षा बिना) कहा जानेके कारण वास्तवमें मिथ्या है; और जैनोंका वचन कथंचित् (अर्थात् अपेक्षा सहित) कहा जाता है इसलिये वास्तवमें सम्यक् है।]

इसप्रकार इस (उपरोक्त) सूचनानुसार (अर्थात् ४७ नयोंमें समझाया है उस विधिसे) एक-एक धर्ममें एक-एक नय (व्यापे), इसप्रकार अनन्त धर्मोंमें व्यापक अनन्त नयोंसे निरूपण किया जाय तो, समुद्रके भीतर मिलनेवाले [2]श्वेत-नील गंगा-यमुनाके जलसमूहकी भाँति, अनन्तधर्मोंको परस्पर अतद्भावमात्रसे पृथक् करनेमें अशक्य होनेसे, आत्मद्रव्य [3]अमेचक स्वभाववाला, एक धर्ममें व्याप्त होनेवाला, एक धर्मी होनेसे यथोक्त एकान्तात्मक (एकधर्मस्वरूप) है। परन्तु युगपत् अनन्त धर्मोंमें व्यापक ऐसे अनन्त नयोंमें व्याप्त होनेवाला एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाणसे निरूपण किया जाय तो, समस्त नदियोंके जलसमूहके समवायात्मक (समुदायस्वरूप) एक समुद्रकी भाँति, अनन्त धर्मोंको वस्तुरूपसे पृथक् करना अशक्य होनेसे आत्मद्रव्य [4]मेचक स्वभाववाला, अनन्त धर्मोंमें व्याप्त होनेवाला, एक धर्मी होनेसे यथोक्त अनेकान्तात्मक (अनेकधर्मस्वरूप) है। [जैसे —

[1] वचनपंथ = वचनके प्रकार [illegible]

[2] [illegible]

[3] [illegible]

[4] [illegible]

वस्तुत्वेनाशक्यविवेचनत्वान्मेचकस्वभावानन्तधर्मव्याप्येकधर्मित्वात् यथोदितानेकान्तात्मात्मद्रव्यम् ।

❀ शालिनी छन्द ❀

स्यात्कारश्रीवासवश्यैर्नयौघैः
पश्यन्तीत्थं चेत् प्रमाणेन चापि ।
पश्यन्त्येव प्रस्फुटानन्तधर्म-
स्वात्मद्रव्यं शुद्धचिन्मात्रमन्तः ।। १९ ।।

इत्यभिहितमात्मद्रव्यमिदानीमेतदवाप्तिप्रकारोऽभिधीयते – अस्य तावदात्मनो नित्यमेवानादिपौद्गलिककर्मनिमित्तमोहभावनानुभावघूर्णितात्मवृत्तितया तोयाकरस्येवात्मन्येव क्षुभ्यतः क्रमप्रवृत्ताभिरनन्ताभिर्ज्ञप्तिव्यक्तिभिः परिवर्तमानस्य ज्ञप्तिव्यक्ति-

---

क्षोभरहितप्रस्तावे यदा निजशुद्धात्मस्वरूपे स्थिरो भवति तदा तदेव निजशुद्धात्मस्वरूपं प्राप्नोति ।।

एक समय नदीके जलको जाननेवाले ज्ञानांशसे देखा जाय तो समुद्र एक नदीके जलस्वरूपज्ञात होता है, उसीप्रकार एक समय एक धर्म को जाननेवाले एक नयसे देखा जाय तो आत्मा एक धर्म स्वरूप ज्ञात होता है; परन्तु जैसे एक ही साथ सर्व नदियोंके जलको जाननेवाले ज्ञानसे देखा जाय तो समुद्र सर्व नदियोंके जलस्वरूप ज्ञात होता है, उसीप्रकार एक ही साथ सर्वधर्मोंको जाननेवाले प्रमाणसे देखा जाय तो आत्मा अनेक धर्मस्वरूप ज्ञात होता है । इसप्रकार एक नयसे देखने पर आत्मा एकान्तात्मक है और प्रमाणसे देखने पर अनेकान्तात्मक है ।]

अब इसी आशयको काव्य द्वारा कहकर "आत्मा कैसा है" इस विषय का कथन समाप्त किया जाता हैं :]

[अर्थ :–] इसप्रकार स्यात्कारश्री (स्यात्काररूपी लक्ष्मी) के निवासके वशीभूत वर्तते नयसमूहोंसे (जीव) देखें तो भी और प्रमाणसे देखें तो भी स्पष्ट अनन्त धर्मोंवाले निज आत्मद्रव्यको भीतर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखते ही हैं ।

इस प्रकार आत्मद्रव्य कहा गया । अब उसकी प्राप्तिका प्रकार कहा जाता है :-

प्रथम तो, अनादि पौद्गलिक कर्म जिसका निमित्त है ऐसी मोहभावनाके (मोहके अनुभवके) प्रभावसे आत्मपरिणति सदा चक्कर खाती है, इसलिये यह आत्म

निमित्ततया ज्ञेयभूतासु वहिरर्थव्यक्तिषु प्रवृत्तमैत्रीकस्य शिथिलितात्मविवेकतयात्यन्तवहिर्मुखस्य पुनः पौद्गलिककर्मनिर्मापकरागद्वेषद्वैतमनुवर्तमानस्य दूरत एवात्मावाप्तिः। अथ यदा त्वयमेव प्रचण्डकर्मकाण्डोच्चण्डीकृताखण्डज्ञानकाण्डत्वेनानादिपौद्गलिककर्मनिर्मितस्य मोहस्य वध्यघातकविभागज्ञानपूर्वकविभागकरणात् केवलात्मभावानुभावनिश्चलीकृतवृत्तितया तोयाकर इवात्मन्येवातिनिष्प्रकम्पस्तिष्ठन् युगपदेव व्याप्यानन्ता ज्ञप्तिव्यक्तीरवकाशाभावान्न जातु विवर्तते, तदास्य ज्ञप्तिव्यक्तिनिमित्ततया ज्ञेयभूतासु वहिरर्थव्यक्तिषु न नाम मैत्री प्रवर्तते; ततः सुप्रतिष्ठितात्मविवेकतयात्यन्तमन्तर्मुखीभूतः पौद्गलिककर्मनिर्मापकरागद्वेषद्वैतानुवृत्तिदूरीभूतो दूरत एवाननुभूतपूर्वमपूर्वज्ञानानन्दस्वभावं भगवन्तमात्मानमवाप्नोति। अवाप्नोत्येव ज्ञानानन्दात्मानं जगदपि परमात्मानमिति ॥

समुद्रकी भाँति अपनेमें ही क्षुब्ध होता हुआ क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त [1]ज्ञप्तिव्यक्तियोंसे परिवर्तनको प्राप्त होता है, इसलिये ज्ञप्तिव्यक्तियोंके निमित्तरूप होनेसे जो ज्ञेयभूत हैं ऐसी बाह्यपदार्थव्यक्तियोंके प्रति उसकी मैत्री प्रवर्तती है, इसलिये आत्मविवेक शिथिल हुआ होनेसे अत्यन्त वहिर्मुख ऐसा वह पुनः पौद्गलिक कर्मके रचयिता रागद्वेषद्वैतरूप परिणमित होता है और इसलिये उसके आत्मप्राप्ति दूर ही है। परन्तु अब जब यही आत्मा प्रचण्ड कर्मकाण्ड द्वारा अखण्ड ज्ञानकाण्डको प्रचण्ड करनेसे अनादि-पौद्गलिक-कर्मरचित मोहको [2]वध्य-घातकके विभागज्ञानपूर्वक विभक्त करनेसे (स्वयं) केवल आत्मभावनाके [आत्मानुभवके] प्रभावसे परिणति निश्चल की होनेसे समुद्रकी भाँति अपनेमें ही अति निष्कंप रहता हुआ एक साथ ही [illegible] ज्ञप्तिव्यक्तियोंमें व्याप्त होकर अवकाशके अभावके कारण सर्वथा [illegible] [परिवर्तन] को प्राप्त नहीं होता, तब ज्ञप्तिव्यक्तियोंके निमित्तरूप होनेसे जो ज्ञेयभूत हैं ऐसी बाह्यपदार्थव्यक्तियोंके प्रति उसे वास्तवमें मैत्री नहीं प्रवर्तती और इसलिये [illegible] सुप्रतिष्ठित [illegible] हुआ होनेके कारण अत्यन्त अन्तर्मुख हुआ ऐसा यह [illegible] पौद्गलिक [illegible] रागद्वेषद्वैतरूप परिणतिसे दूर होता हुआ पूर्वमें [illegible] अपूर्व [illegible] स्वभावी भगवान् आत्माको [illegible] प्राप्त करता है। [illegible] नन्दात्मक परमात्माको अवश्य प्राप्त करो।

---

[1] [illegible]

[2] [illegible]

❀ मालिनी छन्द ❀

इति गदितमनीचैस्तत्त्वमुच्चावचं यत्,
चिति तदपि किलाभूत्कल्पमग्नौ हुतस्य ।
अनुभवतु तदुच्चैश्चिच्चिदेवाद्य यस्माद्,
अपरमिह न किंचित्तत्त्वमेकं परं चित् ॥ २२ ॥

समाप्तेयं तत्त्वदीपिका टीका ।

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां तात्पर्यवृत्तौ एवं पूर्वोक्तक्रमेण 'एस सुरासुर' इत्याद्येकोत्तरशतगाथापर्यन्तं सम्यग्ज्ञानाधिकारः, तदनन्तरं 'तम्हा तस्स णमाइं' इत्यादि त्रयोदशोत्तरशतगाथापर्यन्तं ज्ञेयाधिकारापरनामा सम्यक्त्वाधिकारः, तदनन्तरं 'एवं पणमिय सिद्धे' इत्यादि सप्तनवतिगाथापर्यन्तं चारित्राधिकारश्चेति महाधिकारत्रयेणैकादशाधिकत्रिशतगाथाभिः प्रवचनसारप्राभृतं समाप्तम् ॥

समाप्तेयं तात्पर्यवृत्तिः प्रवचनसारस्य ।

[अब काव्य द्वारा चैतन्यकी महिमा गाकर, वही एक अनुभव करने योग्य है ऐसी प्रेरणा करके, इस परम पवित्र परमागमकी पूर्णाहुति की जाती है :—]

[अर्थ :—] इसप्रकार [इस परमागममें] अमन्दरूपसे [बलपूर्वक, जोरशोरसे] जो थोड़ा-बहुत तत्व कहा गया है, वह सब चैतन्यमें वास्तवमें अग्निमें होमी गई वस्तुके समान [स्वाहा] हो गया है । [अग्निमें होमे गये घीको अग्नि खा जाती है, मानो कुछ होमा ही न गया हो ! उसीप्रकार अनन्त [illegible] चैतन्यका चाहे जितना वर्णन किया जाय तथापि मानो उस [illegible] चैतन्य खा जाता है; चैतन्यकी अनन्त महिमाके निकट [illegible] इसप्रकार तुच्छताको प्राप्त होता है ।] [illegible] अनुभव करो (अर्थात् उस चित्स्वरूप [illegible]) क्योंकि इस लोकमें दूसरा कुछ भी [illegible] ।

इसप्रकार [श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत [illegible] श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित] तत्त्वदीपिका [illegible] जेठालाल शाह कृत गुजराती अनुवादका [illegible] भाषानुवाद समाप्त हुआ ।

साधक जीवकी दृष्टि



अध्यात्ममें सदा निश्चयनय ही प्रधान है, उसीके आश्रयसे धर्म होता है। शास्त्रों में जहाँ विकारी पर्यायोंका व्यवहारनयसे कथन किया जावे वहाँ भी निश्चयनय को ही मुख्य और व्यवहारनयको गौण करनेका आशय है ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि पुरुषार्थ के द्वारा अपने में शुद्ध पर्यायको प्रगट करने अर्थात् विकारी पर्यायको टालने के लिये सदा निश्चयनय ही आदरणीय है। उस समय दोनों नयोंका ज्ञान होता है, किन्तु धर्मको प्रगट करनेके लिये दृष्टिमें दोनों नय कदापि आदरणीय नहीं हैं। व्यवहारनयके आश्रयसे कभी आंशिक धर्म भी नहीं होता, प्रत्युत उसके आश्रयसे रागद्वेषके विकल्प ही उठा करते हैं।

छहों द्रव्य, उनके गुण और उनकी पर्यायोंके स्वरूपका ज्ञान करानेके लिये कभी निश्चयनयकी मुख्यता और व्यवहारनयकी गौणता रखकर कथन किया जाता है, और कभी व्यवहारनयको मुख्य करके और निश्चयनयको गौण रखकर कथन किया जाता है। स्वयं विचार करे उसमें भी कभी निश्चयनयकी और कभी व्यवहारनयकी मुख्यता की जाती है। अध्यात्मशास्त्रमें भी जीवकी विकारी पर्याय जीव स्वयं करता है तो होती है, और वह जीवका अनन्य परिणाम है – इसप्रकार व्यवहारनयसे कहा या समझाया जाय, किन्तु उस प्रत्येक समयमें दृष्टिमें तो निश्चयनय एक ही मुख्य और आदरणीय है – ऐसा ज्ञानियोंका कथन है। शुद्धता प्रकट करनेके लिये कभी निश्चयनय आदरणीय होता है और कभी व्यवहारनय – ऐसा मानना भूल है। तीनों कालमें एकमात्र निश्चयनयके आश्रयसे ही धर्म प्रगट होता है – ऐसा समझना चाहिये।

साधक जीव प्रारंभसे अंत तक निश्चयकी ही मुख्यता रखकर व्यवहारको गौण ही करता जाता है, जिससे साधक दशामें निश्चयकी मुख्यताके बलसे साधकके शुद्धताकी वृद्धि ही होती जाती है और अशुद्धता टलती ही जाती है। इसप्रकार निश्चयकी मुख्यताके बलसे पूर्ण केवलज्ञान होने पर वहाँ मुख्यत्व गौणत्व नहीं होता और नय भी नहीं होते।

श्री प्रवचनसारकी वर्णानुक्रम गाथासूची

※ कलशकाव्योंकी वर्णानुक्रम सूची ※

[भजन]

परनति सब जीवन की, तीन भांति वरनी ।
एक पुण्य, एक पाप, एक राग हरनी ।। परनति० ।।
तामें शुभ-अशुभ अंध, दोय करै कर्म बंध ।
वीतराग परनति ही, भवसमुद्र तरनी ।। परनति० ।।
जावत शुद्धोपयोग, पावत नाहीं मनोग ।
तावत ही करन जोग, कही पुण्य करनी ।। परनति० ।।
त्याग शुभ क्रियाकलाप, करो मत कदाच पाप ।
न शुभ में मगन होय, शुद्धता बिसरनी ।। परनति० ।।
ऊँच-ऊँच दशा धारि, चित प्रमाद को बिडारि ।
ऊँचली दशातैं मत, गिरो अधो धरनी ।। परनति० ।।
'भागचंद' या प्रकार, जीव लहै सुख अपार ।
याके निरधार, स्याद्वाद की उचरनी ।। परनति० ।।

❊ कलशकाव्योंकी वर्णानुक्रम सूची ❊

[भजन]

परनति सब जीवन की, तीन भांति वरनी ।
एक पुण्य, एक पाप, एक राग हरनी ।। परनति० ।।
तामें शुभ-अशुभ अंध, दोय करै कर्म बंध ।
वीतराग परनति ही, भवसमुद्र तरनी ।। परनति० ।।
जावत शुद्धोपयोग, पावत नाहीं मनोग ।
तावत ही करन जोग, कही पुण्य करनी ।। परनति० ।।
त्याग शुभ क्रियाकलाप, करो मत कदाच पाप ।
न शुभ में मगन होय, शुद्धता बिसरनी ।। परनति० ।।
ऊँच-ऊँच दशा धारि, चित प्रमाद को बिडारि ।
ऊँचली दशातें मत, गिरो अधो धरनी ।। परनति० ।।
'भागचंद' या प्रकार, जीव लहै सुख अपार ।
याके निरधार, स्याद्वाद की उचरनी ।। परनति० ।।

❊ कलशकाव्योंकी वर्णानुक्रम सूची ❊

[भजन]

परनति सब जीवन की, तीन भांति वरनी ।
एक पुण्य, एक पाप, एक राग हरनी ।। परनति० ।।
तामें शुभ-अशुभ अंध, दोय करैं कर्म बंध ।
वीतराग परनति ही, भवसमुद्र तरनी ।। परनति० ।।
जावत शुद्धोपयोग, पावत नाहीं मनोग ।
तावत ही करन जोग, कही पुण्य करनी ।। परनति० ।।
त्याग शुभ क्रियाकलाप, करो मत कदाच पाप ।
न शुभ में मगन होय, शुद्धता बिसरनी ।। परनति० ।।
ऊँच-ऊँच दशा धारि, चित प्रमाद को विडारि ।
ऊँचली दशातैं मत, गिरो अधो धरनी ।। परनति० ।।
'भागचंद' या प्रकार, जीव लहै सुख अपार ।
याके निरधार, स्याद्वाद की उचरनी ।। परनति० ।।

※ कलशकाव्योंकी वर्णानुक्रम सूची ※

[भजन]

परनति सव जीवन की, तीन भांति वरनी ।
एक पुण्य, एक पाप, एक राग हरनी ।। परनति० ।।
तामें शुभ-अशुभ अंध, दोय करैं कर्म बंध ।
वीतराग परनति ही, भवसमुद्र तरनी ।। परनति० ।।
जावत शुद्धोपयोग, पावत नाहीं मनोग ।
तावत ही करन जोग, कही पुण्य करनी ।। परनति० ।।
त्याग शुभ क्रियाकलाप, करो मत कदाच पाप ।
न शुभ में मगन होय, शुद्धता बिसरनी ।। परनति० ।।
ऊँच-ऊँच दशा धारि, चित प्रमाद को बिडारि ।
ऊँचली दशातें मत, गिरो अधो धरनी ।। परनति० ।।
'भागचंद' या प्रकार, जीव लहै सुख अपार ।
याके निरधार, स्याद्वाद की उचरनी ।। परनति० ।।

※ कलशकाव्योंकी वर्णानुक्रम सूची ※

हमारे यहाँ प्राप्त प्रकाशन

	रु० पं०		रु०
समयसार	१२–००	मोक्षमार्ग प्रकाशक	५-
प्रवचनसार	१२–००	पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	१०-
पंचास्तिकाय	७–५०	तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	५--
नियमसार	५–५०	„ „ (पाकेट बुक साइज में हिन्दी में)	२--
समयसार नाटक	७–५०	मैं कौन हूँ ?	१–०
समयसार प्रवचन भाग १	४–५०	पंडित टोडरमल : जीवन और साहित्य	०–६
समयसार प्रवचन भाग २	४–५०	कविवर पं० बनारसीदास :	
समयसार प्रवचन भाग ३	५–००	जीवन और साहित्य	०–३
समयसार प्रवचन भाग ४	७–००	वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	३–०
आत्मावलोकन	३–००	अनेकान्त और स्याद्वाद	०–३
श्रावकधर्म प्रकाश	३–००	तीर्थंकर भगवान महावीर	०–४
छहढाला (सचित्र)	१–५०	वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	०–२
द्रव्य संग्रह	१–२०	सत्य की खोज [कथानक]	प्रेस मे
लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका	०–४०	अपने को पहचानिए	०–५०
प्रवचन परमागम	२–५०	पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक और	
धर्म की क्रिया	२–००	उसकी ग्यारह प्रतिमाएँ	०–३५
जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तर माला भाग १	१–५०	अर्चना (पूजन संग्रह)	०–४०
जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तर माला भाग २	१–५०	मैं ज्ञानानंद स्वाभावी हूं (कैलेंडर)	०–५०
जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तर माला भाग ३	१–५०	बालबोध पाठमाला भाग १	०–५०
तत्त्वज्ञान तरंगिणी	५–००	बालबोध पाठमाला भाग २	०–७०
अलिंग-ग्रहण प्रवचन	१–६०	बालबोध पाठमाला भाग ३	०–७०
अष्ट प्रवचन भाग २	१–५०	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १	०–७०
बालपोथी भाग १	०–२५	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग २	१–००
बालपोथी भाग २	०–४०	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग ३	१–००
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	३–००	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १	१–२५
जयपुर (खानियां) तत्त्वचर्चा भाग १ व २	३०–००	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २	१–२५
परमात्म पूजा संग्रह	२–००	सुन्दरलेख बालबोध पाठमाला भाग १	०–२५

---

* श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (भावनगर – गुजरात)

* पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४